वर्ष-12, अंक 45
जुलाई-सितम्बर 2025

तमसो मा ज्योतिर्गमय

ISSN 2347-6605

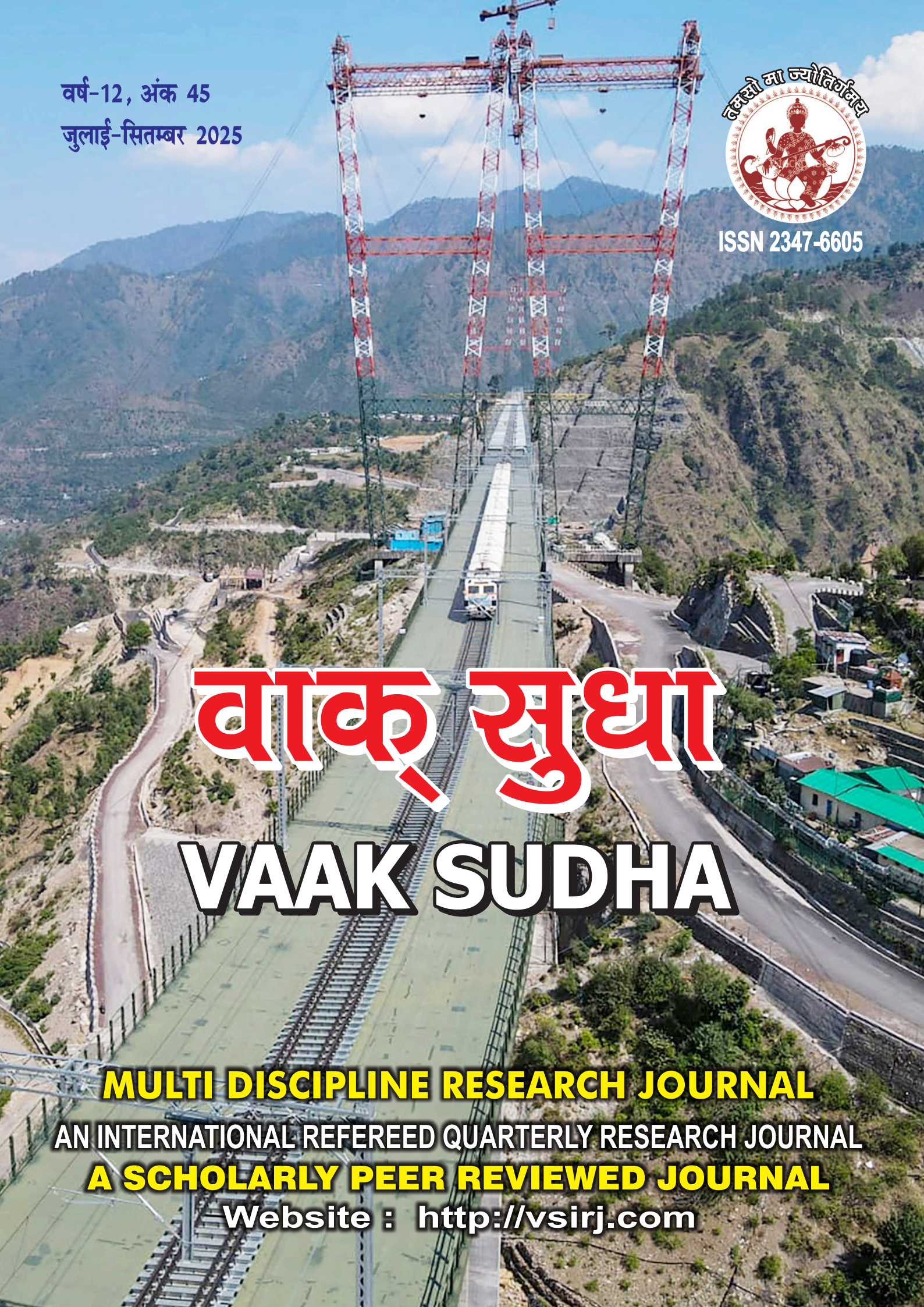

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

MULTI DISCIPLINE RESEARCH JOURNAL

AN INTERNATIONAL REFEREED QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

A SCHOLARLY PEER REVIEWED JOURNAL

Website : http://vsirj.com

वर्ष : 12 • अंक : 45 • जुलाई-सितम्बर 2025 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *vii*

भ्रष्टाचार और हिंदी सिनेमा 1
डॉ. चित्तरंजन कुमार

अशोक का धम्म : जैन धर्म और बौद्ध धर्म पर प्रभाव 5
डॉ. अरुणा रानी

भोटिया जनजाति में सामाजिक- सांस्कृतिक गतिशीलता 12
नरेश सिंह ग्वाल

मन्नू भंडारी की कहानियों में संवेदना के विविध रूप 16
प्रो. राम किशोर यादव

समकालीन कथा साहित्य (महिला उपन्यासकारों के संदर्भ में) 21
ज्योति देवी

भारत में कालगणना की परम्परा 25
डॉ. अंगिरस

वीरेन डंगवाल के काव्य में सामाजिक यथार्थ 31
मंदेश शर्मा

अंकिया नाटक और श्रीमंत शंकरदेव 35
सूर्यप्रकाश

प्रेमचंद की रचनायें और हमारा समय 39
अनीता कुमारी

O.C.R. पुरानी पाण्डुलिपियां और साहित्य का भाषायी परिवर्तन 44
डॉ. रामानुज यादव

महाश्वेता देवी के कथा साहित्य में आदिवासी प्रतिरोधी चेतना 49
डॉ. कंचन कुमारी

न्यायदर्शनानुसार आसक्ति विमर्श 53
डॉ. मधुबाला सिंह

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त भूमंडलीकृत विसंगतियाँ (संदर्भ : किसान जीवन) 58
दिनेश कुमार

समकालीन हिंदी दलित कविता में प्रतिरोध के स्वर 61
प्रमोद यादव

श्रीमंत शंकरदेव और पूर्वोत्तर का भक्ति आंदोलन ... 69
सौम्या राय

साहित्य में स्त्री अस्मिता के चिंतन में दलित स्त्री की पहचान : एक विश्लेषण 73
डॉ. नीलम कुमारी

छायावादी कविता में प्रकृति सौन्दर्य के विविध रंग ... 77
डॉ. सुनीता दुरंगल

आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में छायावादी कवियों की समकालीन प्रासंगिकता 81
डॉ. संजय सिंह

सिनेमा में किन्नर छवि 86
डॉ. अभय रंजन

गुरु गोविन्द सिंह कृत चण्डी चरित्र : काव्यशास्त्रीय विश्लेषण 90
धनंजय दुबे

मृच्छकटिक में शोषित एवं उपेक्षित वर्ग : सामाजिक यथार्थ का अध्ययन 93
डॉ. जहाँ आरा

संस्कृतपत्रकारिता का इतिहास एवं स्वतंत्रता संग्राम 97
Prof. Girish Chandra Pant / Dr. Ishrat Sultana / Mukul Badola

माध्यमिक शिक्षा के छात्राओं की समस्याओं का अध्ययन 104
डॉ. दिनेश कुमार

दलित उपन्यासों में सामाजिक न्याय का स्वरूप 108
करण डेमरोत

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिन्दी उपन्यास 113
अमित कुमार सिंह

नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में मिथिला की लोक संस्कृति 119
बबिता सिंह

बिंबों विधान और केदारनाथ सिंह की कविताएँ 122
डॉ. सुनीता दुरंगल

भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति : संवेदनात्मक-आयाम 126
डॉ. प्रमिला

अमरकांत की कहानियों में सामाजिक यथार्थ: वर्ग, जाति और भूख का त्रासद अंतर्संबंध 132
दीक्षा सैनी

आंबेडकर की वैचारिकी और दलित साहित्य..... 137
डॉ. राजकुमार राजन / डॉ. सायमा इकबाल
निरस्त्रीकरण : एक राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य.... 143
मान्या कांबले
धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था पर आचार्य रामशरण शर्मा की दृष्टि का विश्लेषण..... 148
रतन कुमार दास
नीलेश रघुवंशी के काव्य में नारी सौंदर्य 155
संजू
भारतीय राजनीति के लोकगुरु परसाई 159
डॉ. राजेश कुमार/डॉ. ममता देवी
महिला सशक्तिकरण व हिंदू संहिता विधेयक : आंबेडकर विमर्श 174
डॉ. सायमा इकबाल / डॉ. राजकुमार राजन

सम्पादकीय

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 6 जून 2025 को जम्मू-कश्मीर में चिनाब नदी पर चिनाब रेलवे पुल का उद्घाटन किया। रियासी जिले में स्थित यह विश्व का सबसे ऊँचा रेलवे का स्टील से बना पुल है। कटरा से श्रीनगर को यह रेलवे पुल जोड़ता है। जिसकी ऊँचाई 359 मीटर है, जो फ्रांस के एफिल टॉवर से 35 मीटर ऊँचा है। इस अपने आप में अनूठे पुल का निर्माण कोंकण रेलवे कॉर्पोरेशन द्वारा किया गया है। देश की सभी महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित संस्थाओं ने इसके निर्माण में सहयोग किया है। यह पुल भारत की इंजीनियरिंग की प्रगति और टेक्नोलॉजी की अद्भुत मिसाल है। इस पुल के शुरू होने के बाद जम्मू कश्मीर विकास के हाइवे पर नहीं बल्कि एक्सप्रेस-वे पर दौड़ने लगेगा। इस पुल की नींव की रूपरेखा इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ सांइस बंगलूरू द्वारा डिजाइन की गई है। आई आई टी दिल्ली और आई आई टी रुड़की ने भूकंपीय विश्लेषण किया, जबकि रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (DRDO) ने सुनिश्चित किया कि पुल विस्फोट-प्रतिरोधी हो। यह 8 तीव्रता के भूकंप, 40 टन TNT तक के विस्फोट, -20 डिग्री सेल्सियस तक का तापमान और 266 किमी./घंटा की गति वाली वायु को सहन करने की क्षमता रखता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि यह आठ पुलों में से एक के खराब हो जाने पर भी स्थिर और कार्यशील बना रहेगा, जिससे ट्रेनें धीमी गति से चल सकती हैं। इस पुल की एक अन्य विशेषता यह भी है कि कश्मीर घाटी और शेष भारत के बीच सभी मौसम के दौरान रेलवे संपर्क बना रहेगा। आम तौर पर प्रकृति के रौद्ररूप में कश्मीर घाटी शेष भारत से कट जाता था अब ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न होगी।

इतना ही यह दुनिया का सबसे ऊंचा रेल पुल है। इस पुल का निर्माण 1486 करोड़ की लागत से किया गया है। "इस पुल की नींव 2003 में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने रखी थी। इसके निर्माण में 22 साल लगे और इसकी अनुमानित उम्र 125 साल से अधिक है। इसकी डिजाइन और तकनीकी विशेषताओं ने इसे दुनियाभर में चर्चा का विषय बना दिया है। इसकी भव्यता और इंजीनियरिंग की चर्चा दुनिया भर में है। इसीलिए 'वाक् सुधा' ने इस पुल को कवर पेज पर स्थान दिया है। 5 अगस्त 2019 को 35 ए और अनुच्छेद 370 के समाप्ति के बाद जो नया कश्मीर बनाने का संकल्प प्रधानमंत्री मोदी ने लिया था उसकी दिशा में यह पुल मील का पत्थर साबित होगा। यहां यह भी याद रखिए कि कश्मीरियत, जम्हूरियत और इंसानियत कश्मीर का लेकर सबसे बड़ा झूठ है। घाटी के मुसलमानों के दिल में आज भी पाकिस्तान बसता है, लाखों-करोड़ खर्च कर कुछ भी इन कश्मीरियों को दे दीजिए, यह बदलने वाले नहीं हैं। घाटी में आतंकवादियों को यही कश्मीरी मुसलमान सुरक्षित स्थान मुहैया कराते हैं। पहलगाम की घटना सबसे ताजा उदाहरण है। 26 हिंदुओं को इन्हीं मुसलमानों ने बैसरन घाटी 'मिनी स्विट्जरलैंड' में धर्म पूछकर मरवा दिया। पत्थरबाजी की घटना यही लोग करते थे, और गोलियां भी यही चलाते थे, वही कश्मीरी मुसलमान घाटी छोड़कर कहीं नहीं गए। यही लोग आतंकवादी को प्रश्रय देते हैं। इसी कश्मीरी मुसलमानों ने हिंदुओं को घाटी से निकाला और हिन्दुओं के प्रति ऐसे अपराध किये जिसकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ओवर ग्रांउड वर्कर घाटी में यही है। बार-बार पीठ पर छुरा घोंपते हैं। भारत से प्रेम इनकी मजबूरी है। कश्मीर को जन्नत से जहन्नुम इसी कश्मीरियों ने बनाया है। इनको जब भी मौका मिलेगा आतंकवाद को लेकर चूकेंगे नहीं इसलिए आपरेशन सिंदूर की तरह डेमोग्राफी बदलिए अगर डेमोग्राफी नहीं बदलिएगा तो मरते रहिएगा। विकास की सारी योजनाएं बेकार हैं।

- डॉ. रूपेश कुमार चौहान

भ्रष्टाचार और हिंदी सिनेमा

डॉ. चित्तरंजन कुमार

आज के भारत में भ्रष्टाचार सबसे बड़ी समस्या है। आए दिन घोटाले का समाचार आना आम बात हो गई है। ऊपर से नीचे तक हर जगह भ्रष्टाचार व्याप्त है। क्योंकि सिनेमा भी एक ऐसी विधा है जो समाज में घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर बनती है। अत: भ्रष्टाचार के मुद्दे को लेकर हिंदी सिनेमा में काफी फिल्में बनी है। उन्हें फिल्मों में से कुछ महत्वपूर्ण फिल्म पर यहां प्रकाश डाला गया है –

1. हिंदुस्तानी (इंडियन) 1996 – शंकर द्वारा निर्देशित और कमल हसन द्वारा अभिनीत यह बेहतरीन फिल्म है जो भ्रष्टाचार के खात्मे के लिए संकल्पबद्ध दिखती है। इस फिल्म की कहानी दो धाराओं में चलती है, एक ओर चंद्रा बोस उर्फ चंदू (कमल हसन) काम करने के बदले में घूसखोरी करता है। वह सुवैया (गोंडा मनी) पनीर सेलवम (सेंथिल) जो आरटीओ में अधिकारी है को इस काम में मदद करता है। मनीषा कोइराला और चंदू में प्यार है। सपना (उर्मिला) गांधी कृष्णा की पुत्री है जो आरटीओ में अधिकारी है। वह चंदू को आरटीओ ऑफिस में ब्रेक इंस्पेक्टर का काम दिलवाने का वादा करता है और इसके बदले में वह उससे फायदा लेने की बात करता है। जल्द ही चंदू ब्रेक इंस्पेक्टर बन जाता है।

फिल्म की दूसरी धारा सेनापति उर्फ हिंदुस्तानी की है जो 70 साल का बूढ़ा है। वह कई सरकारी भ्रष्ट अधिकारियों की हत्या कर देता है। वह भारत से भ्रष्टाचार मिटाने की कोशिश करता है। सेनापति चंदू का पिता भी है। कृष्णा स्वामी (नेडूमुडी वेणु) बहुत ही तेज तर्रार आईपीएस अधिकारी है जो हिंदुस्तानी को पकड़ने की कोशिश करता है। वह किसी तरह सेनापति के घर तक पहुंच जाता है फिर उसे यह ज्ञात होता है कि सेनापति पूर्व में स्वतंत्रता सेनानी रह चुका है। सेनापति उग्रपंथी विचारधारा का समर्थक था और सुभाष चंद्र बोस द्वारा स्थापित इंडियन नेशनल आर्मी का सदस्य भी रह चुका था। सेनापति की पत्नी अमृता वाली (सुकन्या) बताती है कि सेनापति स्वतंत्रता सेनानी क्यों कहलाता है? वह बताती है कि किस तरह 1940 में अंग्रेजी शासन के विरोध करने के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार अमानवीयता की सारी हदें पार कर गई थी। सभी औरतों की साड़ी उतरवा कर नंगा कर दिया गया था। सेनापति सुकन्या की लाज बचाता है और उससे शादी कर लेता है। लेकिन जल्द ही वह सिंगापुर चला जाता है और इंडियन नेशनल आर्मी ज्वाइन कर लेता है। आजादी पाने के बाद ही वह भारत वापस लौटता है। कृष्ण स्वामी सेनापति को गिरफ्तार करने की कोशिश करता है लेकिन कृष्णा स्वामी को सेनापति बुरी तरह घायल कर भाग जाता है।

इसके बाद सेनापति टीवी के सामने लाइव एक भ्रष्ट डॉक्टर को मार डालता है। वह सेनापति की बेटी को अति शीघ्र अस्पताल में भर्ती नहीं करता है। सेनापति की बेटी बुरी तरह झूलस चुकी थी और डॉक्टर ने घुस न दिए जाने के कारण उसे अस्पताल में भर्ती नहीं किया था, फलत: उसकी मृत्यु हो गई।

चंदू के रास्ते उसके पिता के रास्ते से अलग था। उसे अपने पिता की अत्यधिक ईमानदारी से चिढ़ थी और वह उनके आदर्शों को मृत समझता था। लोग हिंदुस्तानी के इस काम का बहुत समर्थन करते हैं। सेनापति अपने बेटे को भी नहीं छोड़ता है जो पैसे लेकर न चलने लायक स्कूल बस को परमिट सर्टिफिकेट दे देता है। बस दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है

और बस में सवार सभी स्कूली बच्चे मारे जाते हैं। सेनापति इसके लिए चंदू को जिम्मेदार समझता है। अत: अपने चंदू को भी वहीं सजा दी जो दूसरे को दिया। (सन्दर्भ : इंडियन (1996) विकिपीडिया, द फ्री एनसाइक्लोपीडिया, अंतिम बार पुन: संशोधित 14 फरवरी 2014 इंटरनेट वर्जन)।

2. नायक (2001)- यह फिल्म भी शंकर की है जो देश में फैले भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक संदेश देता है। फिल्म की कहानी प्रमुख रूप से शिवाजीराव (अनिल कपूर) पर आधारित है। वह एक महत्वाकांक्षी टीवी रिपोर्टर है जो क्यू टीवी के लिए काम करता है। अपने काम के दौरान शिवाजी राव मुख्यमंत्री बलराज चौहान (अमरीश पुरी) की बात रिकॉर्ड कर लेता है जो कि शहर में बस ड्राइवर और कॉलेज के विद्यार्थियों के बीच हो रहे दंगों से संबंधित था। बलराज चौहान अपने वोट बैंक के लिए पुलिस को निष्क्रिय रहने का आदेश देता है। अत: इस दंगे में काफी लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है।अपनी इस कृति को सही ठहराने के लिए मुख्यमंत्री एक इंटरव्यू के लिए तैयार हो गया। जब शिवाजीराव ने तीखे प्रश्नों से मुख्यमंत्री पर हमला बोल दिया और टेप की गई बातों को सार्वजनिक कर दिया तो इसके बाद मुख्यमंत्री अपने पद की कठिनाइयों के बारे में बताने लगा और शिवाजी राव को एक दिन के लिए मुख्यमंत्री बनने की चुनौती दी। शिवाजी ने थोड़े झिझक के साथ इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। शिवाजी पढ़ा-लिखा और जागरूक इंसान था। अत: उसने आम जनता की रोजमर्रा की कठिनाइयों की तरफ सबसे पहले ध्यान देना शुरू कर दिया। स्लम में रहने वाले को उनका आवंटित मकान दिलवाया, बेरोजगारों को रोजगार दिलाया अकर्मण्य और भ्रष्ट अधिकारियों को मुअत्तल किया। वह अपने सचिव परेश रावल द्वारा इस काम में सहायता प्राप्त किया। अंत में शिवाजी राव भ्रष्टाचार के आरोप में बलराज चौहान को भी गिरफ्तार करवा लेता है क्योंकि सारे भ्रष्टाचार का जड़ वही था। चौहान बाद में छूट जाता है और अध्यादेश जारी कर शिवाजी राव द्वारा दिए गए सारे आदेशों को रद्द करवा देता है। बलराज चौहान शिवाजी की सफलता को अपनी बेइज्जती समझता है। अत: वह शिवाजीराव को जान से मरवाने की भी कोशिश करता है और उसके घर को तुड़वा देता है। शिवाजी इधर मंजरी (रानी मुखर्जी) के प्यार में पड़ जाता है, लेकिन उसके पिता अपनी बेटी की शादी एक सरकारी नौकरी वाले से करना चाहता है।अत: शिवाजी सिविल सेवा की तैयारी करना शुरू कर देता है, लेकिन बंसल के समझाने बुझाने पर वह पुन: राजनीति में आने का मन बना लेता है। जल्द ही वह राज्य असेंबली का चुनाव भारी मतों से जीत जाता है। मुख्यमंत्री बनने के बाद शिवाजी राव बहुत सारे सुधार जल्द शुरू करवा देता है। बाद में चौहान शिवाजीराव को मरवाने की कोशिश करता है अंत में इसी प्रयास में बलराज चौहान मुख्यमंत्री शिवाजी राव के अंगरक्षकों द्वारा मार दिया जाता है।

3. गंगाजल (2003)- प्रकाश झा सार्थक सिनेमा के साथ ही विचारोत्तेजक फिल्में बनाते रहे हैं। प्रकाश झा कहते हैं कि संघर्ष के बिना कोई कहानी नहीं बनती है। वे आगे कहते हैं कि लोग सोचते हैं कि मैं क्रांतिकारी फिल्में बनाता हूँ। लेकिन सच तो यह है कि मैं सिर्फ उस कहानी को कहता हूँ जो एक खास समय में अस्तित्व में आती है या विकसित होती है। (सन्दर्भ : एन आई-फरवरी-15, 2024, टाइम्स ऑफ इंडिया डॉट इंडिया टाइम्सडॉट कॉम).

गंगाजल फिल्म एक ईमानदार पुलिस अफसर की कहानी है जो भ्रष्टाचार एवं अपराधियों से संघर्ष करता है। अमित कुमार (अजय देवगन) एक आदर्शवादी एसपी है, जिसकी पहली पोस्टिंग बिहार के बदनाम जिले तेजपुर में होती है। वहां कोई कानून व्यवस्था नहीं है और उसका शासन साधु यादव (मोहन जोशी) और उसके बेटे सुंदर यादव (यशपाल शर्मा) द्वारा होता है। वहां का पुलिस और थाना ठेकेदार और अपराधियों की दया पर चलती है। पुलिस के आला अधिकारियों से लेकर नीचे तक के अधिकारी भ्रष्ट हो चुके हैं। अमित इस तंत्र की गंदगी को साफ करने का प्रयास करता है। वह अपने सहायक पुलिस अधिकारियों पर अपना विश्वास भी जमा लेता है, लेकिन एक घटना में उसके सहायक पुलिस अधिकारी 2 अपराधियों को पुलिस लॉकअप में निर्मम तरीके से अंधा कर आंख में तेजाब डाल देते हैं। वैसे तो गंगाजल का प्रयोग शुद्धिकरण के लिए होता है, लेकिन इस फिल्म में गंगाजल नाम समाज से अपराधियों के खात्मे के लिए दिया गया है। फिल्म में आक्रोशित जनता यही कहती है कि "गंगाजल लाओ आज तेजपुर की धरती को अपराधियों से हमें मुक्त कर देना है।" (सन्दर्भ: गंगाजल मूल फिल्म 29 अगस्त 2003)।

तरण आदर्श कहते हैं "प्रकाश झा विषय को अधिकतम यथार्थवादी तरीके से प्रस्तुत करने में सफल होते हैं। इसके लिए वे उपयुक्त माहौल निर्दयी व्यवहार और आक्रामक जीवन

शैली पात्रों में भर देते हैं। इस फिल्म में पात्रों के बात करने का ढंग एवं बोलने का उच्चारण स्थानीय परिस्थितियों को अभिव्यक्त करता है। यह एक यथार्थवादी फिल्म है।'' (सन्दर्भ : तरण आदर्श : गंगाजल, बॉलीवुड हंगामा डॉट कॉम)

4. अपहरण (10 दिसंबर 2005) - इस फिल्म के संदर्भ में पी. शुक्ला कहते हैं प्रकाश झा 'दिल क्या करे' और 'राहुल' जैसी भावनात्मक फिल्मों में सफल नहीं हुए, लेकिन गंगाजल के बाद उनका पुनर्जन्म होता है।

(सन्दर्भ : पी शुक्ला : अनदर नेशनल अवार्ड इन वेटिंग फॉर अजय- आई टी वी इंडिया ब्यूरो, इंटरनेट वर्जन)। अपहरण किसानों के राज्य बिहार में फल फूल रहे अपहरण उद्योग पर आधारित फिल्म है। बिहार के किसान के बेटे प्रकाश झा ने इसे अपनी पूरी जिंदगी में देखा है। यह गौर तलब है कि, बिहार के पश्चिमी चंपारण में यह उद्योग काफी व्यापक था और प्रकाश झा का पुश्तैनी घर भी इसी जिले से आता है। अपराध की चकाचौंध से मेधावी विद्यार्थी भी नहीं बच पाते हैं, वह भी शक्ति और सत्ता के चकाचौध में फंस जाते हैं। यह उस भारत की कहानी है जो अपने को नए वैश्विक शक्ति संपन्न देश बनाने का स्वप्न देख रहा है। अपहरण में जिस राज्य को दिखाया गया है उसे देखकर भारतीय चिंतक और नया भारत बनाने वाले इस दर्दनाक सत्य को भी स्वीकार करें। अपहरण आज के युवाओं की कहानी है जिसके पास काफी आकांक्षाएं एवं सपने होते हैं लेकिन इसे सफलीभूत करने का कोई रास्ता नहीं है। निखात काजमी के अनुसार जयप्रकाश आंदोलन युवाओं का आंदोलन था। युवाओं ने इस आंदोलन से देश को नई दिशा दी। लेकिन इसके तीन दशक बीतने के बाद बहुत सारी फिल्में दिशाहीन युवकों पर बनी। इसमें 'युवा' जो कि मणि रत्नम की फिल्म है वह भी शामिल है। यह फिल्म भी दिशाहीन होते जा रहे युवाओं पर आधारित एक उत्कृष्ट फिल्म है। (सन्दर्भ: पी शुक्ला : अनदर नेशनल अवार्ड इन वेटिंग फॉर अजय -आईटीवी इंडिया ब्यूरो, इंटरनेट वर्जन)।

अपहरण अपने पूर्वगामी फिल्मों से इस रूप में अलग है क्योंकि इसने उन्हें कॉपी करने का प्रयास नहीं किया है। कहानी का प्लॉट सामान्य है एक कर्तव्यवादी एवं निष्ठावान पिता एवं दूसरी तरफ शक्ति और सत्ता प्राप्त करने की लालसा रखने वाले पुत्र के बीच का संघर्ष है। आदर्शवादी पिता रघुवंश शास्त्री (मोहन आगासे) जो एक साहसिक और जागरूक नागरिक है। उनकी इस आदर्शवादी व्यवहार से उनके बेटे अजय देवगन को अपनी नौकरी करवानी पड़ती है। इस फिल्म में बिहार लोक सेवा आयोग द्वारा की गई भ्रष्टाचार की करगुजारियों को भी दिखाया गया है। रघुवंश शास्त्री ने बीपीएससी द्वारा परीक्षा में की गई भ्रष्टाचार एवं धांधली की कलई को मीडिया के सामने खोल दिया जिसके कारण बीएससी का रिजल्ट रद्द करना पड़ा और उनके पुत्र अजय देवगन जो एक गुंडे से पैसे लेकर बीएससी को नौकरी के एवज में दिया था। अजय भी बड़ा आदमी बनना चाहता है। इसीलिए वह तंत्र के भीतर घुसकर अपने को शक्तिशाली बनाना चाहता है। लेकिन बिहार लोक सेवा आयोग में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं अपने पिता के आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण ऐसी परिस्थितियों आती है कि वह तबरेज आलम द्ध नाना पाटेकर ऋजैसे अपराधी से राजनीतज्ञ बने व्यक्ति से मिल जाता है। तबरेज का चरित्र बिहार के अपराधी से राजनीतिज्ञ बने शहाबुद्दीन से मिलता जुलता है। तबरेज अपने आप में एक सरकार है। वह स्कूल बनवाता है, अनाथालय बनवाता है। ये लोग ऊपर से उजले नजर आते हैं लेकिन दिल और कर्मों से काले हैं। ईश्वर के नाम पर हुए किसी भी कृत्य को उचित करार देते हैं, चाहे वह भले ही कितने भी जघन्य में क्यों ना हो। वह किसी भी खतरनाक खेल खेलने से नहीं डरता है। पी. शुक्ला कहते हैं-'यह फिल्म उन फिल्म निर्देशकों को देखना चाहिए जो यथार्थवादी फिल्में बनाते हैं। राम गोपाल वर्मा कितनी यथार्थवादी फिल्में बना चुके हैं लेकिन उन्हें भी यह फिल्म देखनी चाहिए। वर्मा ने कई फिल्में बनाई है लेकिन वह अपराध की दुनिया पर आधारित है जैसे सत्या और कंपनी इत्यादि। लेकिन प्रकाश झा हमेशा से समाज में दिखते आ रहे अपराधियों के राजनीतिज्ञ बनने एवं उनके अपराधी चरित्र को यथार्थवादी तरीके से दिखाया है। निखात काजमी का कहना है कि प्रकाश झा बिहार के जंगलों का सजीव चित्रण करने में काफी सफल रहे हैं। अगर यह फिल्म बिहार में उस समय के चुनाव से पूर्व रिलीज हो गई होती तो लालू राज की अराजकता को बहुत पहले ही पर्दाफाश कर दी होती।

अपहरण उद्योग में शीर्ष पर राजनीतिज्ञ उसके नीचे प्रत्यक्ष अपराध में सम्मिलित गया सिंह यशपाल शर्मा एवं बिचौलियों का काम मुरली शर्मा करता है। मुरली शर्मा अपहरण की राशि का हिसाब बड़े ही संजीव तरीके से करता है ''गाड़ी भर नाश्ता आदमी बोल सब मिलकर कुछ नहीं बचता है भाई।"

(सन्दर्भ : मूल फिल्म अपहरण)।

5. चक्रव्यूह (23 अक्टूबर 2012)- चक्रव्यूह नक्सली आंदोलन पर आधारित फिल्म है, साथ ही दूसरी तरफ नेताओं और पुलिस द्वारा शोषण का शिकार हुए आदिवासियों द्वारा नक्सली बनाना,एक ज्वलंत मुद्दे प्रगति /विकास बनाम विस्थापन पर भी आधारित है। चक्रव्यूह को नक्सली आंदोलन पर सिर्फ दस्तावेजिये फिल्म भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पूरे देश के अधिकांश भागों में पहले इस मुद्दे को नहीं उठाया गया है।

इस फिल्म में भ्रष्टाचार और शोषण का शिकार होते हुए आदिवासियों द्वारा नक्सली बनने और अपने अधिकार के लिए हथियार उठाने को बड़ी ही संजीदगी से दिखाया गया है। इस फिल्म का एक गाना भी युग संदर्भ एवं व्यवस्था की सच्चाइयों को दिखाने का प्रयास किया है-

भैया देखी हमने बड़ी तेरी सरदारी रे,
अब तो अपनी बारी है ना
महंगाई की महामारी ने हमारा भट्ठा बना दिया
चल हटाने गरीबी गरीबों को हटा दिया
शरबत की तरह देश को गटका है गटागट
आम आदमी की जब हो गई है सफाचट
बिरला हो या टाटा अंबानी हो या बाटा
सबने अपने चक्कर में देश को है काटा
अपने ही खून से इनका इंजन चले धकाधक
आम आदमी की जब हो गई है सफाचट

(सन्दर्भ : मूल फिल्म चक्रव्यूह)

उपरोक्त गीत भी वर्तमान समय की परिस्थितियों का खूब ही बयां करती है। महंगाई भ्रष्टाचार ने आम आदमी का जीना मुश्किल कर दिया है। किस प्रकार सरकार पर कारपोरेट जगत का प्रभाव है इसे भी इस गीत में स्पष्ट किया गया है। 19 अक्टूबर 2012 को सुप्रीम कोर्ट ने चक्रव्यूह के इस गाने में टाटा बिरला अंबानी और बता द्वारा देश को लूटने की बात को लेकर बता ने सुप्रीम कोर्ट में अर्जी दाखिल की थी, जिसे खारिज कर दिया गया। सरकार पर कॉर्पोरेट घरानों का दबाव जग जाहिर है। हर सरकार किसी न किसी विशेष औद्योगिक घराने को फायदा दिलाने के लिए तत्परता से काम करती है। इस सच्चाई को इस गाने में बड़ी ही संजीदगी से दिखाया गया हैं।

आज एक ही देश में दो देश पैदा हो गया है एक विकसित है जो इंडिया है और एक पिछड़ा है जो भारत है। इन दोनों के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है। नक्सलवाद के पुनरोदय के पीछे असमानता और साधनों का सामान वितरण है। अमीर और अमीर होते जा रहे हैं और गरीब और गरीब। फिल्म में आज तक चौनल पर नक्सलवाद के प्रसार को दिखाया गया है यह समस्या देश के 14 राज्यों के दो 100 अधिक जिलों में फैल चुकी है खासकर पिछड़ों और आदिवासी बहुत इलाके सबसे ज्यादा नक्सलवाद से प्रभावित है इस फिल्म के अंत में प्रकाश झा या सूचना देते हैं कि देश की कुल संपत्ति का बड़ा हिस्सा देश के सिर्फ 25 परिवारों के पास है और देश की अधिकांश जनता सिर्फ रु. 70 प्रतिदिन की कमाई पर गुजारा करती है। इस फिल्म के संदर्भ में तृषा गुप्ता कहती है चक्रव्यूह नक्सली समस्या को हल करने का एक ईमानदार प्रयास है।

प्रकाश झा इस फिल्म में माओवादियों के अंधेरे और अज्ञात दुनिया में प्रवेश कर माओवादियों द्वारा अपनी जमीन पर इज्जत की लड़ाई को दिखाते हैं, तो दूसरी तरफ निर्दयी सरकार के भ्रष्टाचार और भ्रष्ट नौकरशाहों के चरित्र का पर्दाफाश भी किया है। भारत में सामाजिक आर्थिक असमानताओं के कारण ही नक्सलवाद इतनी तेजी से फैला है। समाज को जागृत करने के संदर्भ में या फिल्म शांताराम और बी.आर. चोपड़ा की फिल्मों की श्रेणी में है।

सहायक प्रोफेसर
हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल-chittaranjan.kumar2009@gmail.com

डॉ. अरुणा रानी

अशोक का धम्म : जैन धर्म और बौद्ध धर्म पर प्रभाव

सारांश (Abstract)

यह लेख मौर्य साम्राज्य (लगभग 322–185 ईसा पूर्व) के दौरान सम्राट अशोक के धम्म का जैन धर्म और बौद्ध धर्म की श्रमण परंपराओं पर पड़े गहरे प्रभाव की पड़ताल करता है। कलिंग युद्ध की क्रूरता के बाद, अशोक में एक महत्वपूर्ण व्यक्तिगत परिवर्तन आया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने धम्म की घोषणा की जो एक सांप्रदायिक धर्म से भिन्न एक अद्वितीय सामाजिक-नैतिक संहिता थी। यह अध्ययन बौद्ध धर्म पर धम्म के प्रत्यक्ष और दूरगामी प्रभाव को उजागर करता है, जिसमें संघ को वित्तीय सहायता, असंख्य स्तूपों और विहारों का निर्माण, और सक्रिय मिशनरी गतिविधियां शामिल हैं, जिन्होंने इसे भारत से परे भौगोलिक विस्तार दिया (थापर, 2002)। इसके अतिरिक्त, पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति को समर्थन देने में अशोक की संभावित भूमिका ने इस धर्म के मानकीकरण और संस्थागतकरण में योगदान दिया (शर्मा, 2005)। इसके विपरीत, जहाँ जैन धर्म को ऐसा प्रत्यक्ष शाही संरक्षण नहीं मिला, वहीं इसे धम्म केअहिंसा (गैर-हिंसा) जैसे साझा नैतिक मूल्यों और व्यापक धार्मिक सहिष्णुता के प्रचार से महत्वपूर्ण लाभ मिला। लेख अशोक की एक ऐसे शासक के रूप में स्थायी विरासत को सारांशित करता है, जिन्होंने एक न्यायपूर्ण और नैतिक समाज का समर्थन किया और प्राचीन भारत के धार्मिक परिदृश्य को मौलिक रूप से आकार दिया।

मुख्य शब्द (Keywords) :

अशोक, धम्म, मौर्य साम्राज्य, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता, राज्य संरक्षण, श्रमण परंपराएं, प्राचीन भारत।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य साम्राज्य (लगभग 322–185 ईसा पूर्व) का उदय एक युगांतरकारी घटना थी, जिसने उपमहाद्वीप को पहली बार एक विशाल राजनीतिक इकाई के तहत एकीकृत किया। इस साम्राज्य ने न केवल प्रशासनिक और आर्थिक स्थिरता प्रदान की, बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक विकास के लिए भी एक उर्वर भूमि तैयार की। मौर्य शासकों में, सम्राट अशोक (लगभग 268–232 ईसा पूर्व) का स्थान अद्वितीय है, जिन्हें अक्सर भारत के सबसे महान शासकों में से एक माना जाता है (थापर, 2002)। उनके शासनकाल को केवल सैन्य विजयों या प्रशासनिक सुधारों के लिए ही नहीं, बल्कि ''धम्म'' की उनकी अवधारणा और उसके प्रचार के लिए भी याद किया जाता है।

अशोक का धम्म कोई नया धर्म या पंथ नहीं था, बल्कि यह सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों और सामाजिक आचरणों का एक समुच्चय था, जिसे उन्होंने अपनी प्रजा के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रस्तावित किया था (शर्मा, 2005)। इसमें अहिंसा, सहिष्णुता, दान, सत्यवादिता और सभी संप्रदायों के प्रति सम्मान जैसे मूल्य शामिल थे। यह लेख इस बात की पड़ताल करेगा कि अशोक के धम्म ने, यद्यपि स्वयं एक धर्म नहीं था, जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों के प्रसार और संस्थागतकरण को किस प्रकार महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। हम देखेंगे कि इस प्रभाव की प्रकृति और सीमा प्रत्येक श्रमण परंपरा के लिए भिन्न थी, जहाँ बौद्ध धर्म को प्रत्यक्ष शाही संरक्षण से अत्यधिक लाभ हुआ, वहीं जैन धर्म को धम्म के नैतिक मूल्यों और सहिष्णुता के सामान्य वातावरण से

अप्रत्यक्ष लाभ मिला।

ऐतिहासिक संदर्भ : अशोक-पूर्व श्रमण परंपराएँ

अशोक के शासनकाल से पहले, भारतीय उपमहाद्वीप का धार्मिक परिदृश्य जटिल और विविध था, जिसमें वैदिक ब्राह्मणवाद प्रमुख था। यह परंपरा यज्ञों, अनुष्ठानों और वेदों के अधिकार पर केंद्रित थी, जहाँ पुरोहित वर्ग (ब्राह्मणों) का समाज में एक विशेष स्थान था। हालाँकि, लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व से, गंगा के मैदानों में एक महत्वपूर्ण बौद्धिक और धार्मिक क्रांति शुरू हुई। यह वह दौर था जब श्रमण परंपराओं का उदय हुआ, जिसने वैदिक कर्मकांडों और सामाजिक पदानुक्रम को चुनौती दी (थापर, 2002)। ये श्रमण, या 'परिश्रम करने वाले' (श्रमण का शाब्दिक अर्थ), वे लोग थे जिन्होंने त्याग, तपस्या और व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से सत्य की खोज पर बल दिया। उन्होंने कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष (जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति) के सिद्धांतों पर गहराई से ध्यान केंद्रित किया।

इन्हीं श्रमण परंपराओं में से दो प्रमुख विचारधाराएँ -जैन धर्म और बौद्ध धर्म - उभरीं, जिन्होंने तत्कालीन समाज पर गहरा प्रभाव डाला।

जैन धर्म का व्यवस्थित रूप भगवान महावीर (लगभग 599-527 ईसा पूर्व) द्वारा प्रचारित किया गया, जिन्हें 24वें तीर्थंकर के रूप में जाना जाता है। महावीर ने अपने पूर्ववर्ती, पार्श्वनाथ, के सिद्धांतों को और विकसित किया। जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत अहिंसा (सभी जीवित प्राणियों के प्रति पूर्ण अहिंसा), अपरिग्रह (गैर-अधिकारिता), और अनेकांतवाद (अनेक-पक्षीय यथार्थ, यानी सत्य के कई पहलू हो सकते हैं) हैं (जैनी, 1998)। महावीर ने कठोर तपस्या और आत्म-संयम पर जोर दिया ताकि व्यक्ति कर्म के बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके। यह परंपरा विशेष रूप से मगध (आधुनिक बिहार) जैसे पूर्वी क्षेत्रों में तेजी से फैली, जहाँ व्यापारियों और शहरी आबादी ने इसे अपनाया क्योंकि यह वैदिक यज्ञों में पशु बलि की निंदा करता था।

इसी अवधि में, बौद्ध धर्म का उदय हुआ, जिसके संस्थापक सिद्धार्थ गौतम थे, जो बाद में बुद्ध (''प्रबुद्ध'') कहलाए। लगभग 563-483 ईसा पूर्व में जन्मे सिद्धार्थ ने दुख और उसके निवारण के मार्ग की खोज के लिए अपना शाही जीवन त्याग दिया। बुद्ध की शिक्षाएँ चार आर्य सत्यों (दुख है, दुख का कारण है, दुख का निवारण संभव है, और दुख निवारण का मार्ग है) और अष्टांगिक मार्ग (सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधिऋ पर केंद्रित हैं (शर्मा, 2005)। बुद्ध ने मध्य मार्ग का उपदेश दिया, जो अत्यधिक तपस्या और भोगवाद दोनों से बचता था। उनके अनुयायियों का एक संगठित समुदाय, जिसे संघ कहा जाता था, धीरे-धीरे मगध और आसपास के क्षेत्रों में फैला, जिससे शिक्षाओं का प्रसार हुआ।

इन श्रमण परंपराओं का आकर्षण कई कारकों से उत्पन्न हुआ। उन्होंने ब्राह्मणवादी रूढ़िवादिता और उसके कर्मकांडों की जटिलता को चुनौती दी। पशुबलि की निंदा ने किसानों और व्यापारियों को आकर्षित किया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने व्यक्तिगत मुक्ति पर जोर दिया, जहाँ व्यक्ति अपने प्रयासों से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर सकता था, न कि केवल पुरोहितों के माध्यम से। इस प्रकार, अशोक के उदय से पहले, भारत का धार्मिक परिदृश्य इन गतिशील श्रमण आंदोलनों के माध्यम से एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था, जो वैदिक परंपरा के साथ सह-अस्तित्व में थे और अक्सर उसे चुनौती भी दे रहे थे।

अशोक का धर्मांतरण और धम्म की उत्पत्ति

अशोक के शासनकाल का एक निर्णायक मोड़ कलिंग युद्ध (लगभग 261 ईसा पूर्व) था, जो आधुनिक ओडिशा में लड़ा गया था। यह युद्ध मौर्य साम्राज्य के विस्तारवादी अभियान का हिस्सा था और अपनी भयानक क्रूरता के लिए जाना जाता है। अशोक के अपने 13वें मुख्य शिलालेख के अनुसार, इस युद्ध में लगभग एक लाख लोग मारे गए, डेढ़ लाख विस्थापित हुए और कई गुना अधिक प्रभावित हुए (थापर, 2002)। इस विशाल नरसंहार और उसके बाद हुए कष्टों को देखकर अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ। युद्ध की विभीषिका ने उनमें गहरा पश्चाताप और दुख उत्पन्न किया, जिसने उन्हें विजय की पारंपरिक नीति (''भेरीघोष'' या युद्ध के ढोल) को त्यागने और ''धम्मघोष'' (धम्म की ध्वनि) अपनाने के लिए प्रेरित किया।

इस युद्ध के बाद ही अशोक काव्यक्तिगत परिवर्तन हुआ। हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने तुरंत बौद्ध धर्म अपना लिया या धीरे-धीरे उसकी ओर झुकाव हुआ, लेकिन यह सर्वविदित है कि वे बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गए। बौद्ध ग्रंथों, जैसे कि महावंश, में बताया गया है कि उन्हें निग्रोध

नामक एक युवा बौद्ध भिक्षु ने प्रभावित किया और बाद में उपगुप्त नामक भिक्षु ने दीक्षा दी। इस व्यक्तिगत अनुभव ने उन्हें एक ऐसे मार्ग की तलाश करने के लिए प्रेरित किया जो न केवल राजनीतिक स्थिरता लाए बल्कि नैतिक और सामाजिक कल्याण को भी बढ़ावा दे।

अशोक ने जिस ''धम्म'' का प्रचार किया, उसे एक सांप्रदायिक धर्म के रूप में बौद्ध धर्म से अलग समझना महत्वपूर्ण है। यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध थे और उनके धम्म के कई सिद्धांत बौद्ध नैतिकता से प्रेरित थे, धम्म एक विशिष्ट धार्मिक पंथ नहीं था। यह एक सार्वभौमिक नैतिक संहिता थी जिसका उद्देश्य समाज के सभी वर्गों, चाहे वे किसी भी धार्मिक पृष्ठभूमि के हों, को एक साथ लाना था। रोमिला थापर (2002) जैसे विद्वानों का तर्क है कि अशोक का धम्म एक सामाजिक-नैतिक विचारधारा थी जिसका उद्देश्य विभिन्न धार्मिक और सामाजिक समूहों के बीच सामंजस्य स्थापित करना था।

अशोक के धम्म के मूल सिद्धांत उनके शिलालेखों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, जो हमें उनके दृष्टिकोण की गहरी अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं :

- ★ **सभी जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा (अहिंसा) :** अशोक ने पशु बलि को प्रतिबंधित किया और अपने राज्य में सभी प्रकार की हिंसा को कम करने का प्रयास किया। उन्होंने जीव-जंतुओं के प्रति दया पर जोर दिया।
- ★ **माता-पिता, शिक्षकों और ब्राह्मणों/श्रमणों सहित बड़ों का सम्मान :** यह सिद्धांत सामाजिक व्यवस्था और पारंपरिक मूल्यों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देता था।
- ★ **सत्यनिष्ठा, पवित्रता, आत्म-नियंत्रण, कृतज्ञता :** ये व्यक्तिगत गुणों पर जोर देते थे, जो एक नैतिक समाज के निर्माण के लिए आवश्यक माने जाते थे।
- ★ **धार्मिक सहिष्णुता और सभी संप्रदायों के प्रति सम्मान :** अशोक के धम्म का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि उन्होंने सभी धार्मिक संप्रदायों के प्रति सम्मान और सहिष्णुता की वकालत की। उन्होंने अपने शिलालेखों में स्पष्ट किया कि व्यक्ति को अपने धर्म के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए, लेकिन अन्य धर्मों का भी सम्मान करना चाहिए (शर्मा, 2005)।
- ★ **कल्याणकारी गतिविधियाँ :** अशोक ने अपनी प्रजा के भौतिक कल्याण में भी सक्रिय रुचि ली। उन्होंने मनुष्यों और जानवरों दोनों के लिए चिकित्सा सुविधाओं, सड़कों के किनारे कुएँ खोदने, पेड़ लगाने और विश्राम गृह बनाने का आदेश दिया।

इन सिद्धांतों को प्रभावी ढंग से लागू करने और प्रचारित करने के लिए, अशोक ने ''धम्म महामात्तों'' नामक अधिकारियों की एक विशेष श्रेणी की नियुक्ति की। इन अधिकारियों का कार्य धम्म के सिद्धांतों को जनता तक पहुँचाना, उनकी व्याख्या करना और यह सुनिश्चित करना था कि धम्म के नियमों का पालन किया जाए, साथ ही विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच सद्भाव बनाए रखा जाए। अशोक ने धम्म को एक व्यापक सामाजिक कल्याण और नैतिक शासन के लिए एक सामाजिक-नैतिक संहिताके रूप में देखा। यह केवल व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग नहीं था, बल्कि एक ऐसा ढाँचा था जिसका उद्देश्य एक न्यायपूर्ण, सामंजस्यपूर्ण और नैतिक रूप से उन्नत समाज का निर्माण करना था, जहाँ सभी लोग शांति और सद्भाव में रह सकें।

बौद्ध धर्म पर प्रभाव

अशोक के धम्म का बौद्ध धर्म पर गहरा और बहुआयामी प्रभाव पड़ा, जिससे यह एक क्षेत्रीय संप्रदाय से एक प्रमुख विश्व धर्म के रूप में उभरा। अशोक की व्यक्तिगत निष्ठा और शाही समर्थन ने बौद्ध धर्म को अभूतपूर्व प्रतिष्ठा और प्रसार का अवसर प्रदान किया।

राजकीय संरक्षण और शाही समर्थन : अशोक की बौद्ध धर्म के प्रतिव्यक्तिगत निष्ठाने इसे तुरंत एक अद्वितीय प्रतिष्ठा प्रदान की। एक शक्तिशाली सम्राट के रूप में, उनका बौद्ध धर्म को अपनाना उस समय के अन्य धार्मिक संप्रदायों के लिए एक स्पष्ट संदेश था कि बौद्ध धर्म को अब शाही दरबार का आशीर्वाद प्राप्त था। इस शाही स्वीकृति ने बौद्ध संघ के लिए विशाल संसाधनों और समर्थन के द्वार खोल दिए। अशोक ने संघ को वित्तीय सहायता प्रदान की, जिससे भिक्षुओं और मठों का भरण-पोषण सुनिश्चित हुआ।

अशोक के संरक्षण का सबसे प्रत्यक्ष और दृश्यमान प्रमाण पूरे साम्राज्य में स्तूपों और विहारों (मठों) का निर्माण था। सांची और भरहुत जैसे स्थानों पर निर्मित विशाल स्तूप, जो बुद्ध के अवशेषों को समाहित करते थे, बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण तीर्थस्थल बन गए। इन स्मारकों ने न केवल बौद्ध धर्म की भौतिक उपस्थिति को मजबूत किया बल्कि आम लोगों को भी इसकी ओर आकर्षित किया (शर्मा, 2005)। इसके अतिरिक्त, अशोक ने अपने प्रसिद्ध धम्म लेखों और स्तंभों के माध्यम से

बौद्ध शिक्षाओं का प्रसार किया। ये शिलालेख, जो साम्राज्य भर में रणनीतिक स्थानों पर उत्कीर्ण किए गए थे, धम्म के नैतिक सिद्धांतों को बढ़ावा देते थे, जिनमें से कई सीधे तौर पर बौद्ध धर्म के मूल्यों से जुड़े थे, जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और सद्भाव। इन लेखों ने बौद्ध विचारों को एक व्यापक दर्शक वर्ग तक पहुँचाने में मदद की, भले ही वे सीधे तौर पर बौद्ध धर्म का प्रचार न कर रहे हों।

भौगोलिक विस्तार : अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म का भौगोलिक विस्तार अप्रत्याशित गति से हुआ। उन्होंने न केवल भारत के भीतर बल्कि भारत से परे भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए दूतों और मिशनरियों को भेजा। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण उनके पुत्र महिंदा (और कुछ स्रोतों के अनुसार पुत्री संघमित्रा) को श्रीलंका भेजना है, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म की एक मजबूत नींव रखी (थापर, 2002)। पश्चिमी एशिया, मिस्र और यहाँ तक कि भूमध्य सागर तक के क्षेत्रों में भी अशोक के दूतों के जाने का उल्लेख मिलता है, हालांकि वहाँ बौद्ध धर्म ने स्थायी जड़ें नहीं जमाईं। राज्य नीति में बौद्ध आदर्शों का एकीकरण, विशेष रूप से अहिंसा और शांति पर जोर, ने अन्य देशों में अशोक के संदेश की स्वीकृति को सुगम बनाया, जिससे बौद्ध धर्म के लिए एक अनुकूल वातावरण बना।

मानकीकरण और आंतरिक समेकन : अशोक के संरक्षण में तीसरी बौद्ध संगीति (पाटलिपुत्र, लगभग 250 ईसा पूर्व) का आयोजन बौद्ध धर्म के मानकीकरण और आंतरिक समेकन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य संघ के भीतर उत्पन्न हुए सांप्रदायिक विवादों और विभाजनकारी प्रवृत्तियों को संबोधित करना था। मोग्गलिपुत्त तिस्स के नेतृत्व में, इस संगीति ने विभिन्न विद्यालयों के मतभेदों को सुलझाने और बौद्ध शिक्षाओं को संहिताबद्ध करने का प्रयास किया, विशेष रूप से थेरवाद परंपरा के सिद्धांतों को स्थापित किया (शर्मा, 2005)। हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि तीसरी संगीति का ऐतिहासिक विवरण और अशोक की इसमें भूमिका विद्वानों के बीच अत्यधिक बहस का विषय है। कुछ विद्वान इसकी ऐतिहासिकता पर संदेह करते हैं या अशोक की इसमें भूमिका को अतिरंजित मानते हैं, जबकि अन्य इसे बौद्ध धर्म के विकास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर मानते हैं। इस संगीति ने संघ के संगठन और संस्थागतकरण को मजबूत किया, जिससे बौद्ध धर्म एक अधिक संगठित और एकीकृत धार्मिक शक्ति के रूप में उभरा।

लोकप्रियकरण : अशोक के धम्म के नैतिक सिद्धांत, जैसे अहिंसा, सत्य, दया और दान, बौद्ध नैतिकता के साथ घनिष्ठ रूप से संरेखित थे। धम्म के इन सार्वभौमिक मूल्यों के शाही प्रचार ने बौद्ध धर्म को आम जनता के लिए अधिक सुलभ बना दिया। धम्म ने लोगों को सीधे तौर पर बौद्ध भिक्षु बनने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया, बल्कि उन्हें उन नैतिक आचरणों को अपनाने के लिए प्रेरित किया जो बौद्ध जीवनशैली के मूल में थे। इस प्रकार, धम्म ने बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों को एक व्यापक सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत किया, जिससे आम लोगों के लिए इसे समझना और अपनाना आसान हो गया, भले ही वे औपचारिक रूप से संघ में शामिल न हों।

बहस : क्या अशोक एक धर्म प्रचारक था या एक सार्वभौमिक नैतिकतावादी? अशोक के बौद्ध धर्म पर प्रभाव के संबंध में एक महत्वपूर्ण विद्वानों की बहस यह है कि क्या अशोक मुख्य रूप से एक धर्म प्रचारक (Proselytizer) थे जो बौद्ध धर्म को एक पंथ के रूप में फैलाना चाहते थे, या एक सार्वभौमिक नैतिकतावादी (Universal Moralist) थे जो केवल एक सामान्य नैतिक संहिता, धम्म, का प्रचार कर रहे थे?

रोमिला थापर (2002) जैसे विद्वान तर्क देते हैं कि अशोक का धम्म मुख्य रूप से एक सामाजिक-नैतिक संहिता थी जिसका उद्देश्य विविध और विशाल मौर्य साम्राज्य में एकता और स्थिरता लाना था। उनके अनुसार, अशोक का प्राथमिक लक्ष्य एक सुशासित समाज का निर्माण करना था, और बौद्ध सिद्धांत इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक साधन थे। वे अशोक को एक धर्मनिरपेक्ष शासक के रूप में देखते हैं जिसने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर दिया और बौद्ध धर्म को किसी अन्य धर्म पर तरजीह नहीं दी, हालांकि वह स्वयं बौद्ध थे।

इसके विपरीत, अन्य विद्वान, विशेष रूप से बौद्ध परंपरावादी व्याख्याओं पर आधारित, अशोक को एक ardent बौद्ध धर्मांतरित और संरक्षक के रूप में देखते हैं, जिन्होंने सक्रिय रूप से बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए काम किया। उनके अनुसार, स्तूपों का निर्माण, मिशनरियों को भेजना और तीसरी संगीति का आयोजन स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि अशोक बौद्ध धर्म को फैलाना चाहते थे। इस दृष्टिकोण के अनुसार, धम्म बौद्ध धर्म का ही एक लोकप्रिय संस्करण था, जिसका उद्देश्य आम जनता को बौद्ध मूल्यों से परिचित कराना था।

यह बहस अशोक के शिलालेखों की विभिन्न व्याख्याओं

पर आधारित है, जो कभी-कभी अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। यह संभावना है कि अशोक के इरादों में दोनों पहलू शामिल थे : वह एक धर्मनिष्ठ बौद्ध थे जिसने अपने व्यक्तिगत विश्वासों से प्रेरित होकर एक नैतिक समाज का निर्माण करना चाहा, और इस प्रक्रिया में बौद्ध धर्म को एक अप्रत्याशित बढ़ावा मिला।

जैन धर्म पर प्रभाव

अशोक के धम्म का जैन धर्म पर प्रभाव बौद्ध धर्म से भिन्न और काफी हद तक अप्रत्यक्ष था। जहाँ बौद्ध धर्म को अशोक के प्रत्यक्ष शाही संरक्षण और प्रचार से अद्वितीय लाभ हुआ, वहीं जैन धर्म ने धम्म द्वारा बनाए गए नैतिक और सहिष्णु वातावरण से लाभ उठाया।

धम्म के अप्रत्यक्ष लाभ : अशोक के धम्म का सबसे महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष लाभ अहिंसा पर जोर था, जो जैन दर्शन के साथ गहराई से मेल खाता था। जैन धर्म का मूल सिद्धांत ही अहिंसा पर आधारित है, जिसमें न केवल मनुष्यों के प्रति बल्कि सभी जीवित प्राणियों (जीवों) के प्रति हिंसा से बचना शामिल है (जैनी, 1998)। अशोक के शिलालेखों में पशु बलि पर प्रतिबंध और जीवों के प्रति दया पर जोर, जैनियों के लिए एक अनुकूल वातावरण निर्मित करता था। यह राजकीय नीति, जो धम्म का अभिन्न अंग थी, सीधे तौर पर जैन सिद्धांतों के अनुरूप थी और इससे जैन समुदाय को सामाजिक और नैतिक वैधता मिली।

इसके अतिरिक्त, अशोक द्वारा अपनी प्रजा के लिए अपनाई गई धार्मिक सहिष्णुता (जैसा कि उनके शिलालेखों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है) ने जैन समुदायों की रक्षा की। अशोक ने सभी संप्रदायों के प्रति सम्मान पर जोर दिया और किसी भी धार्मिक समूह के उत्पीड़न को हतोत्साहित किया। यह सहिष्णुता नीति जैनियों के लिए सुरक्षा कवच प्रदान करती थी, जिससे उन्हें बिना किसी शाही हस्तक्षेप या उत्पीड़न के अपनी प्रथाओं का पालन करने की अनुमति मिली। नैतिक आचरण और त्यागी लोगों (श्रमणों) के प्रति सम्मान का सामान्य प्रचार सभी श्रमण परंपराओं, जिसमें जैन धर्म भी शामिल है, को लाभान्वित किया। अशोक के आदेशों ने समाज में साधुओं और तपस्वियों के प्रति सम्मान का भाव बढ़ाया, जिससे जैन भिक्षुओं और साध्वियों को भी सम्मान मिला।

प्रत्यक्ष राजकीय संरक्षण का अभाव : बौद्ध धर्म के विपरीत, अशोक द्वारा जैन धर्म को विशिष्ट शाही संरक्षण प्रदान करने का बहुत कम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अशोक के शिलालेखों में बुद्ध, धम्म और संघ के प्रति उनकी व्यक्तिगत श्रद्धा का उल्लेख मिलता है, लेकिन जैन तीर्थंकरों या जैन मठों के लिए विशिष्ट दान या निर्माण का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। हमें जैन मंदिरों के निर्माण या जैन भिक्षुओं को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता के कोई बड़े पैमाने के प्रमाण नहीं मिलते, जैसा कि बौद्ध संघ के मामले में था।

महत्वपूर्ण बात यह है कि जैन स्रोत आम तौर पर अशोक को एक प्रमुख संरक्षक के रूप में चित्रित नहीं करते हैं, जैसा कि बौद्ध इतिवृत्त करते हैं। जैन परंपराओं में अशोक के जैन धर्म से जुड़ने या उसके बड़े पैमाने पर संरक्षण का कोई प्रमुख उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ जैन ग्रंथों में चंद्रगुप्त मौर्य (अशोक के दादा) को अपने जीवन के अंत में जैन धर्म अपनाने और कर्नाटक जाने का उल्लेख है, जो जैन धर्म में मौर्यों की रुचि का एक महत्वपूर्ण संदर्भ बिंदु है, लेकिन यह अशोक के प्रत्यक्ष संरक्षण को नहीं दर्शाता। यह विरोधाभास इंगित करता है कि अशोक का बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव स्पष्ट था, जबकि जैन धर्म के प्रति उनका रुख अधिक सामान्य सहिष्णुता और सम्मान का था।

संभावित चुनौतियाँ/अंतर : जैन धर्म की प्रकृति भी अशोक के धम्म के व्यापक प्रचार के लिए कुछ संभावित चुनौतियाँ या अंतर प्रस्तुत करती थी।जैन धर्म की सख्त तपस्या और व्यक्तिगत मुक्ति पर जोरअक्सर बौद्ध धर्म की व्यापक अपील की तुलना में व्यापक राज्य-प्रायोजित प्रचार के लिए कम अनुकूल हो सकता था। जहाँ बौद्ध धर्म ने गृहस्थों के लिए भी अपेक्षाकृत सरल नैतिक सिद्धांतों का प्रस्ताव रखा, वहीं जैन धर्म की साधनाएँ, जैसे कि उपवास और कठोर शारीरिक तपस्या, आम जनता के लिए कठिन थीं।

इसके अतिरिक्त, कठोर आत्म-शुद्धि पर जैन ध्यान बनाम सामाजिक नैतिकता पर अशोक का ध्यान एक वैचारिक अंतर प्रस्तुत करता था। अशोक का धम्म मुख्य रूप से एक सामाजिक सद्भाव और नैतिक शासन पर केंद्रित था, जिसका उद्देश्य साम्राज्य में व्यवस्था बनाए रखना था। जैन धर्म का प्राथमिक लक्ष्य व्यक्तिगत आत्मा की शुद्धि और कर्म के बंधनों से मुक्ति था। यद्यपि दोनों में अहिंसा एक साझा मूल्य था, जैन धर्म का अंतिम लक्ष्य व्यक्तिगत मोक्ष था, जबकि अशोक का धम्म एक व्यापक सामाजिक उद्देश्य की सेवा करता था।

निरंतर उपस्थिति और लचीलापन : अशोक के प्रत्यक्ष संरक्षण की कमी के बावजूद, जैन धर्म कुछ क्षेत्रों में फलता-

फूलता रहा, विशेष रूप से मगध, कलिंग और दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में। यह इस बात का प्रमाण है कि इसे अशोक के शासनकाल में दबाया नहीं गया था और धम्म द्वारा बढ़ावा दिए गए धार्मिक स्वतंत्रता के सामान्य माहौल से इसे लाभ हुआ। जैन समुदाय अशोक की सहिष्णुता नीति के तहत स्वतंत्र रूप से अपनी धार्मिक गतिविधियों का अभ्यास कर सकता था।

जैन धर्म का लचीलापन उसकी मजबूत सामुदायिक संरचना और आत्मनिर्भरता पर जोर से उपजा था। जैन धर्म, बौद्ध धर्म के विपरीत, शाही संरक्षण पर उतना निर्भर नहीं था। जैन समुदाय ने हमेशा अपने स्वयं के संसाधनों और प्रयासों के माध्यम से अपने संस्थानों (मठों, मंदिरों) और भिक्षुओं का समर्थन किया है। यह आत्मनिर्भरता उन्हें शाही संरक्षण के अभाव में भी पनपने में सक्षम बनाती थी। इस प्रकार, अशोक के धम्म ने जैन धर्म को सीधे तौर पर विस्तारित नहीं किया, लेकिन इसने एक ऐसा वातावरण प्रदान किया जिसमें यह बिना किसी बाधा के विकसित हो सका, और अपनी आंतरिक शक्ति पर निर्भर रहकर अपनी निरंतरता सुनिश्चित कर सका।

धम्म की आलोचनाएँ और सीमाएँ

अशोक के धम्म की अवधारणा और उसके कार्यान्वयन को विभिन्न विद्वानों ने कई दृष्टिकोणों से देखा है, और इसकी प्रभावशीलता, स्थिरता और अंतर्निहित प्रेरणाओं पर महत्वपूर्ण बहसें रही हैं।

प्रभावशीलता : धम्म की एक प्रमुख आलोचना इसकी वास्तविक प्रभावशीलता पर केंद्रित है। यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या धम्म समाज के गहरे स्तरों तक पहुँच पाया और वास्तव में आम लोगों के व्यवहार में कोई स्थायी परिवर्तन ला पाया? यद्यपि अशोक ने धम्म महामात्तों को नियुक्त किया और शिलालेखों के माध्यम से धम्म का प्रचार किया, यह निश्चित नहीं है कि क्या ये संदेश केवल शासक के आदेश तक सीमित थे या उन्होंने लोगों के दैनिक जीवन और नैतिक आचरण में वास्तविक बदलाव लाए। कुछ विद्वानों का मानना है कि धम्म का प्रभाव मुख्यत: कुछ शहरी केंद्रों और राजशाही के प्रत्यक्ष प्रभाव वाले क्षेत्रों तक ही सीमित रहा होगा (थापर, 2002)। विशाल और विविध साम्राज्य में एक समान नैतिक संहिता को लागू करना एक बड़ी चुनौती थी, और अशिक्षा तथा संचार की कमी जैसे कारकों ने इसके प्रसार को बाधित किया होगा।

स्थिरता : धम्म की स्थिरता भी एक चिंता का विषय है। क्या धम्म अशोक के बाद भी जीवित रहा? ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि अशोक की मृत्यु (लगभग 232 ईसा पूर्व) के बाद धम्म का प्रभाव तेजी से पतन की ओर अग्रसर हुआ। उनके उत्तराधिकारियों ने शायद धम्म की उनकी अवधारणा को समान उत्साह या समर्पण के साथ जारी नहीं रखा। मौर्य साम्राज्य का पतन भी धम्म की गिरावट के साथ हुआ, जिससे पता चलता है कि धम्म की सफलता काफी हद तक अशोक के व्यक्तिगत करिश्मा और शाही शक्ति पर निर्भर थी। यह एक स्थायी संस्थागत ढांचे का रूप नहीं ले पाया जो उसके निर्माता की अनुपस्थिति में भी बना रहता (शर्मा, 2005)।

व्याख्या और प्रेरणा : अशोक के धम्म की प्रकृति और उनकी प्रेरणाओं की व्याख्याभी एक जटिल मुद्दा है। क्या धम्म वास्तव में एक वास्तविक आध्यात्मिक प्रयास था, जो कलिंग युद्ध के पश्चाताप से उपजा था, या यह मुख्य रूप से शाही नियंत्रण के लिए एक राजनीतिक उपकरण था? कुछ इतिहासकार तर्क देते हैं कि अशोक का धम्म एक चतुर राजनीतिक रणनीति थी जिसका उद्देश्य एक विशाल और विविध साम्राज्य को एकीकृत करना था। धम्म के सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांत, जो किसी विशिष्ट धर्म से बंधे नहीं थे, ने विभिन्न धार्मिक और जातीय समूहों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में मदद की होगी, जिससे विद्रोह और अशांति को कम किया जा सके (थापर, 2002)। इस दृष्टिकोण के अनुसार, धम्म का नैतिक आवरण राजनीतिक उद्देश्यों को छिपाने का एक तरीका हो सकता है।

विद्वानों की बहस : इन सवालों ने अशोक की प्रेरणाओं और धम्म की सफलता की इतिहासकारों की विभिन्न व्याख्याओं को जन्म दिया है। जहां कुछ विद्वान अशोक को एक आदर्शवादी शासक और धर्मनिरपेक्ष नैतिकतावादी के रूप में देखते हैं, वहीं अन्य उन्हें एक व्यावहारिक राजनेता मानते हैं जिसने अपने साम्राज्य को मजबूत करने के लिए धम्म का उपयोग किया। इन बहसों के बावजूद, यह निर्विवाद है कि अशोक का धम्म प्राचीन भारतीय इतिहास में एक अद्वितीय प्रयोग था, जिसने नैतिक शासन और सामाजिक कल्याण के एक नए प्रतिमान को प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

निष्कर्ष

अशोक का धम्म प्राचीन भारतीय इतिहास में एक असाधारण पहल थी, जो केवल एक राजनीतिक फरमान से कहीं अधिक थीय यह एकअद्वितीय नैतिक और सामाजिक संहिता थी जिसका उद्देश्य एक नैतिक रूप से उन्नत और सुसंगठित समाज का

निर्माण करना था (थापर, 2002)। कलिंग युद्ध की भयावहता के बाद, अशोक ने अपनी विजय की नीति को त्याग दिया और शांति व नैतिक मूल्यों के प्रचार पर ध्यान केंद्रित किया, जिसे उन्होंने धम्म के रूप में परिभाषित किया।

इस धम्म का बौद्ध धर्म पर गहरा और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। अशोक के व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म अपनाने और उनके विशाल राज्य संरक्षण ने बौद्ध संघ को अभूतपूर्व प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान की। उन्होंने संघ को वित्तीय सहायता दी, पूरे साम्राज्य में स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया, और अपने शिलालेखों के माध्यम से बौद्ध-प्रेरित नैतिक सिद्धांतों का प्रसार किया। अशोक के मिशनरी गतिविधियों ने, विशेष रूप से श्रीलंका जैसे क्षेत्रों में, बौद्ध धर्म को भारत की सीमाओं से परे एक विश्व धर्म के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अतिरिक्त, तीसरी बौद्ध संगीति के माध्यम से संस्थागत समर्थन ने बौद्ध धर्म के आंतरिक समेकन और मानकीकरण में योगदान दिया, हालाँकि इस पर विद्वत्तापूर्ण बहस जारी है (शर्मा, 2005)।

वहीं, जैन धर्म पर धम्म का प्रभाव अप्रत्यक्ष लेकिन महत्वपूर्ण था। अशोक के धम्म के मूलभूत सिद्धांत, विशेष रूप से अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता, जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के साथ गहरे रूप से मेल खाते थे। यद्यपि जैन धर्म को बौद्ध धर्म जैसा प्रत्यक्ष शाही संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ, धम्म के वातावरण ने सभी श्रमण परंपराओं के लिए एक सुरक्षित और सम्मानजनक स्थान बनाया। इसने जैन समुदाय को उत्पीड़न से बचाया और उनके नैतिक मूल्यों को समाज में अधिक स्वीकार्यता प्रदान की।

अशोक की विरासत इसलिए केवल एक महान सम्राट की नहीं है, बल्कि एक दूरदर्शी की है जिसने एक न्यायपूर्ण और नैतिक समाज की कल्पना की। उनके धम्म ने प्राचीन भारत के धार्मिक परिदृश्य को आकार देने में एक निर्णायक भूमिका निभाई, विशेष रूप से बौद्ध धर्म को एक वैश्विक आंदोलन में बदलने में। भले ही धम्म अशोक की मृत्यु के बाद अपनी केंद्रीयता खो गया, इसके सिद्धांत और अशोक का आदर्श नैतिक शासन आज भी हमें प्रेरित करता है।

सहायक प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग
आर.एन.वाई.एम. महाविद्यालय, बरही
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

सन्दर्भ सूची

- ⋆ जैनी, पद्मनाभ एस. (1998). द जैना पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
- ⋆ थापर, रोमिला (2002). असोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्यास। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- ⋆ शर्मा, आर.एस. (2005). इंडियाज एन्शियंट पास्ट। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- ⋆ गोखले, बी.जी. (1994). बुद्धिज्म इन महाराष्ट्र : ए हिस्ट्री। पॉपुलर प्रकाशन। (हालांकि क्षेत्रीय, बौद्ध प्रसार के लिए संदर्भ प्रदान करता है)
- ⋆ चक्रवर्ती, रणबीर (2007). ट्रेड एंड ट्रेडिंग नेटवर्क्स इन एन्शियंट इंडिया। परमानेंट ब्लैक। (यह पुस्तक व्यापक सामाजिक संदर्भ को समझने के लिए उपयोगी हो सकती है, धम्म पर सीधे कम, लेकिन आर्थिक जीवन के लिए प्रासंगिक जिसे धम्म ने छुआ था)
- ⋆ जैनी, पद्मनाभ एस. (1998). द जैना पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
- ⋆ थापर, रोमिला (2002). असोक एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्यास। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- ⋆ शर्मा, आर.एस. (2005). इंडियाज एन्शियंट पास्ट। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- ⋆ शास्त्री, के.ए. नीलकंठ (1988). एज ऑफ द नंदस एंड मौर्यास। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।

शोध-पत्र

भोटिया जनजाति में सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता

नरेश सिंह ग्वाल*

प्रस्तावना :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत: वह मानव समूह व सामाजिक समूह में रहना पसंद करता है। इन्हीं सामाजिक समूहों के संगठन को समाज कहते हैं। समाज के ये संगठित समूह समान हितों और समान नेतृत्व के आधार पर इसका निर्माण करते हैं। जनजातीय समाजों में या सरल समाजों में किसी व्यक्ति, समाज में स्थान, उसके अधिकार और कर्तव्य, संपत्ति पर अधिकार प्राय: दूसरे सदस्यों के साथ उसके जन्मजात सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं। इन समाजों की संरचना के मुख्य तत्व कुल, समूह, गोत्र, तथा युग्म संगठन हैं, साथ ही जनजातियों के सामाजिक संरचना एवं उनके संगठन के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों, समाजशास्त्रियों, मानव वैज्ञानिकों द्वारा व्याख्या की गई हैं।

भारत की अनेक जनजातियाँ इसी प्रकार से सामाजिक गतिशीलता के दौर में है, जिससे उनकी शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति ही विशिष्टता में अनेक परिवर्तन हुए हैं। देश में औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा, नवीन संचार के साधन, परिवहन के आधुनिक साधन, एवं पश्चिमी सभ्यता के संपर्क के कारण जनजातियों में सामाजिक गतिशीलता की गतिविधि में तीव्रता आयी है। जनजातियों का अन्य जातियों से संपर्क हुआ है। भारत की विभिन्न जनजातियों में सामाजिक गतिशीलता की स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सम्पूर्ण देश में जनजातियों की शैक्षणिक स्थिति में सुधार हेतु भारतीय योजनाकारों, नियोजकों एवं राजनीतिज्ञों के द्वारा विभिन्न सरकारी प्रयास किये गये।

किसी समाज या समूह के जीवन-यापन का तरीका ही संस्कृति है। जिसमें उस समूह के सभी भौतिक व अभौतिक अवयव सम्मलित हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रेषित होते हैं। टायलर महोदय ने इसे जटिल सम्पूर्णता जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा आदि अन्य वे सभी क्षमताएं और आदतें जो मानव द्वारा समाज के एक सदस्य के रूप में अर्जित की जाती हैं सम्मिलित हैं, के रूप में परिभाषित किया है। क्रोबर एवं क्लक्होन इसे व्यवहार के व्यक्त अथवा अव्यक्त पैटर्न, जो प्रतीक के रूप में उपार्जित व संप्रेषित किये जाते हैं। संस्कृति का आवश्यक सार परम्परागत धारणाओं व मूल्यों में निहित रहता है। हॉर्टन एवं हण्ट ने संस्कृति को वह सब जो समाज में रहकर सीखा जाता है तथा समाज के सदस्यों द्वारा जिसका अनुसरण किया जाता है, के रूप में परिभाषित किया है। ब्रूम एवं सेल्जनिक के अनुसार संस्कृति का अभिप्राय सामाजिक विरासत से है। मैलिनोस्की ने वर्णन किया है कि शरीर पोषण, सन्तानोत्पत्ति, शारीरिक आराम, सुरक्षा, गति, वृद्धि और स्वास्थ्य, मनुष्य की सात आधारभूत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि प्रत्येक संस्कृति करती है।

भौतिक संस्कृति में सभी मानव निर्मित भौतिक व नैसर्गिक वस्तुएं होती हैं। जैसे संचार के साधन, मशीनें, औषधियाँ, कलात्मक वस्तुएं जो लोगों द्वारा अपनी सुख-सुविधा, प्रकृति से आत्मरक्षा करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। यद्यपि वे उनके द्वारा निर्मित भले ही न हो। अभौतिक संस्कृति में सभी मानव निर्मित मानदंड, विचार, रूढ़ियाँ, तकनीकी कौशल, ज्ञान, आस्थाएं अभिवृत्तियां तथा भाषायें हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाई जाती हैं। इस प्रकार क्रिकेट में बल्ले, गेंद, स्टम्प, दस्ताने, आदि भौतिक संस्कृति के अंग हैं, जबकि अभौतिक

संस्कृति में शामिल होंगे खेल के नियम, खिलाड़ियों के कौशल, खिलाड़ियों व दर्शकों का पारम्परिक व्यवहार, भौतिक संस्कृति सदैव अभौतिक संस्कृति के परिणाम होती है तथा उसके बिना निरर्थक होती है।

संस्कृति ज्ञान के किसी विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित नहीं होती। इसमें मानवीय गतिविधियों के संपूर्ण क्षेत्र से निकाले हुए व्यवहार के तरीके शामिल हैं। भारतीय जनजातियों जैसे रोंग्पा, संथाल, मुण्डा आदि के रहने के प्रत्यक्ष डिजाइन उनकी संस्कृति के उसी प्रकार से भाग हैं, जैसे विकसित भारतीयों अथवा अमेरिकन अथवा यूरोपियन के संस्कृति में केवल कला, संगीत व साहित्य की तकनीकी व विधियां ही शामिल नहीं होतीं बल्कि वे तकनीकी व विधियाँ भी शामिल होती हैं, जो भवन बनाने, कार बनाने अथवा कपड़े सीने में उपयोग में लाई जाती हैं।

जनजातीय समाज में ''धर्म विश्वास तथा संस्कारों का संकलन'' है जिसमें धार्मिक संस्कार परिस्थितिनुसार गत्यात्मक प्रवृत्ति के लिए होते हैं। किसी भी समुदाय में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का उसकी सामाजिक गतिशीलता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

शोध प्रारूप

प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक शोध प्ररचना पर केन्द्रित है। इसमें जनपद पिथौरागढ़ के धारचूला ब्लॉक के दारमा घाटी में निवासित 303 जनजाति परिवार मुखियाओं से सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीलता की स्थिति का अध्ययन किया गया है।

स्वनिर्मित साक्षात्कार अनुसूची एवं वैयक्तिक संपर्क के आधार पर प्राथमिक एवं द्वितीयक तथ्यों हेतु उपलब्ध साहित्य, सम्बंधित आलेख एवं शोध ग्रंथों का प्रयोग किया गया।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य भोटिया जनजाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयामों पर मूल्यांकन करना है। अत: भोटिया (रं) जनजाति में सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता से संबंधित तथ्यों को निम्नलिखित तालिकाओं के माध्यम से समझाया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम उनकी वर्तमान स्थिति से प्राप्त तथ्य निम्नवत पाए गये।

तालिका क्रमांक-1

भोटिया जनजाति की वर्तमान स्थिति सम्बन्धी प्रत्युत्तर

क्र.सं.	प्रत्युत्तर का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	निम्न	70	23.44
2	सामान्य	133	43.56
3	अच्छी	66	21.66
4	बहुत अच्छी	34	11.34
5	**योग**	**303**	**100**

उपर्युक्त सारणी भोटिया जनजाति की वर्तमान स्थिति से सम्बन्धित है। सारणी के विश्लेषण से यह तथ्य परिलक्षित होता है कि 23.44 प्रतिशत उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति निम्न है। 43.56 प्रतिशत उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति सामान्य है। 21.66 प्रतिशत उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति अच्छी है। 11.34 प्रतिशत उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति बहुत अच्छी है। अत: कहा जा सकता है कि सर्वाधिक उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति सामान्य है, जबकि न्यूनतम उत्तरदाताओं की वर्तमान स्थिति बहुत अच्छी है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। किसी भी समाज में हो यह अवश्यम्भावी है, अत: भोटिया जनजाति में भी इसके अवयव दिखाई देते हैं। परिवर्तित सम्बन्धी विचारों को निम्न तथ्यों द्वारा परिलक्षित किया गया है।

तालिका क्रमांक-2

भोटिया जनजाति समाज वर्तमान में परिवर्तित होने सम्बन्धी प्रत्युत्तर

क्र.सं.	प्रत्युत्तर का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	सहमत	169	55.90
2	असहमत	102	33.66
3	अर्द्धसहमत	21	7.00
4	तटस्थ	11	3.65
5	**योग**	**303**	**100**

उपर्युक्त सारणी भोटिया जनजाति समाज वर्तमान में परिवर्तित हो रहे हैं, से संबंधित है। सारणी के विश्लेषण से यह तथ्य परिलक्षित होता है कि 55.90 प्रतिशत भोटिया जनजाति समाज इस बात से सहमत है कि भोटिया जनजाति समाज वर्तमान में परिवर्तित हो रहे हैं। 33.66 प्रतिशत भोटिया जनजाति

समाज इस बात से असहमत हैं, उनका मानना यह है कि भोटिया जनजाति समाज वर्तमान में परिवर्तित नही हो रहे हैं। 7.00 प्रतिशत भोटिया जनजाति समाज इस बात से अर्द्धसहमत हैं। 3.65 प्रतिशत भोटिया जनजाति समाज इस बात पर तटस्थ रहे। अत: कहा जा सकता है कि सर्वाधिक उत्तरदाता इस बात से सहमत है कि भोटिया जनजाति समाज वर्तमान में परिवर्तित हो रहे हैं, जबकि न्यूनतम उत्तरदाता तटस्थ रहे।

गतिशीलता समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु है। इसका सीधा सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन से है। वर्तमान में देखा जा रहा है कि जिस सामाजिक मूल्य व परिवेश में व्यक्ति पैदा होता है, उससे भिन्न स्थिति में वह जीवन यापन करता है और खुलेपन से जीवन जीने की इच्छा ने व्यक्ति को महत्वाकांक्षी बना दिया है। इस बात को भोटिया (रं) जनजाति के लोगों में भी अनुभव किया जा रहा है। परिवारों का विघटन हो रहा है, ऐसा सर्वाधिक उत्तरदाताओं द्वारा माना जाना इसकी पुष्टि करता है। पारिवारिक विघटन सम्बन्धी तथ्य निम्नवत् है।

तालिका क्रमांक-3

परिवार के विघटित स्वरूप सम्बन्धी प्रत्युत्तर

क्र.सं.	प्रत्युत्तर का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	139	45.67
2	नहीं	74	24.34
3	थोड़ा बहुत	48	15.99
4	बहुत अधिक	42	14.00
5	**योग**	**303**	**100**

उपर्युक्त सारणी क्या वर्तमान में आप परिवार के विघटित स्वरूप को देख रहे हैं, से संबंधित है। सारणी के विश्लेषण से यह तथ्य परिलक्षित होता है कि 45.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने हाँ कहा कि वर्तमान परिवार के विघटित स्वरूप को देख रहे हैं। 24.34 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने नहीं कहा कि वर्तमान परिवार के विघटित स्वरूप को नही देख रहे हैं। 15.99 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि वर्तमान परिवार में विघटन थोड़ा बहुत हो रहा है। 14.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि वर्तमान परिवार में विघटन बहुत अधिक हो रहा है। अत: स्पष्ट है कि सर्वाधिक उत्तरदाताओं ने पारिवारिक विघटन के स्वरुप को स्वीकार कर गतिशील प्रक्रिया को दर्शाया है।

प्राचीन कालीन विवाह, परम्परागत व माता-पिता की इच्छा को सर्वोच्च स्थान देने वाले होते थे जिसमें वैयक्तिक इच्छा गौण होती थी। वर्तमान में प्रत्येक समाज में वैवाहिक दृष्टिकोण भी परिवर्तित दिखायी पड़ रहे हैं। आज विवाह दो परिवारों के बीच नहीं बल्कि दो व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध अधिक हो गये हैं। शिक्षा का प्रसार, विज्ञापन, संचार साधन, आधुनिकता आदि अनेक कारणों से पूर्व प्रचलित वैवाहिक स्थितियाँ परिवर्तित हो रही हैं। इस सम्बन्ध में चयनित उत्तरदाताओं की प्रतिक्रिया निम्नवत् पायी गयी।

तालिका क्रमांक-4

वैवाहिक स्थितियाँ परिवर्तित सम्बन्धी प्रत्युत्तर

क्र.सं.	प्रत्युत्तर का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	124	40.67
2	नहीं	62	20.33
3	थोड़ा बहुत	60	20.00
4	बहुत अधिक	57	19.00
5	**योग**	**303**	**100**

उपरोक्त प्राप्त तथ्यों विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक 40.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने वैवाहिक स्थितियों में परिवर्तन को स्वीकार किया है जब कि 20.33, 20.00 तथा 19.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने क्रमश: नहीं, थोड़ा बहुत तथा बहुत अधिक में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

इस जनजाति में अन्य बोली/भाषा का प्रभाव सामाजिक गतिशीलता को दर्शाता है, जो कि इतना ही नहीं इसके लिए विभिन्न कारकों को इसके लिए जिम्मेदार भी माना है जो निम्नवत् स्पष्ट है।

तालिका क्रमांक-5

अन्य बोलीध्भाषा के प्रभाव के लिए उत्तरदायी कारक सम्बन्धी प्रत्युत्तर

क्र.सं.	प्रत्युत्तर का स्वरूप	आवृत्ति	प्रतिशत
1	शिक्षित होना	90	29.70
2	अन्य समाजों से सम्पर्क	121	39.93
3	प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए	67	22.11
4	आवश्यकता के लिए	25	8.26
5	**योग**	**303**	**100**

उक्त सारणी के विश्लेषण से यह तथ्य परिलक्षित होता है कि 29.70 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने शिक्षित होने को उत्तरादायी

कारक माना है। 39.93 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अन्य समाजों से सम्पर्क को, 22.11 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने केवल प्रतिष्ठा के लिए तथा 8.26 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि यह वर्तमान आवश्यकता है। अत: कहा जा सकता है कि सर्वाधिक उत्तरदाताओं ने अन्य समाजों से सम्पर्क होने के उत्तरदायी कारक को बताया है, जबकि न्यूनतम उत्तरदाताओं ने कहा कि केवल आवश्यकता के लिए उत्तरदायी कारक है।

निष्कर्ष

अत: उपरोक्त तथ्यों के आधार पर उत्तरदाताओं के द्वारा दिए गये प्रत्युतरों से स्पष्ट होता है कि भोटिया जनजाति की वर्तमान स्थिति बहुत समृद्ध न होकर केवल सामान्य स्थिति परिलक्षित होता है। इन्होंने अभी भी अपनी प्राचीन संस्कृति को संरक्षित किया है। परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अत: भोटिया जनजाति समाज में परिवर्तन देखने को मिलता है। पूर्व में यह समाज अपने आप को अक्षुण रखे हुये थे। आज अन्य क्षेत्रों के (हिन्दू आदि) समाज के सम्पर्क में आ रहे हैं और इस समाज में आंशिक रूप से समाहित हो रहा है। परिवारों के स्वरूपों में परिवर्तन आ रहे हैं। यह परिवर्तन समय के अनुरूप हो रहे हैं तथा इन समाजों में वैवाहिक स्थितियों भी परिवर्तन को देखा गया है। अन्तर्जातीय विवाह को उतनी स्वीकार्यता नहीं मिली है परन्तु वर्तमान समय में इसे व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जा रहा है। समय परिवर्तन के साथ इस समाज के लोगों में परम्परागत परिधानों के प्रति रूचि में कमी देखी गयी है।

इस जनजाति के बोली-भाषा में अन्य भाषा अंग्रेजी, हिन्दी व कुमाऊँनी आदि के प्रभाव दिखाई देते हैं। पूर्व के बड़े-बुजुर्ग व्यक्ति जितनी शुद्धता के साथ अपनी बोली को बोलते थे उतनी वर्तमान पीढ़ी नहीं बोल पाती है। इसका प्रमुख कारक इस जनजाति के व्यक्तियों का अन्य समाजों से सम्पर्क अधिक बढ़ना है। यह वर्तमान समय में परिवर्तन के साथ-साथ गतिशीलता के कारण हुआ है। इस प्रकार भोटिया जनजाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सामाजिक गतिशीलता पर्याप्त मात्रा देखा जा सकता है।

***शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग,**
पं. बद्री दत्त पांडे परिसर (बागेश्वर)

****डॉ. अनीता बिष्ट**
शोध निर्देशिका, समाजशास्त्र विभाग,
राजकीय महाविद्यालय दोषापानी (नैनीताल)

संदर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, विजय शंकर एवं शर्मा, विजय प्रकाश (2002), भारत की जनजातीय संस्कृति, सप्तम संस्करण, हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृ.स.- 50-51
2. विद्यार्थी, एल.पी. और राज, बी.के. (1977), भारत में जनजातीय संस्कृति, पृ.स.-29
3. उपाध्याय, विजय शंकर एवं शर्मा, विजय प्रकाश (1993), भारत की जनजातीय संस्कृति, द्वितीय संस्करण, हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृ.स.- 88-89
4. आहूजा, राम एवं मुकेश आहूजा, (2013), 'समाजशास्त्र : विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य', रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ.स.-247
5. आहूजा, राम एवं मुकेश आहूजा, (2013), 'समाजशास्त्र : विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य', रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ.सं.- 248-49
6. दुर्खीम, इमाईल, (1915), एलीमेंट्री फॉर्म्स ऑफ रिलीजीयस लाइफ, कैरियर बुक्स न्यूयार्क, पृ.सं. 58
7. एन्डर्सन, सी. ए., (1961), ए स्पेशल नोट ऑन द रिलेशन ऑफ वर्टीकल मोबिलिटी टू एजुकेशन, पृ.सं. 288

प्रो. राम किशोर यादव

मन्नू भंडारी की कहानियों में संवेदना के विविध रूप

शोध-सार : मन्नू भंडारी की कहानियों में संवेदना के विविध रूप मिलते हैं। पूर्णत: और भली प्रकार से किसी भाव को जानना ही संवेदना है। मन्नू भंडारी की कहानियाँ अपने परिवेश की उपज हैं। उसमें विविधता है। इन सभी कहानियां का सामाजिक संदर्भ स्पष्ट है। इसमें मार्मिकता, गंभीरता, चेतनशीलता एवं संवेदनशीलता के अलग-अलग रंग विद्यमान हैं। इन कहानियों का मूल स्वर सामाजिक है। समाज में घटित हो रहे सभी प्रकार की गतिविधियों का विविध स्वरूप कहानी में चित्रित है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक समस्याओं का जीवन्त दस्तावेज है। इनमें समय, स्थान, परिवेश, जल, जंगल, जमीन, यथार्थ एवं मिट्टी की महक विद्यमान है। ये कहानियां बहुत कुछ कहती हैं। जीवन के प्रत्येक पक्षों को उद्घाटित करती हैं, ये हमें सोचने पर विवश करती हैं। ये परेशान करती हैं, करुणा जगाती हैं। यथार्थ से रूबरू कराती हैं। इन्हें पढ़कर समाज के भीतर घटित हो रहे क्रिया-व्यापारों को समझा जा सकता है।

मन्नू भंडारी की कहानियों में व्यापकता एवं गहराई है। जीवन को हर क्षण देखा गया है, परखा गया है। जीवन में संघर्ष का जो रूप उभरता है वही सब कुछ कहानियों में मौजूद है। मन्नू भंडारी ने पांच कहानी संग्रह रचे हैं। इन सभी में विषय की विविधता है। संवेदना के विविध रूप विद्यमान हैं। जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेटा गया है। इनमें परिवेश की गूंज एवं सजगता है। इसी के बीच व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया गया है। मन्नू भंडारी का प्रथम कहानी संग्रह 'मैं हार गई' सन् 1957 ई. में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय कहानी संग्रह 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' का प्रकाशन वर्ष सन् 1959 ई. है। तृतीय कहानी संग्रह 'यही सच है' का प्रकाशन वर्ष 1966 ई. है। चतुर्थ कहानी संग्रह 'एक प्लेट सैलाब' का प्रकाशन 1978 ई. में हुआ है। पांचवां कहानी संग्रह 'त्रिशंकु' 1978 में प्रकाशित हुआ। इन सभी संग्रहों के अतिरिक्त 'आंखों देखा झूठ' का प्रकाशन 1976 ई. में हुआ।

जीवन में घटित हो रहे क्रिया-व्यापारों का लेखा-जोखा इन सभी कहानी संग्रह में दर्ज है। कहानी में घुटन, संत्रास, गरीबी, पीड़ा का भाव अधिक मिलता है। इसमें शहरी मानवीयता के चित्रा हैं।

'मैं हार गई' कहानी संग्रह में 12 कहानियां संग्रहित हैं। इन सभी कहानियों की संवेदना का विश्लेषण करना इस लेख में संभव नहीं है परन्तु कुछ कहानियों की संवेदना का चित्रण अवश्य करूंगा। इनमें 'ईसा के घर इंसान', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'कील और कसक' तथा 'मैं हार गई' कहानी प्रमुख हैं।

मन्नू भंडारी की कहानियों में संवेदना के विविध रूप मिलते हैं। पूर्णत: और भली प्रकार से किसी भाव को जानना ही संवेदना है। मन्नू भंडारी की कहानियाँ अपने परिवेश की उपज हैं। उसमें विविधता है। इन सभी कहानियां का सामाजिक संदर्भ स्पष्ट है। इसमें मार्मिकता, गंभीरता, चेतनशीलता एवं संवेदनशीलता के अलग-अलग रंग विद्यमान हैं। इन कहानियों का मूल स्वर सामाजिक है। समाज में घटित हो रहे सभी प्रकार की गतिविधियों का विविध स्वरूप कहानी में चित्रित है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक समस्याओं का जीवन्त दस्तावेज है। इनमें समय, स्थान, परिवेश, जल, जंगल, जमीन, यथार्थ एवं मिट्टी की महक विद्यमान है। ये कहानियां बहुत कुछ कहती हैं। जीवन के प्रत्येक पक्षों को उद्घाटित करती हैं, ये हमें सोचने पर विवश करती हैं। ये

परेशान करती हैं, करुणा जगाती हैं। यथार्थ से रूबरू कराती हैं। इन्हें पढ़कर समाज के भीतर घटित हो रहे क्रिया-व्यापारों को समझा जा सकता है।

मन्नू भंडारी की कहानियों में व्यापकता एवं गहराई है। जीवन को हर क्षण देखा गया है, परखा गया है। जीवन में संघर्ष का जो रूप उभरता है वही सब कुछ कहानियों में मौजूद है। मन्नू भंडारी ने पांच कहानी संग्रह रचे हैं। इन सभी में विषय की विविधता है। संवेदना के विविध रूप विद्यमान हैं। जीवन के विभिन्न पहलुओं को समेटा गया है। इनमें परिवेश की गूंज एवं सजगता है। इसी के बीच व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया गया है। मन्नू भंडारी का प्रथम कहानी संग्रह 'मैं हार गई' सन् 1957 ई. में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय कहानी संग्रह 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' का प्रकाशन वर्ष सन् 1959 ई. है। तृतीय कहानी संग्रह 'यही सच है' का प्रकाशन वर्ष 1966 ई. है। चतुर्थ कहानी संग्रह 'एक प्लेट सैलाब' का प्रकाशन 1978 ई. में हुआ है। पांचवां कहानी संग्रह 'त्रिशंकु' 1978 में प्रकाशित हुआ। इन सभी संग्रहों के अतिरिक्त 'आंखों देखा झूठ' का प्रकाशन 1976 ई. में हुआ।

जीवन में घटित हो रहे क्रिया-व्यापारों का लेखा-जोखा इन सभी कहानी संग्रह में दर्ज है। कहानी में घुटन, संत्रास, गरीबी, पीड़ा का भाव अधिक मिलता है। इसमें शहरी मानवीयता के चित्र हैं।

'मैं हार गई' कहानी संग्रह में 12 कहानियां संग्रहित हैं। इन सभी कहानियों की संवेदना का विश्लेषण करना इस लेख में संभव नहीं है परन्तु कुछ कहानियों की संवेदना का चित्रण अवश्य करूंगा। इनमें 'ईसा के घर इंसान', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'कील और कसक' तथा 'मैं हार गई' कहानी प्रमुख हैं।

'ईसा के घर इंसान' में धार्मिक कुप्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है। गिरजाघरों में व्याप्त व्यभिचार का उल्लेख मिलता है। पादरी किस प्रकार संस्कारों के नाम पर युवतियों का शोषण करते हैं। उनसे अपनी कामतृप्ति करते हैं। उन्हें हमेशा के लिए बोलने से बंद कर देते हैं। इस प्रकार की कुरीति का यथार्थ रूप इस कहानी के मूल में है। जूली, मेरी और लूसी जैसी नारी फादर के शोषण का शिकार बनती हैं। ये स्त्रियां नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। इस कहानी में वर्णित है कि किस प्रकार जूली, मेरी और लूसी इसका शिकार बनती हैं। एंजिला कहती हैं, ''देखो कितना सुन्दर साड़ी पहन रखी है इसने। फिर हम क्यों अच्छे कपड़े नहीं पहने? हम इंसान नहीं हैं, मैं नहीं रहूंगी, यहां मैं नहीं रहूंगी।''[1]

एंजिला अपने नारी स्वातंत्र्य का भाव दिखाती है। वह अपने अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति करना चाहती है। वह कहती है, ''मैं अपनी जिंदगी को, अपने इस रूप को धर्म की दीवारों के बीच नष्ट नहीं होने दूंगी मैं भाग जाऊंगी, मैं भाग जाऊंगी।''[2]

'एक कमजोर लड़की की कहानी' इसी संग्रह की कहानी है। इस कहानी में प्रेम और विवाह के प्रति ईमानदार बने रहने की स्थिति का मूल्यांकन किया गया है। प्रेम और विवाह के बीच की कमजोरी का वर्णन इस कहानी की मूल संवेदना के केन्द्र में है। इस कहानी में विभाजक रेखा खींचना उचित नहीं प्रतीत होता है। 'रूप' इस कहानी की नायिका है। वह विमाता के कठोर नियंत्रण में रहती है। विमाता के कारण ही स्कूल छोड़ देती है। वह घर पर बैठकर पढ़ाई करती है। घर पर पढ़ने के अनेक तरह की परेशानियां आती हैं जिसके कारण माता-पिता नाना-नानी के पास भेज देते हैं। वे कहते हैं, ''वहां लड़कियों की शिक्षा की अलग व्यवस्था है। शहरी जीवन में रहेगी तो कुछ बनेगी।''[3]

शिक्षा के प्रति लोगों का झुकाव है। गांव के लोग सोचते हैं कि शहर में शिक्षा की अच्छी व्यवस्था है परन्तु शहर की अलग समस्याएं हैं। ग्राम के लोग शहर में आकर अलग तरह की संकट का सामना करते हैं। रूप न चाहते हुए भी पिता के कहने पर शहर चली जाती है। यहां शुरू होता है जीवन का नया दौर। रूप का परिचय ललित नामक युवक से होता है। उसे ललित पर अटूट विश्वास हो जाता है। ललित जब कहता है कि वह फेल हो गई। वह कहती है, ''मैं मान ही नहीं सकती कि मैं फेल हो गई, तुम झूठे ही चिढ़ा रहे हो। मुझे अपनी आंखों से दिखाकर आओ तो मानूं।''[4]

तीन वर्ष तक साथ रहने के बाद ललित शिक्षा हेतु विदेश चला जाता है। ललित रूप से विदा लेते समय कहता है, ''देख मैं तुझे अपनी रूप छोड़कर जा रहा हूं इस विश्वास के साथ कि लौटूंगा तो मुझे इसी हालत में लौटा देगी। तू बड़ी कमजोर है रूप, इसी से मन डरता है। बोल रूप मेरी धरोहर को रख सकोगी ना।''[5] ललित के जाने के बाद 'रूप' का विवाह कर दिया जाता है। ललित के आने पर वह कहती है, मेरे किस्मत में रोना ही लिखा है। ललित उसे भगाकर ले जाना चाहता है पर रात्रि के समय रूप का मन बदल जाता है। कमजोर लड़की की कहानी में पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा का पालन है। रूप पति और प्रेमी के प्रति ईमानदार बने रहना चाहती है पर वह कमजोर पड़ जाती है। नारी की इसी रूप को रेखांकित

करना मन्नू भंडारी का उद्देश्य है।

'कील और कसक' कहानी भी 'मैं हार गई' कहानी संग्रह में संकलित है। इस कहानी में नारी की स्थिति का वर्णन किया गया है। इस कहानी में यौन अतृप्ति को दर्शाया गया है। नायिका को यौन अतृप्ति की कील कसक कसक कर उसे सालती रहती है। नायिका ऐसे समय में पर-पुरुष की ओर आकृष्ट होती है। विवाहित स्त्री की यह मानसिक दशा बड़ी बेचैनी भरा है। उसके अवचेतन मन में अधिकार हरण की प्रतिक्रिया होती है। वह अपना मकान बदल लेती है। रानी इस कहानी की नायिका है। मकान बदलते समय तांगे की कील उंगली में चुभ जाती है। वह लहूलुहान हो जाती है। उस क्षण शेखर का स्नेह मिलता है। वह कहता है, ''अरे यह क्या तुमने तो अंगुली काट ली भाभी। और झट से रूमाल बंध गया।''[6]

रानी के जीवन में यह एक प्रकार की मधुरता का संचार करने वाला है। रानी की कसक सिर्फ अंगुली में ही नहीं बल्कि संपूर्ण शरीर में व्याप्त जाती है। कहानी में एक प्रकार की कसक व्याप्त है।

'मैं हार गई' कहानी राजनैतिक व्यंग्य की कहानी है। इसमें लेखिका उत्कृष्ट नेता का निर्माण करना चाहती है ताकि देश का भविष्य सुरक्षित 'नेतृत्व' के हाथ में रहे। इस प्रयास में वह असफल होती है। अपने नेता का जन्म तीन अलग-अलग घरानों में कराती है। आदर्श नेता के निर्माण का सपना संजोये लेखिका इस प्रयास में विफल हो जाती है। यह छठवें दशक के मोहभंग की कहानी प्रतीत होती है। अपने नेता का जन्म एक गांव के गरीब के यहां कराती है। कहानी में इसका उल्लेख मिलता है, ''जैसे कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, वैसे ही महान् आत्माएं गरीबों के घर ही उत्पन्न होती है। यही सोच मैंने अपने नेता का एक गरीब किसान के झोपड़ी में करा दिया।''[7]

गरीबी की मार झेलते, पारिवारिक संत्रास को भोगनेवाला नेता अपने को 'आगे नहीं बढ़ा पाता है वह चोरी जैसे कार्य करने पर उतारूं हो जाता है। इससे लेखिका व्यथित हो जाती है। वह कहती है, ''इससे पहले कि चोरी जैसा जघन्य कार्य करके वह अपनी नैतिकता का हनन करता, मैंने उसका ही खात्मा कर दिया। अपनी लिखी हुई कहानी के पन्नों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया।''[8]

लेखिका दूसरे प्रयास में अपने नेता का जन्म शहर के करोड़पति के घर करवाती है। अन्ततः वह नेता कुप्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। जुआ, शराब में लिप्त हो जाता है। जब वह पूछती है तो जवाब देता है, ''अपने स्वार्थपूर्ति के लिए पर यह जरूरी नहीं कि मैं तुम्हारी इच्छानुसार ही चलूं।''[9] उसे सुधरने का मौका देती है परन्तु वह सुधरना नहीं चाहता है। इससे लेखिका क्षुब्ध हो जाती है और उसका नाश कर देती है। अपने आदर्श नेता का निर्माण नहीं कर पाती है। वह कहती है, 'मैं हार गई', मैं हार गई कहानी में भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप भी मिलता है। इस व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न करती है पर अन्ततः विफलता ही हाथ लगती है। इसमें नेताओं के छल-प्रपंच को भी उजागर किया गया है। 'मैं हार गई' कहानी का संदेश स्पष्ट है।

मन्नू भंडारी का द्वितीय कहानी संग्रह 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' है। इसमें व्यापकता के दर्शन होते हैं। यह एक ऐसी नारी की कहानी है जो लम्बे समय से बीमार पति की सेवा करती है। उसे अपने यौन तृप्ति के लिए अन्य पुरुष पर आश्रित होना पड़ता है। कहानी का स्वरूप बिल्कुल अलग है। जब उसका सत्य सामने आता है तो अपने पति एवं परिवार से विमुख हो जाती है। वह अकेलापन का जीवन जीने के लिए बाध्य है। दर्शना की कुंठित मानसिकता की झलक इसमें विद्यमान है। पति द्वारा अत्याचार बढ़ने लगता है तब वह घर छोड़ देती है। ऐसे समय में कुछ दिनों बाद पति की मृत्यु की सूचना मिलती है। वह कहती है, ''मेरी तो सारी भावनाएं ही मर हैं। मैं ही जाने क्यों जिंदा हूं।''[10]

इस कहानी के केन्द्र में दर्शना है। नारी की भावनाएं हैं। उसका समाज एवं स्व का भाव भी है। वह अपनी बहन की बेटी नैना से मिलना चाहती है। नैना दर्शना को स्नेह करती है। वह मिलना चाहती है तो मां की ओर से विरोध का सामना करना पड़ता है। वह कहती है, ''मेरी दर्शना मौसी ऐसी नहीं हो सकती। यह सब गलत है।''[11]

'तीन निगाहों की एक तस्वीर' समाज में नारी की स्थिति का सटीक चित्रण करता है। नारी अपने ऊपर निर्भर है। किसी से कुछ मांगती नहीं। अपनी मेहनत के बल पर अपना जीवन चलाती है। नारी की स्थिति का बेबाकी से वर्णन किया गया है।

'अकेली' कहानी की सोसा बुआ परोपकार की भावना रखती है। सभी के सुख-दुख में शामिल हो जाती है। सबका कार्य करती है पर उसे संवेदना नहीं मिलती है। वह अकेलेपन का जीवन जीने के लिए विवश हो जाती है। वह संबंधों का निर्वहन करती है। समधी के घर से निमंत्रण न मिलने पर वह टूट जाती है। वह हिम्मत नहीं हारती। अपने को तिरस्कृत महसूस करती है। फिर भी जाने का निर्णय लेती है। वह अपने

मृत पुत्र की एकमात्र निशानी अंगुठी को बेचकर अपने मूल्यों को बचाने के लिए कृत संकल्प होती है। मन्नू भंडारी ने इसका वर्णन किया है, ''उसकी नजर अंगुठी पर गई। यह उनके एकमात्र पुत्र की निशानी उसके पास रह गई थी। बड़े-बड़े आर्थिक संकटों के समय भी वह इस अंगुठी का मोह नहीं छोड़ सकी थी। आज भी एक बार उसने उठाते समय उनका दिल धड़क गया।''[12]

सोसा बुआ परम्परागत मूल्यों को बचाकर रखने के पक्ष में है। वह संबंधों को बचाकर रखना चाहती है। इस कहानी में संबंधों के विघटन की तस्वीर है। बदलते परिवेश में संबंधों के बीच अर्थ का महत्व है। यह भारतीय समाज का यथार्थ है। इसमें नारी की भूमिका का रेखांकन किया गया है।

मन्नू भंडारी की संवेदना के केन्द्र में आधुनिक स्त्री ही है। 'यही सच है' में त्रिकोण प्रेम को उजागर किया गया है। वासु चटर्जी के निर्देशन में इस पर 'रजनीगंधा' नामक फिल्म बन चुकी है। इसमें त्रिकोण प्रेम के अन्तर्गत नारी के मन को विश्लेषित किया गया है। इसमें संवेदना का फलक विस्तृत है। इसमें किशोरावस्था और युवावस्था में किये जाने वाले प्रेम का द्वन्द्व विश्लेषित किया गया है। नारी की कोमल हृदय भाव को इसमें दिखाया गया है। दीपा इसकी नायिका है। वह शिक्षित है, आधुनिक है। वह सबसे पहले निशीथ से प्रेम करती है। बाद में उसका आकर्षण संजय की तरफ होता है। दीपा सोचती है, ''संजय से उसे वास्तविक प्रेम है निशीथ के प्रति तो केवल मोह था। फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार है क्या। निरा बचपन होता है, महज पागलपन।''[13]

इस कहानी में संवेदना के स्तर पर बदलाव आता है जब दीपा नौकरी के लिए साक्षात्कार देने कलकत्ता जाती है। वहां अचानक निशीथ से मिलन होता है। निशीथ उसकी सहायता करता है। दीपा वहां भाव विभोर हो जाती है। उसको वही क्षण ज्यादा प्रिय लगने लगता है जब वापस लौटती है तो निशीथ स्टेशन छोड़ने जाता है। प्लेटफार्म से सरकते समय वह दीपा के हाथ पर हाथ रखकर दबा देता है। दीपा को यही क्षण सत्य लगने लगता है। वह सोचती है, ''प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास मात्र होता है।''[14]

इस कहानी के संदर्भ में कहा जा सकता है कि दीपा न संजय को चाहती है न निशीथ को। वर्तमान क्षण में जो सुख देता है वही सच है। मोहन राकेश के शब्दों में, ''प्रेम के अन्तर्द्वंद्व की कहानियां पहले भी लिखी गई हैं और इस दृष्टि से इस कहानी में कुछ नयापन नहीं है परन्तु मन्नू ने जिस सहजता और साहस के साथ इस अन्तर्द्वंद्व का चित्रण किया है और शिल्प के जिस अधिकार के साथ इसे क्लाइमेक्स तक निभाया गया है, उससे इसमें अपनी ही ताजगी आ गई है और लगता है जैसे कहानी न होकर दीपा के जीवन का एक सच्चा अनुभव ही है और जैसे सचमुच ही हम दीपा के डायरी के पन्ने ही पलट रहे हैं।''[15]

'यही सच है' में दीपा के मनोभावों को विश्लेषित किया गया हैं वह जिन्दगी की सच्चाई की ओर संकेत करती है। इसे परम्परा से अलग करके देखा जा सकता है। इसे आदर्श के बंधन में नहीं बांधा जा सकता है। इस कहानी में प्रेम त्रिकोण का चित्रण है। यह नितान्त नया और आधुनिक है। यह अन्य प्रेम कहानियों से बिल्कुल अलग है। यह डायरी शैली में रचित है।

इसमें स्थान और स्थितियों का समावेश किया गया है। मधुरेश जी ने 'लहर' पत्रिका में लिखा है, ''अपने समक्ष संदर्भों के प्रति एक अबाधित खुलापन ही मन्नू भंडारी की कहानियों को समकालीन कथा लेखिकाओं से अलग करता है। समाज में तेजी से उभरते और पनपते नवधनाढ्य वर्ग की मूल्य-मूढ़ता के संदर्भ में नए मूल्यों के संकेत, उनकी बहुत सी कहानियों में उभरे हैं।''[16]

'यही सच है' सामाजिक संदर्भों को आत्मसात करती है। स्त्राी के जीवन के विविध पहलुओं को सामने लाती है। इस कहानी की निर्मिति में परिवेश की भूमिका है।

मन्नू भंडारी द्वारा रचित चतुर्थ कहानी संग्रह 'एक प्लेट सैलाब' है। इस संग्रह में 'ऊंचाई' कहानी की संवेदना को देखा जा सकता है। ऊंचाई में एक ऐसे प्रश्न को उठाया गया है जहां हमें सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। क्या एक भावात्मक ऊंचाई संभव है जहां पति और प्रेमी दोनों को एक साथ स्वीकार किया जाय। यह समाज के लिए स्वीकार्य नहीं है। 'ऊंचाई' कहानी में जिस स्थिति को निरूपित किया गया है उसे सामाजिक स्वीकृति मिलना संभव नहीं है। ऊंचाई कहानी की नायिका शिवानी है। वह अपने दाम्पत्य जीवन में सुखी है। अचानक उसके जीवन में हलचल मच जाती है जब अतुल से संबंध हो जाता है। अतुल विवाह पूर्व प्रेमी है जिसमें शारीरिक संबंध स्थापित करने की चाह उसमें पैदा होती है। परिणामस्वरूप पति से अलगाव होता जाता है। इस स्थिति की गंभीरता का आभास लेखिका के कथन में होता है, ''उनके बीच का प्यार और अपनत्व सो गया था, सो ही नहीं गया था शायद मर गया था।''[17]

एक दिन शिवानी अतुल के पास चली जाती है। अतुल

अपने वैवाहिक जीवन का हवाला देकर शिवानी को स्वीकारने से इंकार कर देता है। शिवानी को इससे ठेस लगती है। शिवानी के दाम्पत्य जीवन में दरार पड़ जाती है। वह सामंजस्य बैठाने की कोशिश करती है। वह पत्नी और प्रेमिका दोनों भूमिका का निर्वाह करना चाहती है। इस प्रयास में वह विफल हो जाती है। इस कहानी में संदेश स्पष्ट है। नारी की शारीरिक पवित्रता जिस पर केवल पति का अधिकार है, को तोड़ा गया है। इस प्रकार संवेदना के विविध पक्ष मन्नू की रचनाओं में मिलते हैं।

मन्नू भंडारी का पांचवां कहानी संग्रह 'त्रिशंकु' है। इस संग्रह में नौ कहानियां संकलित हैं। त्रिशंकु कहानी में संवेदना का रूप स्वत: स्पष्ट है। इसमें भौतिक सुख-सुविधाओं से संपन्न एक परिवार की कहानी है। पति, पत्नी और लड़की के माध्यम से संवेदना को उजागर किया गया है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व है। परम्परागत मूल्यों से मुक्त होने के भ्रम में वर्तमान जीवन की त्रासद स्थिति का चित्रण है।

तनु इस कहानी के केन्द्र में है। वह शिक्षित युवती है। वह जीवन में कुछ करना चाहती है। उसके माता-पिता बहुत खुश है। जब तनु बड़ी हो जाती है तो सामने वाले छत पर से लड़के रिमार्क उछालने लगते हैं। तनु मम्मी से कहती है पर मम्मी कोई प्रतिक्रिया नहीं देती। वह तनु से कहती है, ''कल शाम को इन लोगों को चाय पर बुलवा देते हैं और तुमसे दोस्ती करवा देते हैं।''[18]

शेखर और तनु के बीच जब संबंध बढ़ने लगता है तो मम्मी की दृष्टि बदल जाती है। वह हिदायत देती है, ''तनु तुझे पूरी छूट दे रखी है। बेटे पर इतना ही तेज चल कि मैं भी साथ तो चल सकूं।''[19]

इस कहानी में मम्मी-पापा द्वारा आधुनिकता का मात्र दिखावा है। एक दिन तनु जब सहेली के घर से लौटती है तो मां शक करती है। वह कहती है कि तुम शेखर के कमरे में जाती है। यह संदेह को व्यक्त करने वाला है। यह स्वतंत्रता देकर भी न देने जैसा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मी के रूप में समाज बोलने लगता है, ''मुंह दिखाने लायक मत रखना हमको कहीं भी। सारी गली में थू थू थू हो रही है।''[20]

इस कहानी में त्रिशंकु की स्थिति व्याप्त है। तनु वर्तमान जीवन की त्रासद स्थिति को जीने के लिए विवश है। इस प्रकार मन्नू भंडारी की संपूर्ण कहानियों में संवेदना के विविध पक्ष है। उसमें यथार्थ, कल्पना ओर प्रभावात्मकता है। इनकी कहानियों में संवेदना के अनुरूप भाषा के तेवर हैं। उनमें सहजता एवं स्पष्टता विद्यमान है। जीवन को समग्रता से देखने का प्रयास है।

एसोसिएट प्रोफेसर
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. ईसा के घर इंसान (मैं हार गई) : मन्नू भंडारी, अक्षर प्रकाशन, 2/26, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 1971, पृष्ठ 9
2. वही, पृष्ठ 9
3. एक कमजोर लड़की की कहानी (मैं हार गई), मन्नू भंडारी, पृष्ठ 44
4. वही, पृष्ठ 46
5. वही, पृष्ठ 53
6. कील और कसक (मैं हार गई) : मन्नू भंडारी, पृष्ठ 133
7. वही, पृष्ठ 144
8. वही, पृष्ठ 147
9. वही, पृष्ठ 149
10. तीन निगाहों की एक तस्वीर : मन्नू भंडारी, श्रमजीवी प्रकाशन, पोनप्पा रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1971, पृष्ठ 26
11. वही, पृष्ठ 43
12. अकेली (तीन निगाहों की एक तस्वीर) : मन्नू भंडारी, पृष्ठ 33
13. यही सच है : मन्नू भंडारी, राजपाल एंड संस, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण, 1971, पृष्ठ 132
14. वही, पृष्ठ 149
15. कथाकार मन्नू भंडारी-अनीता राजूरकर, पृष्ठ 49
16. वही, पृष्ठ 111
17. ऊंचाई (एक प्लेट सैलाब) : मन्नू भंडारी, अक्षर प्रकाशन, 2/26, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 1971, पृष्ठ 126
18. त्रिशंकु : मन्नू भंडारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृष्ठ 109
19. वही, पृष्ठ 121
20. वही, पृष्ठ 123

ज्योति देवी

समकालीन कथा साहित्य (महिला उपन्यासकारों के संदर्भ में)

बीज शब्द

स्त्री सशक्तिकरण, स्त्री अस्मिता, संघर्षशीलता, अस्तित्व, सबलता, चुनौती, स्वावलंबी, पितृसत्तात्मक, समकालीन महिला, साहित्य समाज, नैतिक मूल्य।

प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण है। यह समाज विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। अतएव एक परिपक्व समाज की परिकल्पना साहित्य को पृथक रखकर नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार एक विकसित समाज की परिकल्पना साहित्य के बिना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार साहित्य की परिचर्चा भी स्त्री-अस्मिता/विमर्श के बिना असंभव सा प्रतीत होता है।

स्त्री-विमर्श के इस युग में स्त्रियों की स्थिति में जो महान परिवर्तन आये हैं, वो ये हैं कि स्त्री पुरुषों के समान जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत हैं, परन्तु पुरुषों के निगाह में स्त्री सदैव उपेक्षिता ही रही है।

''मैत्रेयी पुष्पा'' जी का वक्तव्य है- ''पुरुषों के लिए सबसे बड़ी चुनौती स्त्री ही है। उसको वश में करने के लिए वह जिंदगी भर न जाने कितने प्रयास करता है कि किसी तरह औरत के वजूद को तोड़ सके।''

वास्तव में देखा जाये तो पितृसत्तात्मक समाज अगर स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखने के लिए तमाम बंधनों में जकड़ देने का नाम है तो स्त्री अस्मिता उन सभी बंधनों से खुद को मुक्त रखने तथा स्त्री-पुरुष समानता के लिए संघर्ष करने का नाम है।

देखा जाये तो प्राचीन समय ले लेकर अब तक विभिन्न साहित्यकारों ने स्त्री-अस्मिता के संबंध में कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर अपने विचार को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है।

वैसे स्त्री-असिमता/विमर्श की शुरुआत के बारे में चर्चा करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि स्त्री-विमर्श है क्या?

वास्तव में देखा जाये तो स्त्री-विमर्श पुरुष विरोधी नहीं है बल्कि अपने हक के लिए, अपने मान-सम्मान के लिए, समाज में पुरुषों की तरह सिर उठाकर जीने के लिए एक मुहिम है, क्ध्योंकि आज भी समाज में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा नहीं दिया जाता है, उन्हें पुरुषों के मुकाबले नगण्य या तुच्छ समझा जाता है। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के बराबर अधिकार के लिए, स्त्री-विमर्श समानता के लिए संघर्ष करना ही स्त्री-विमर्श है।

स्त्री-अस्मिता की शुरुआत पश्चिमी देशों से 19वीं शताब्दी के आसपास स्वीकार किया गया है।

स्त्री-विमर्श के बारे में लता शर्मा कहती हैं- ''स्त्री-विमर्श स्त्री को स्वयं को देखने-परखने का पर्याय है।''

स्त्री/अस्मिता के इस युग में महत्वपूर्ण बदलाव यह है कि आज की स्त्रियाँ पुरुषों के समान जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी साझेदारी को एक नये आयाम तक पहुँचा रही हैं। आज की नारी अबला नहीं रही बल्कि सबल और सक्षम है। शिक्षित होने के कारण वह अपने फैसले खुद ले रही हैं और घर व बाहर बखूबी अपनी जिम्मेदारी निभा रही हैं।

महिला उपन्यासकार

समकालीन उपन्यासकारों में महिला लेखिकाओं की भूमिका

सराहनीय है। इन महिला लेखिकाओं ने अपनी लेखनी के माध्यम से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) सन्दर्भ में कुछ न कुछ समाज के सामने प्रस्तुत किया है।

इसमें मृदुला गर्ग का (कठगुलाब), मैत्रेयी पुष्पा का (चाक, इदन्मम) ममता कालिया का (बेघर), प्रभा खेतान का (छिन्नमस्ता, आओ पेंपे घर चलें, अपने-अपने चेहरे) कृष्णा सोबती का (सूरजमुखी अंधेरे में, जिंदगीनामा), उषा प्रियंवदा का (रूकोगी नहीं राधिका) आदि उपन्यासों में स्त्री जीवन की तमाम विसंगतियों का चित्रण किया गया है।

वास्तव में हिन्दी उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में स्त्री-विमर्श को ऊँचाईयों तक पहुँचाने में इन महिला उपन्ध्यासकारों की भूमिका अहम् रही है। पहली महिला उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात नाम है- उषा देवी मित्रा।

इनके प्रयासों (वचन का मोल, पिया, पथचारी, साहनी) आदि में स्त्री को केन्द्र में रखकर उसकी करूण दशा को प्रस्तुत किया गया है।

समकालीन महिला लेखन की सशक्त लेखिका हैं- प्रभा खेतान इन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री को एक स्वतंत्र अस्तित्व व व्यक्तित्व प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।

वर्ष 1991 ई. में प्रभा जी ने ''सिमोन द बोउवार'' की कृति ''सेकेण्ड सेक्स'' का अनुवाद हिन्दी में ''स्त्री-उपेक्षिता'' नाम से किया है। जो कि स्त्री-विमर्श का एक चिन्तनपरक दस्तावेज है नासिरा शर्मा ने भी अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री-अस्मिता पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

''शाल्मली'' इनका बहुचर्चित उपन्यास है। ''शाल्मली'' एक अफसर होने के बावजूद एक सामान्य महिला की तरह हर चुनौती का सामना डटकर करती है। बुखार से पीड़ित होने पर भी वह अपने पति नरेश के दोस्तों के लिए खाना बनाती है। दोस्तों के जाने के बाद जब वह नरेश से काम में कुछ मदद करने के लिए कहती है तब नरेश कहता है- ''औरत का होता है वह तुम जानो। कमाना मर्द का काम है, वह मैं करता हूं। ऑफिस के काम में तुम्हारी सहायता लेता हूँ क्या?''

मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्रियों को आत्मनिर्भर व स्वावलंबी बनने की प्रेरणा देती है। इनके उपन्यासों में पुराने नैतिक मूल्यों का खुलकर विरोध किया गया है। मैत्रेयी पुष्पा के समूचे कथा साहित्य में स्त्री अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती दिखाई देती है।

इनके उपन्यास की नारियाँ अपनी लड़ाई स्वयं लड़ती हैं। वे अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को सहन नहीं करती, अपितु उसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाकर उसका मुकाबला करती हैं।

स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में विचार व्यक्त करते वक्त निम्न बिन्दुओं पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है-

1. संघर्षशील स्त्री और चुनौती

समकालीन लेखिकाओं के कथा साहित्य में स्त्री अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए संघर्ष करती दिखाई देती है। इन महिला लेखिकाओं की स्त्रियाँ पुरुषों से डटकर अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाती हैं। वे अत्याचार व अन्याय के खिलाफ चुप नहीं बैठती बल्कि उसका खुलकर विरोध करती हैं। 'इदंनमम' उपन्यास की नायिका मंदा अकेले ही सारे पुरुष समाज से भिड़ जाती है।

'सूर्यबाला' उपन्यास की नायिका यामिनी मामूली स्त्री नहीं है। वह अपने पति विश्वास से जो प्यार चाहती है वह शारीरिक से ज्यादा मानसिक है। वह अपने पति विश्वास से कहती है- ''सुनिए। मैं शरीर की बात नहीं कर रही। आपके शरीर ने मुझे बहुत कुछ दिया, लेकिन पुरुषत्व को सिर्फ शरीर से कहीं ज्यादा भव्य होती है, मैं उसी भव्यता की बात कर रही हूँ।''

'ठीकरे की मंगनी' में नासिरा शर्मा ने महरूख के माध्यम से स्त्री-संघर्ष यात्रा का चित्रण किया है। महरूख का कथन समकालीन नारी की सोच को दर्शाता है, जो भविष्य के लिए नई संभावनाओं के द्वार खोलकर स्त्री को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करती है। स्त्रियों के आगे तमाम तरह की चुनौतियाँ आई परन्तु स्त्रियों ने सूझबूझ से उसका सामना किया।

ममता कालिया के शब्दों में, ''कभी-कभी मैं सोचती हूँ पिछले सात दशकों में, अर्थात् आजादी मिलने के बाद स्त्री की दशा पहले से सुधरी है या बिगड़ी है।''

आज की स्त्रियों की स्थिति में बदलाव तो हुआ है क्योंकि वो घर-बाहर दोनों जगह अपनी जिम्मेदारी बखूबी निभा रही हैं। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी काबिलियत सराहनीय योग्य है। परंतु आज भी उन्हें कुछ बड़ा हासिल करने के लिए अंदर और बाहर दोनों तरफ से टूटना पड़ता है।

ममता कालिया के शब्दों में- ''किसी भी समाज व उसके समय के वास्तविक स्थिति जाननी हो तो उसमें स्त्री की स्थिति पर विचार करना प्रासंगिक होगा। दलित प्रश्न की तरह नारी

प्रश्न भी आज समाज का ज्वलंत विषय है। ये दोनों दमित वर्ग आज अपने अस्तित्व व अस्मिता पर विचार करने के लिए स्वयं जागे हैं।''

2. सार्वजनिक भूमिका में स्त्री

सार्वजनिक भूमिका में अपने स्व को अर्जित करने में एक स्त्री को संघर्ष के जिस रास्ते पर चलना पड़ता है वह समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों के माध्यम से हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। इन लेखिकाओं ने हिन्दी उपन्यासों में अपने पात्रों के माध्यम से वर्तमान समाज में स्त्री का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। स्त्री किसी भी राष्ट्र की अभिन्न अंग है। जिसके बिना कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नहीं हो सकता है। वर्तमान समय में स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित कर रही हैं। शिक्षित स्त्रियाँ आर्थिक रूप से सक्षम होने के कारण जीवन के हर क्षेत्र (कला, विज्ञान, मनोरंजन, खेलकूद, सिनेमा जगत, बिजनेस) में अपना झण्डा लहरा रही हैं।

हाल ही में अवनी चतुर्वेदी सहित तीन लड़कियों को वायुसेना के द्वारा फाइटर प्लेन उड़ाने की सहमति दी गई है। यह उनकी सबलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज की नारी 'अबला जीवन/हाय तुम्हारी यही कहानी' न रहकर अपने रास्ते खुद बना रही हैं।

आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका अहम् है। महिलाएँ उचित व उपभोग सुचारू रूप से करना जानती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी महिलाओं की भागीदारी बढ़ रही है। वे डॉक्टर, इंजीनियर, सैनिक, वकील, आदि पद पर अपनी सेवाएँ दे रही हैं। आज महिलाओं के शिक्षित होने के कारण दहेज-प्रथा, बेरोजगारी तथा उनके साथ हो रहे उत्पीड़न में कहीं न कहीं कमी आ रही है, परन्तु पूरी तरह से स्त्री अभी भी इनसे उपयुक्त नहीं है।

फिर भी आज की स्त्रियाँ हार मानने वालो में से नहीं है। वो अपने खिलाफ हो रहे अन्याय व अत्याचार को चुपचाप सहन नहीं करती अपितु खुलकर उसका विरोध करती हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि समकालीन महिला लेखिकाओं के उपन्यासों की महिला पात्र सिर्फ अपने संघर्षों से अकेले जूझती ही नहीं वरन् दृढ़ता से उसका मुकाबला भी करती हैं। वह अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेती है। हालाँकि आज का समय इन प्रगतिशील स्त्रियों के लिए इतना आसान नहीं रहा बल्कि ढेरों चुनौतियाँ लेकर आया है। जिस तरह हम देखते हैं कि हर दिन अखबारों, न्यूज चैनल, पर 2 साल की छोटी बच्ची से लेकर 60 साल की वृद्धा के साथ शोषण व अमानवीय व्यवहार की घटनाएँ लगातार बढ़ रही हैं। इसे देखकर तो लगता है आज का समाज तो प्राचीन समाज से भी अधिक पिछड़ा हुआ है।

समकालीन लेखिकाएँ अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज में स्त्री को वस्तु या पदार्थ के रूप में नहीं वरन् मनुष्य रूप में प्रतिष्ठित करने की तरफ अग्रसर हैं। इन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से स्त्री के विविध पक्षों की तरफ ध्यान केन्द्रित किया है। देखा जाये तो आज की स्त्रियों ने अपनी शक्ति पहचान ली है। वो पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर जीवन पथ पर आगे बढ़ रही हैं।

हालाँकि हर तरह से सशक्त, सक्षम व सबल वर्ग की महिलाओं को भी कई तरह की चुनौतियों (छेड़छाड़, अवरोध) आदि का सामना करना पड़ रहा है। कभी परिवार द्वारा तो कभी समाज के द्वारा, परन्तु वो घर नहीं मानी है, उसका प्रतिरोध करती हैं।

ममता कालिया के शब्दों में- ''प्रतिरोध का स्वर जब पहले पहल उठता है, बड़ा अजनबी लगता है, अप्रिय भी पर अगर वह अपनी उपस्थिति दर्ज करवा सके तो आगे का रास्ता आसान हो जाता है।

इन समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी लेखनी के माध्यम से स्त्री अधिकारों व उनके हक को प्रकाश में लाने का बड़ा ही सार्थक प्रयास किया है। लेखिकाओं ने अपने उपन्यास की विभिन्न पात्रों के माध्यम से वर्तमान समाज की स्त्रियों का यथार्थ चित्रण किया है।

मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं- ''आने वाली सदी की मांग है कि पुरुष मानसिकता में परिवर्तन आये और वह बेझिझक किसी भी आशंका और असुरक्षा से मुक्त होकर आती हुई स्त्री का स्वागत करे। मेरे विचार से यह सदी स्त्री के अस्तित्व की थी अगली शताब्दी उसके व्यक्तित्व की होगी।''

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि उपन्यास साहित्य में स्त्री-विमर्श की चर्चा यत्र-तत्र की गई है। आज की स्त्री कहीं भी रहती हो चाहे छोटे से गाँव या शहर वह संघर्षशील व कर्तव्यनिष्ठ है। सका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व व अपनी पहचान है। वो किसी पुरुष पहचान की मोहताज नहीं रही।

इसका उदाहरण है कि पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ नौकरी, जॉब पर जाती हैं तथा कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने घर पर रहकर ही

अपनी योग्यता अनुसार यू-ट्यूब, इंस्टाग्राम आदि सोशल मीडिया के द्वारा अपनी क्षमताओं को समाज के सामने ला रही हैं, फिर वह चाहे नृत्य कौशल, पाक विद्या या फिर अन्य कौशल हो।

स्त्री-विमर्श अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक ज्वलंत चर्चा का विषय है। सिर्फ अपने देश से ही नहीं वरन् विदेशों से भी कई महिला लेखिका अपनी कलम के माध्यम से स्त्री-विमर्श के बारे में खुलकर अपने विचार प्रस्तुत कर रही हैं।

शोधार्थी
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल:fcaashishtiwari@gmail.com

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चर्चा हमारी- मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 21
2. हंस- मार्च-2000, पृ. 45
3. शाल्मली- नासिरा शर्मा, पृ. 33
4. भविष्य का स्त्री विमर्श- ममता कालिया, पृ. 19
5. भविष्य का स्त्री विमर्श- ममता कालिया, पृ. 15
6. खुली खिड़कियाँ- मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 115
7. स्त्री संघर्ष का इतिहास- राधाकुमार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
8. कठगुलाब- मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
9. आओ पेंपे घर चले- प्रभा खेतान, पृ. 35
10. भविष्य का स्त्री-विमर्श- ममता कालिया, पृ. 20
11. मैं और मैं- मृदुला गर्ग- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
12. चित्तकोबरा- मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

डॉ. अंगिरस

भारत में कालगणना की परम्परा

प्रस्तावना

वर्त्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व में ईस्वीसन् एवं ग्रेगोरियन कैलेण्डर के अनुसार कालगणना के प्रचलन के पश्चात् भी भारत का एक वृहद् जनसमुदाय भारतीय सम्वतों के अनुसार ही अपने क्रियाकलाप तथा अन्य शुभ कार्य करता है। संसार में अन्य किसी भी कैलेण्डर की तुलना में भारत में प्रचलित कैलेण्डर सर्वाधिक प्राचीन, वैज्ञानिक एवं पूर्णतः निर्दोष हैं। भारतीय कैलेण्डर इतने वैज्ञानिक हैं कि इनमें सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक सेकेण्ड के सौवें भाग का भी अन्तर नहीं आया है। यही कारण है कि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में आज भी अधिकतर कार्य भारतीय कैलेण्डर के आधार पर ही किये जाते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार से समझने का प्रयास किया जा सकता है कि भारतवर्ष में किसी भी धार्मिक कार्य को करने से पूर्व सङ्कल्प करवाने का विधान है जिसमें कल्प, मन्वन्तर, युग से लेकर सम्वत्, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, ग्रह एवं नक्षत्र इत्यादि तक का उच्चारण करवाया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही भारतीय लोग काल, ग्रह एवं नक्षत्रादि से पूर्णतः परिचित थे तथा लोक व्यवहार में इनका प्रयोग भी किया जाता था। भारत में यहाँ के निवासियों को समय का इतना सूक्ष्म ज्ञान था कि अन्य देशों के द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब भी कालगणना की चर्चा होती है तब एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या किसी भी देश एवं सभ्यता के लिए उसके यहाँ के अतीत की कालगणना केवल ईस्वी सन् नामक पद्धति अर्थात् ईसामसीह के जन्म से ही की जाय? यह सत्य है कि ईस्वी सन् के आधार पर की जाने वाली कालगणना सरलता एवं सहजता से ग्राह्य है किन्तु न तो इसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध है और न ही इसका कोई वैज्ञानिक आधार है। वहीं प्राचीन भारत में कालगणना के लिए प्रयुक्त विभिन्न सम्वत् इतने सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक थे कि अंग्रेजों के भारत आने से पूर्व यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति या तो वह शिक्षित हो या अशिक्षित, उसे भारतीयसम्वतों के आधार पर ही तिथि, पक्ष, ऋतु, मास तथा वर्ष आदि का सामान्य ज्ञान अवश्य होता था। बिना किसी प्रचार के ही अमावस्या के दिन विपणन केन्द्र एवं अन्य कार्यस्थल बन्द रखे जाते थे। एकादशी जैसे पवित्र दिन पर लोग व्रत-उपवास रखते थे। समाज की सभी सामान्य गतिविधियां भारतीय सम्वतों के आधार पर स्वतः ही बिना किसी कठिनाई के सञ्चालित होती थीं। प्राचीन भारतीय सम्वतों के विषय में विस्तार से जानने से पूर्व आज सम्पूर्ण विश्व में विख्यात अंग्रेजी कालगणना पद्धति जिसे ग्रेगोरियन कैलेण्डर के नाम से भी जाना जाता है, के विषय में संक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है-

1. आंग्ल सम्वत्

ईसाई धर्मावलम्बी यह मानते हैं कि ईसामसीह का जन्म इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक घटना है। इसी आधार पर वे इतिहास को दो भागों में विभाजित करते हैं - एक B.C. अर्थात् Before Christ. ईसामसीह के जन्म से पूर्व की घटनाओं को Before Christ के अन्तर्गत रखा जाता है जिसे हिन्दी में ईसापूर्व कहा जाता है तथा जो घटनाएं ईसामसीह के जन्म के पश्चात् हुई, उन्हें A.D. के अन्तर्गत रखा जाता है जिसका अर्थ है Anno Domini अर्थात् In the Year of Our Lord. इसे हिन्दी में ईस्वी सन् कहा जाता है। यह कालगणना

पद्धति जो आंग्ल कैलेण्डर पर आधारित है, उसका वर्त्तमान स्वरूप हम सम्पूर्ण विश्व में ग्रेगोरियन कैलेण्डर के रूप में देखते हैं। ग्रेगोरियन कैलेण्डर पर आधारित कालगणना पद्धति आज सम्पूर्ण विश्व में कालगणना के लिए मानक रूप में प्रयुक्त होती है। आज सम्पूर्ण विश्व में प्रयुक्त यह कैलेण्डर न तो पूर्णत: वैज्ञानिक है और न ही इसका प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध है। इस अत्यन्त प्रचलित कालगणना पद्धति की वैज्ञानिकता केवल इतनी है कि जितने समय में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा पूर्ण करती है, उतने ही दिन का एक वर्ष माना जाता है। इस कैलेण्डर का जो स्वरूप वर्त्तमान समय में प्राप्त होता है, वह आरम्भ से ऐसा नहीं था। इसका यह रूप अनेक संशोधनों एवं परिवर्तनों के पश्चात् अस्तित्व में आया है।

1.1 रोमन कैलेण्डर

वर्त्तमान कालगणना पद्धति ईस्वी सन् का मूल रोमन सम्वत् है जिसका आरम्भ ईसा के जन्म से 753 वर्ष पूर्व रोम में हुआ था। तब इसमें 304 दिन अथवा 10 मास ही होते थे तथा वर्ष का आरम्भ 25 मार्च को होता था। तदनन्तर राजा नूमा पिम्पोलियस ने इसमें JONUARIUS और FEBRUARIUS नामक दो मास अतिरिक्त योजित किये। अब वर्ष में 10 के स्थान पर 12 मास हो गये तथा 304 के स्थान पर 355 दिन हो गये परन्तु अग्रिम वर्षों में ग्रहीय गति से इनका अन्तर वृद्धिशील होता गया, तब 46 B.C. में इसे सम्यक् करने के लिए जूलियस सीजर ने वर्ष को 365.25 दिन का करने के लिए नए कैलेण्डर का आदेश दिया तथा कहा कि इस समय के वर्ष में 445.25 दिन होंगे ताकि पूर्व में आया अन्तर ठीक हो सके। अत: उस वर्ष अर्थात् 46 B.C. को इतिहास में संभ्रम का वर्ष (Year of Confusion) कहा जाता है।

1.2 जूलियन कैलेण्डर

जूलियस सीजर ने वर्ष को 365.25 दिन का कर दिया। मास में क्रमश: 31 व 30 दिन तथा फरवरी में 29 दिन निर्धारित कर दिए, लीप ईयर में फरवरी 30 दिन की कर दी गयी। इसके साथ ही इतिहास में अपना नाम अमर करने के लिए वर्ष के सप्तम मास के पुरातन नाम QUINITILES को परिवर्तित कर अपने नाम पर JULY कर दिया जो 31 दिन का था। तदनन्तर सम्राट् अगस्टस हुआ जिसे भी इतिहास में अपना नाम अमर करने की इच्छा हुई तथा उसने आठवें महीने SEXTILIS का नाम परिवर्तित कर AUGUST कर दिया। तब अगस्त मास में 30 दिन होते थे परन्तु 'सीजर से मैं छोटा नहीं' यह प्रदर्शित के लिए उसने फरवरी मास (जो 29 दिन का होता था) से 1 दिन लेकर अगस्त भी 31 दिन का कर दिया। तब से महीने और दिनों की संख्या यथावत् चली आ रही रही है।

1.3 ग्रेगोरियन कैलेण्डर

16वीं शताब्दी आते-आते जूलियन कैलेण्डर में 10 दिन वर्द्धित हो गये, इससे चर्च फेस्टीवल, ईस्टर आदि की तिथियों में त्रुटियाँ होने लगीं। तब पश्चप ग्रेगोरी (त्रयोदश) ने 1582 ईस्वी में इसे ठीक करने की घोषणा की। उन्होंने 4 अक्टूबर को 15 अक्टूबर निश्चित कर दिया। वर्ष का आरम्भ 25 मार्च के स्थान पर 1 जनवरी सुनिश्चित किया, तभी से नववर्ष 1 जनवरी को मनाया जाने लगा। चूंकि ये संशोधन रोम के तेरहवें पॉप ग्रेगोरी ने किये थे अतएव तभी से इस संशोधित कैलेण्डर को ग्रेगोरियन अथवा नवीन पद्धति (न्यू स्टाइल) के रूप में जाना जाता है। रोमन कैथोलिकों ने पॉप द्वारा किए गये इस परिवर्तन को तुरन्त स्वीकार कर लिया परन्तु प्रोटेस्टेंटो ने किञ्चित् समय पश्चात् स्वीकार किया। वहीं ब्रिटेन जूलियन कैलेण्डर को ही मानता रहा तथा 1752 ईस्वी तक उसमें 11 दिन का अन्तर आ गया था। अत: उसे संशोधित करने के लिए 2 सितम्बर के पश्चात् अग्रिम दिन 14 सितम्बर माना गया। उस समय जनसामान्य यह नारा लगाते थे 'CriseusBack Our 11 Days'। इन कैलेण्डरों में मासों के नाम बिना किसी वैज्ञानिक आधार के रख दिए गये। उदाहरणार्थ- सप्तम मास होने के कारण सितम्बर (September), अष्टम मास होने के कारण अक्टूबर (October), नवम मास होने के कारण नवम्बर (November) तथा दशम मास होने के कारण दिसम्बर (December)। इस आधार पर मासों के नाम सुनिश्चित किये गये। बाद में जूलियस सीजर एवम् अगस्टस के नाम पर क्रमश: जुलाई (July) और अगस्त (August) नामक दो मास और योजित किए गये। इस प्रकार ग्रेगोरियन कैलेण्डर के मासों के नाम बिना किसी वैज्ञानिकता के ही रख दिए गये।

इस संशोधित कैलेण्डर को पूर्णतया सभी देशों के द्वारा मान्यता नहीं मिली अपितु इसकी सरलता एवं समझने में सहजता के कारण ही विभिन्न देशों द्वारा इसे धीरे-धीरे अपनाया

गया और आज स्थिति यह है कि कुछ-एक देशों को छोड़ दें तो सम्पूर्ण विश्व ईस्वीसन् और ग्रेगोरियन कैलेण्डर के आधार पर ही कालगणना कर रहा है। निःसंदेह यह कैलेण्डर और कालगणना पद्धति आज सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है परन्तु अनेक संशोधनों के पश्चात् भी यह पूर्णतः सटीक नहीं है। अब भी पृथ्वी के परिभ्रमण का समय तथा 'ग्रेगरी-वर्ष' में अन्तर आता रहता है। अतः प्रायः घड़ियों को कुछ सैकेण्ड आगे या पीछे करना पड़ता है।

2. भारतीय सम्वत्

यहाँ कालगणना के लिए किसी एक सम्वत् का प्रयोग प्रचलन में नहीं रहा। अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व भारत में कालगणना के लिए एकमात्र ईस्वीसन् वाले ग्रेगोरियन कैलेण्डर पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था अपितु उस समय तक भारत में कालगणना के लिए मानक रूप में प्रयोग किए जाने वाले अनेक सम्वत् प्रचलन में थे। होरा, विहोरा एवं प्रतिहोरा से लेकर वर्ष पर्यन्त समस्त दिन, मास आदि से सम्वत् की सृष्टि होती है। सम्वत् प्रत्येक राष्ट्र, जाति एवं सभ्यता की उन्नति का प्रतीक होता है। विश्व की समस्त जातियों एवं देशों में किसी न किसी सम्वत् का प्रयोग अवश्य होता है। सम्वत् से ही देश एवं जाति की प्राचीनता का ज्ञान होता है। अंग्रेजों के भारत आगमन तक यहाँ कालगणना के लिए अनेक सम्वत् प्रचलन में थे, जैसे सप्तर्षि सम्वत्, कलियुग सम्वत्, वीरनिर्वाण सम्वत, बुद्धनिर्वाण सम्वत्, मौर्य सम्वत्, विक्रम सम्वत्, शक सम्वत्, कलचुरि सम्वत्, गुप्त (वलभी) सम्वत्, गांगेय सम्वत्, हर्ष सम्वत्, भाटिक सम्वत्, कोल्लम् सम्वत्, नेवार सम्वत्, चालुक्य विक्रम सम्वत्, सिंह सम्वत्, लक्ष्मणसेन सम्वत्, पुडुवैप्पु सम्वत्, राज्याभिषेक सम्वत्, बार्हस्पत्य सम्वत्सर, ग्रहपरिवृत्ति सम्वत्सर, हजरीसन्, शाहूर सन्, फसली सन्, विलायती सन्, अमली सन्, बंगाली सन्, मगि सन्, इलाही सन्, ईस्वी सन् इत्यादि। इसमें से कुछ सम्वत् सम्पूर्ण भारत में कालगणना के लिए प्रचलित थे तथा कुछ सम्वत् एक स्थान-विशेष तक ही सीमित रहे तथा उन्हें सम्पूर्ण भारत में वैसी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई, जैसी कुछ अन्य सम्वतों को प्राप्त हुई थी। इससे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय स्तर पर भिन्न-भिन्न समय पर कोई एक सम्वत् प्रचलन में रहा, वहीं स्थानीय स्तर पर भी कुछ लघु सम्वत् प्रचलित थे जिनके आधार पर कालगणना की जाती थी। यहाँ कुछ प्रसिद्ध तथा ख्यातिप्राप्त सम्वतों के विषय में संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है।

2.1 मौर्य सम्वत्

उड़ीसा में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरी पहाड़ी की हाथीगुम्फा में चेदिवंशीय राजा कलिंगाधिपति खारवेल का एक लेख उत्कीर्ण है जिसकी 16वीं पंक्ति को पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी और डॉक्टर स्टेन कॉनो ने कुछ इस तरह पढ़ा 'पनंतरियसठिवससते राजमुरियकाले वोछिने च चोयठअगसतिकुतरियं'[1] और इसका अर्थ किया 'मौर्य सम्वत् के 135वें वर्ष में' उन्होंने इस सिद्धांत को जन्म दिया कि 'नन्द वंश को नष्ट करके चन्द्रगुप्त मौर्य ने 321 ईसापूर्व के लगभग एक सम्वत् चलाया जो खारवेल के समय में कलिंग में प्रचलित था'[2] परन्तु फ्लीट महोदय ने इसे मान्यता प्रदान नहीं की। उनका मानना था कि इस अभिलेख में किसी सम्वत् का कोई उल्लेख नहीं है अपितु इसमें किन्हीं विलुप्त जैन ग्रन्थों के पुनरुद्धार का निर्देश है।[3] लूडर तथा स्मिथ ने भी फ्लीट महोदय का समर्थन किया और इस बात का खण्डन किया कि खारवेल के हाथीगुम्फा में किसी मौर्य सम्वत् का उल्लेख है। यदि खारवेल के अभिलेख में मौर्यसम्वत् का उल्लेख मान भी लिया जाय तो भी इस सम्वत् का प्रयोग कालगणना के लिए उसके अतिरिक्त किसी अन्य शासक ने नहीं किया है। सम्राट् अशोक ने भी अपने अभिलेखों में कालगणना के लिए अपने शासनवर्षों का ही उल्लेख किया है, उसके अभिलेखों में केवल अभिषेक के वर्ष का ही उल्लेख है-मास, ऋतु, तिथि, पक्ष इत्यादि का कोई वर्णन नहीं है। अतः अशोक के अभिलेखों में वर्णित वर्षों को चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संस्थापित किसी सम्वत् के साथ जोड़ कर नहीं देखा जा सकता है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में इस सम्वत् के साथ-साथ तेरह शासन वर्षों का स्वतन्त्र प्रयोग भी प्राप्त होता है। अतः खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में मौर्य सम्वत् के उल्लेख को मानने में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसलिए इस नाम का कोई सम्वत् समाज में प्रचलित था भी या नहीं इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

2.2 विक्रम सम्वत्

57 ईसापूर्व में प्राचीन भारत में कालगणना के लिए एक सम्वत् का उदय होता है जिसके संस्थापक के विषय में विवाद

रहा है। उपलब्ध साहित्य और अभिलेखों के आधार पर इस अत्यन्त प्रचलित सम्वत् के तीन नाम प्राप्त होते हैं- 1. कृत् सम्वत् 2. मालव सम्वत् 3. विक्रम सम्वत्। समस्त प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि उक्त तीनों ही सम्वतों का आरम्भ 57 ईसापूर्व में हुआ था। जिसके उदाहरण हमें प्राचीन भारतीय अभिलेखों में भी दृष्ट होते हैं- कृतयोर्द्वयो: वर्षशतयोर्द्वय।[4] कृतेहि 200 (+) 90 (+) 5 फाल्गुण-शुक्लस्य पञ्चे दि.[5] अर्थात् कृत युग के 295 वर्ष व्यतीत होने पर फाल्गुन शुक्ल के पांचवें दिन। कृते हि 300+30+5।[6] कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टा विशेषु श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते।[7] उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि छठी शताब्दी से पूर्व के लेखों में कृत सम्वत् के नाम से ही विक्रम सम्वत् प्रसिद्ध था। यह सम्वत् मालव सम्वत् के नाम से भी अभिहित किया जाता था जिसके उदाहरण हमें प्राचीन भारतीय अभिलेखों में दृष्टिगोचर होते हैं-श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते।[8] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि पहले कृत-सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध सम्वत् ही बाद में मालव-सम्वत् कहलाने लगा था। छठी शताब्दी तक के अनेक अभिलेखों में मालव सम्वत् का उल्लेख प्राप्त होता है। कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर अभिलेख में मालव-सम्वत् के अनुसार कालगणना की गयी है-मालवानां गणस्थित्या याते शत चुष्टयेत्रिनवत्यधिकेऽब्दानाम्रितौ सेव्यघनस्तने।[9] यशोधर्मन के मन्दसौर प्रशस्ति में भी मालव-सम्वत् का उल्लेख प्राप्त होता है। पञ्चसुशतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवति सहितेषु, मालवगणस्थिति वशात्काल-ज्ञानाम लिखितेषु।[10]

2.3 शक सम्वत्

प्राचीन भारत के अनेक अभिलेखों में कालगणना के लिए शक सम्वत् का उल्लेख मिलता है। शकों द्वारा मालव गणराज्य को परास्त किया गया। शकों द्वारा पूर्व में प्रचलित मालव सम्वत् का प्रयोग कालगणना के लिए किया जाना कुछ उचित सा प्रतीत नहीं होता है। अत: शकों द्वारा एक नवीन कालगणना की स्थापना की गयी जिसे वर्त्तमान में शक सम्वत् के नाम से जाना जाता है। यह कालगणना कब आरम्भ हुई - इस विषय में प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'प्रभावक-चरित' में कलिकाचार्य की कथा में उल्लिखित है कि-''शक लोगों ने विक्रम के उत्तराधिकारी को विक्रमादित्य के 135वें वर्ष में मार कर उसी समय से एक नवीन कालगणना का आरम्भ किया।'' इस प्रकार विक्रमादित्य द्वारा संस्थापित विक्रम सम्वत् का काल 57 ईसापूर्व स्वीकार किया जाता है उसमें 135 वर्ष जोड़ देने पर शक सम्वत् सिद्ध हो जाता है- 57-135 = 78 ईस्वी। अब सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि शकों द्वारा संस्थापित कालगणना का संस्थापक कौन था? रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में मिलता है- राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्तनाम्नो रूद्रदाम्नो वर्षे द्विसप्ततितमे 70(+)2।[11] यहाँ 72 तिथि उल्लिखित है जो निश्चित रूप से शक सम्वत् ही है। तदनुसार रुद्रदामन की तिथि 150 ईस्वी सिद्ध होती है 72+78=150। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दृष्ट होते हैं-शक नृपति राज्याभिषेक संवत्सर, शक नृपति संवत्सर, शक नृप संवत्सर, शक संवत, शक या शाके, शक नृप काल। इस विषय में एक मत यह भी है कि कुषाण राजा कनिष्क ने इस कालगणना का आरम्भ किया जो कालान्तर में शक सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

2.4 गुप्त सम्वत्

प्राचीन भारत में अनेक काल-गणनाएं प्रचलित थीं । इसी परम्परा में गुप्त राजाओं ने भी एक कालगणना पद्धति का शुभारम्भ किया जो कालान्तर में गुप्त सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुई। अब प्रश्न यह है कि इस कालगणना का आरम्भ किस गुप्त शासक ने किया होगा? समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ अभिलेख में प्रथम दो गुप्त शासकों श्रीगुप्त और श्री घटोत्कच गुप्त को केवल महाराज की उपाधि से सम्बोधित किया गया है जबकि इस वंश के तृतीय शासक चन्द्रगुप्त प्रथम को महाराजाधिराज की उपाधि से अभिहित किया गया है जिससे चन्द्रगुप्त प्रथम का सम्राट् होना स्पष्ट हो जाता है। अनुमानत: यह कहा जा सकता है कि इस वंश के तृतीय शासक चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा इस कालगणना पद्धति (गुप्त सम्वत्) की स्थापना की गयी होगी। गुप्त काल के अभिलेखों को यदि ध्यान से पढ़ा जाय तो समस्त गुप्त लेखों में तिथि का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है और इन तिथियों का क्रम एक शासक से उसके उत्तराधिकारी के अभिलेख में बढ़ते हुए क्रम में दृष्ट होता है- उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभिलेखों में 82 या 93 आदि तिथियाँ उल्लिखित हैं। वहीं उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम की प्रशस्तियों में 93, 98, 117, 129 आदि तिथियाँ उल्लिखित मिली हैं। इसी क्रम में गुप्तकाल गणना या गुप्त सम्वत् का स्पष्ट उल्लेख हमें गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में प्राप्त होता है । इस प्रशस्ति में अंकित तिथि स्पष्टतापूर्वक गुप्तकाल या गुप्त सम्वत् में दी गयी हैं—

सम्वत्सराणामधिके शते तु
त्रिशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने पौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्त
प्रकाले गणनां विधाय॥[12]

गुप्त शासक कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुद्धगुप्त के सारनाथ अभिलेख में भी गुप्त सम्वत् का उल्लेख मिलता है–

वर्षे शते गुप्तानां सचतुः पञ्चाशदुत्तरे भूमिं ।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्॥[13]
गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथ्वीं बुढ़गुप्ते प्रशासति॥14

2.5 हर्ष सम्वत्

सप्तम शताब्दी में पुष्यभूति वंश के अंतिम सम्राट् थानेश्वर के हर्षवर्धन द्वारा एक नवीन काल-गणना पद्धति की स्थापना की गयी, किन्तु प्रारम्भ में इस सम्वत् के साथ कहीं भी हर्ष का नाम जुड़ा हुआ नहीं मिला है। हर्ष के बांसखेड़ा ताम्रपत्र अभिलेख में सम्वत् 22 उल्लिखित है- ईश्वरेणदेमिति सम्वत् 20+2 कार्ति वदि 1।[15] वहीं मधुबन ताम्रपत्र लेख में सम्वत् 25 का उल्लेख है- 25 मार्गशीर्ष वदि 6।[16] हर्ष द्वारा स्थापित इस सम्वत् की तिथि क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। इस विषय में अलबेरूनी हमारी सहायता करता है। अलबेरूनी ने लिखा है कि कश्मीर के पत्रा में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि विक्रमादित्य के 664 वर्ष बाद हर्षवर्धन ने राज्य किया था। इसलिए 664-57=606-07 ईस्वी हर्ष सम्वत् की तिथि स्पष्ट मिल जाती है।[17] प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग भी 642 ईस्वी के आसपास हर्ष के राजद्वार में रहा था। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि 642 ईस्वी में हर्ष 36 वर्ष राज्य कर चुका था। बाणभट्ट ने हर्षचरित में माधवगुप्त को हर्ष का मित्र बताया है। अफसद अभिलेख में भी आदित्यसेन के पिता का नाम माधवगुप्त उल्लिखित है तथा उसे हर्ष का मित्र भी कहा गया है—श्री हर्षदेवनिञ्जसंगमवाछिय च।[18] इसी आदित्यसेन के अफसद अभिलेख में 66 वर्ष अंकित है।[19] फ्लीट महोदय के अनुसार यह वर्ष हर्ष सम्वत् से सम्बन्ध रखता है। इसी की सहायता से आदित्यसेन की तिथि 672 ईस्वी मानी जाती है 606+66=672। इसी वंश के राजा विष्णुगुप्त का मंगराव का लेख 117 वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था। डॉक्टर अलतेकर के कथनानुसार 117 हर्ष सम्वत् से सम्बन्ध रखता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन सत्यापित करते हैं कि यद्यपि समस्त विश्व में कालगणना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं तथापि भारतीय पद्धति ही प्राचीनतम उपलब्ध कालगणना पद्धति है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से भी भारतीय कालगणना पद्धतियों एवं सम्वतों को अन्य वैश्विक कालगणना पद्धतियों की अपेक्षा कदापि अल्पतर आकलित नहीं किया जा सकता है।[20]

सहायक आचार्य (अतिथि)
संस्कृत विभाग, मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल - angidu90@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. इन्द्र, डॉक्टर भगवानलाल, दी हाथीगुंफा एंड श्री अदर इन्स्क्रिप्शन्स।, आर्किलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट-1905-06.
2. पाण्डेय, राजबली, भारतीय पुरालिपि, पृ. सं. 174.
3. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी 1910, पृ. सं. 243-244।
4. नंदसा यूपलेख।
5. मौखरी शासक का बड़वा यूप अभिलेख, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, सहाय, डॉक्टर शिवस्वरूप, पृद्व सं. 346।
6. वर्नाला प्रशस्ति।
7. मन्दसौर लेख नरवर्मन वर्ष 461।
8. नरवर्मन का मंदसौर लेख वर्ष 461
9. कुमारगुप्त प्रथम का मंदसौर अभिलेख।
10. यशोधर्मन की मंदसौर प्रशस्ति।
11. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख, सहाय, डॉ. शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, पृ. सं. 210
12. प्रिन्सेप, जेम्स, जर्नल, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, 7 (1838), पृ. सं. 347 ।
13. मजूमदार, रमेशचन्द्र, इण्डियन एण्टिक्वेरी, 47, (1917), पृ. सं. 116 ।
14. सरकार, दिनेशचन्द्र, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ. सं. 331
15. हर्ष का बांसखेड़ा का ताम्रपत्र लेख-सम्वत्-22, सहाय, शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन।
16. हर्ष का मधुबन ताम्रपत्र लेख, शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन।

17. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ. सं. 234 ।
18. आदित्यसेन का अफसद शिलालेख, शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन।
19. आदित्यसेन का अफसद शिलालेख, शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन।
20. ए. इ. भाग 26 पृ. सं. 241 ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- कनिंगहम : आर्क. रिपो., भाग 1.
- ल्यूडर्स : लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्सक्रिप्शन्स.
- इलियट-डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द.
- कनिंगहम : आर्क्योलॉजिकल रिपोर्ट्स, भाग 22.
- कनिंगहम : कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम भाग 1.
- पाण्डेय, राजबली, 1962, हिस्टोरीकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स.
- एपिग्राफिया इण्डिका, अंक 2.
- एपिग्राफिया इण्डिका, अंक 8.
- सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स : बेयरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, 1942, भाग 1.
- शास्त्री, हीरानन्द, एन्युएल रिपोर्ट, आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया 1927-28.
- जर्नल, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, खण्ड 3.
- सरकार दिनेशचन्द्र, एपिग्राफिक डिस्कवरीस इन ईस्ट पाकिस्तान, कलकत्ता, 1973
- प्रिन्सेप, जेम्स, जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, 6 (1837)
- डाउसन, जे., जर्नल, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 5 (1877)
- सरकार दिनेशचन्द्र, जर्नल, एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, 15, 1949
- पाण्डेय, राजबली - अशोक के अभिलेख, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2022.
- सरकार, दिनेश चन्द्र - भारतीय पुरालिपि विद्या, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2013.
- गुप्त, परमेश्वरीलाल - प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख खण्ड 1 एवं 2, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2024.
- सहाय, शिवस्वरूप - भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2000.
- शरण, महेश कुमार - प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, ए एस आर पब्लिकेशन्स, गाजियाबाद, 2014.
- अवस्थी, श्रीपति भारत के प्रसिद्ध अभिलेख, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2007.
- उपाध्याय, वासुदेव गुप्त अभिलेख, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2010.
- ओझा, गौरीशंकर - अशोककालीन धार्मिक अभिलेख, भारतीय कला, प्रकाशन, दिल्ली, 2002.
- काणे, पाण्डुरंग वामन धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, (हिन्दी समिति प्रभाग), लखनऊ, 1963.
- बाला, प्रवीण - अभिलेख सन्दर्शिका (भारतीय अभिलेखशास्त्र, पुरालिपिशास्त्र एवं कालनिर्धारण पद्धति), शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली वाराणसी, 2022.
- गोयल, श्रीराम - प्राचीन भारत का इतिहास (320 ई. से 550 ई. तक), मेघना प्रकाशन,जोधपुर, 1993.

मंदेश शर्मा

वीरेन डंगवाल के काव्य में सामाजिक यथार्थ

समकालीन कवि वीरेन डंगवाल का जन्म 5 अगस्त 1947 को कीर्तिनगर, टेहरी गढ़वाल, उत्तराखंड में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा के बाद उन्होंने प्राध्यापन का कार्य किया और शौक्रिया पत्रकारिता भी की।

वीरेन डंगवाल की कविता-यात्रा की शुरुआत 1991 में आए 'इसी दुनिया में' संग्रह से हुई हालाँकि तब तक 'रामसिंह', 'पीटी उषा', 'मेरा बच्चा', 'गाय', 'भूगोल-रहित', 'दुख', 'समय' और 'इतने भले नहीं बन जाना साथी' जैसी कविताओं ने उन्हें मार्क्सवाद की ज्ञानात्मक संवेदना से अनुप्रेरित ऐसे प्रतिबद्ध और जन-पक्षधर कवि की पहचान दे दी थी, जिसकी आवाज अपने समकालीनों से कुछ अनोखी थी और अपने पूर्ववर्ती कवियों से गहरा संवाद करती थी।

बकौल विष्णु खरे 'वीरेन डंगवाल हिंदी कवियों की उस पीढ़ी के अद्वितीय, शीर्षस्थ हस्ताक्षर माने जाएँगे जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जन्मी। वे सुमित्रानंदन पंत के बाद 'पहाड़' या उत्तरांचल के सबसे बड़े आधुनिक कवि थे। वीरेन की कई कविताएँ इसकी गवाह हैं कि समसामयिक भाषा और शैली का कवि होते हुए पर भी उनका असाधारण, अनायास अधिकार था और वह जब चाहते तब उम्दा, मंचीय गीत लिख सकते थे। इसमें वह अपने प्रशंसकों को नागार्जुन की याद दिलाते थे, जिनसे उन्होंने दोनों तरह की कविताओं में बहुत कुछ सीखा। वह स्वयं अपने को निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह, मंगलेश डबराल आदि की काव्य, संगीत तथा मैत्री की राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परंपरा से सचेतन, निस्संकोच रूप से जोड़ते थे। इन सब के नाम बाकायदा उनकी रचनाओं में किसी-न-किसी तरह आते हैं। वीरेन की कविता का वैविध्य तरदुद में डालता है। लेकिन इससे बड़ी गलती कोई नहीं हो सकती कि हम वीरेन डंगवाल को सिर्फ कवियों, कलाकारों और मित्रों का अंतरंग कवि मान लें। उनके तीन संग्रहों ''इसी दुनिया में'' (1991), ''दुश्चक्र में स्रष्टा'' (2002) तथा ''स्याही ताल'' (2009) की 188 कविताएँ, जिनमें से दस को भी कमजोर कहना कठिन है, संपूर्ण भारतीय जीवन से भरी हुई हैं जिसके केंद्र में बेशक संघर्षरत, वंचित, उत्पीड़ित हिंदुस्तानी मर्द-औरत-बच्चे तो हैं ही, एक लघु-विश्वकोष की तरह अंडज-पिंडज-स्वेदज-जरायुज, स्थावर जंगम भी हैं। हाथी, मल्लाह, गाय, गौरैया, मक्खी, मकड़ी, ऊँट, पपीता, समोसे, इमली, पेड़, चूना, रातरानी, कुए, सूअर का बच्चा, नींबू, जलेबी, तोता, आम, पिद्दी, पोदीना, घोड़े, बिल्ली, चप्पल, भात, रद्दीवाला, फ्यूली का फूल, पान, आलू, कद्दू, बुरुस, केले-यह शब्द सिर्फ उनकी रचनाओं में नहीं आए हैं बल्कि उनकी कविताओं के विषय हैं। निराला, नागार्जुन और त्रिलोचन से सीखते हुए वरिन अपने इन तीनों गुरुओं से आगे जाते प्रतीत होते हैं।''

वीरेन डंगवाल ने पाब्लो नेरूदा, बर्टोल्ट ब्रेख्त, वास्को पोपा, मीरोस्लाव होलुब, तदेऊश रोजेविच और नाजिम हिकमत आदि विश्व कवियों की कविताओं का अपनी विशिष्ट शैली में अनुवाद का दुर्लभ कार्य भी किया है।

उन्हें 'इसी दुनिया में' कविता-संग्रह के लिए रघुवीर सहाय समृति पुरस्कार और श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'दुष्चक्र में स्रष्टा' संग्रह के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार (2004) और शमशेर सम्मान प्राप्त हुआ। मंगलेश डबराल के संपादन में 'कविता वीरेन' शीर्षक से

वीरेन डंगवाल की नई-पुरानी 227 कविताओं का संकलन किया गया है।

उनके पहले संग्रह की पहली कविता की शुरुआत में ही मृत्यु की स्थिति का विचार सहसा विचलित कर देता है। जैसे आरंभ में ही अंत की मर्पस्पर्शी प्रस्तावना लिखी हुई है

''एक दिन चलते चलते यूं ही
दुलक जायेगी गर्दन
सबसे ज्यादा दुख
सिर्फ चश्मे को होगा
खो जाएगा उसका चेहरा
अपनी कमानियों से ब्रह्मांड को जैसे तैसे
थामे वह भी चिमटा रहेगा मगर''

एक स्तर पर देखें तो कवि की आत्मीयता इतनी गहन है कि वह चश्मा जैसी वस्तु को भी एक सजीवता या कहें कि मानवीयता से संचालित करने में सक्षम है वह उसी समय एक दूसरे स्तर पर यह आधुनिक समय में इंसान के अथाह और अप्रत्याशित अकेलेपन की भी कविता है—यों की उसे लगता है कि उसके अवसान पर सबसे ज्यादा दुख किसी परिजन-स्वजन-मित्र-प्रिय सरीखे मनुष्य को नहीं होगा बल्कि सिर्फ चश्मे को हुआ क्योंकि वह अपना चेहरा को देगा उसे विकट परिस्थिति में भी अपने अब अपरिहार्य प्रेम के चलते वह जैसे तैसे ब्रह्मांड को थामे रहेगा एक तो वह विश्व होता है और दूसरा आभ्यंत्रीकृत संवेदना चिंतन सौंदर्य बोध और कल्पना के स्तर पर वह यह दूसरा विश्व ही जिसे हम अपनी चेतना में धारण करते हैं हमारा वास्तविक विश्व या ब्रह्मांड है कवि का नीकष या इम्तिहान भी यही होता है कि कितने बड़े विश्व को वह आत्मसात कर सका है

महज इत्तेफाक नहीं कि वीरेन डंगवाल की काव्य-भाषा में प्रचुर वैविध्य है, उसकी बहुत सारी तह और एक व्यापक रेंज है संपूर्ण हिंदी क्षेत्र के तमाम अंचलों की वह नुमाइंदगी करती है परंपरा, प्रकृति और संस्कृति में उसकी जड़ें गहरी जाती हैं और सबसे बड़ी सीफत है कि वह तत्सम के बजाय लगातार तद्भव की ओर जाती हुई जबान है जैसे की स्वयं वीरेन बराबर साहित्य के दायरे के बाहर बेहतर जिंदगी की जानिब जाते हुए कवि हैं इसलिए वह नाजिम हिकमत के इस मंतव्य पर इसरार करते हैं कि कविता की भाषा और जीवन की भाषा को अलग-अलग नहीं होना चाहिए और उसके पास आत्मा की गीली मिट्टी पर छाप छोड़ सकने वाली बेहद जीवंत और जबरदस्त काव्य भाषा है ध्वनियों के जितने प्रयोग उन्होंने किये शायद ही किसी समकालीन कवि ने किया हो उन्हें अनुभव के आख्यान में एकरसता और एकपक्षीयता नहीं है वह इस सोच के हामी थे की कविता में तकलीफ और जद्दोजहद ऊपर उसे जीवन द्रव्य और जीवन रस की बात भी हो जिसके बगेर संघर्ष मुमकिन ही नहीं है तभी वह कहते हैं की रचना के लोक में प्रसन्नता की भी उतनी ही अपरिहार्य जगह है जितनी करुणाकी और गोया कविता में व्यवहार की जमीन पर इसे संभव करके दिखा देते हैं-

''कड़ी जैसी बाहें तेरी झुलस झुर जाएगी
पपड़ जाएंगे होठ गदबधे प्यासे प्यासे
फिर भी मन में रखा घड़ा ठंडी मीठे पानी का
इस भीषण निदाघ में तुझको आपलाबित रखेगा
अलबत्ता लली, घाम मे जाइए, तो छतरी ले जाइए''

वीरेन डंगवाल की कविता बेहद सीमित मध्यवर्गीय यह उच्च मध्यवर्गीय नागरिक अनुभव की अकादामिक किस्म की या आभासी कविता नहीं है जो अक्सर निरी बौद्धिक कसरत के बूते लिखी जाती है बल्कि उसमे आमदनी की निचली और सबसे निचली सतहों पर गुजर बसर करनेवाली मनुष्यता के सुख दुख स्वप्न और संघर्ष है। वीरेन हमारे समय मै पूंजी के अभूतपूर्व और अप्रत्याशित प्रभुत्व की वजह से संकट में पड़े हुए बहुधा तबाह हो गए हिंदुस्तान के सामान्य जन जीवन के कवि है और उसकी यातना के गहरे और इंटेंस लहजे में व्यक्त करते है

''धन का धन
रहा बाज घन्ना घन्ना
धन धन धन
धनन घनन
फटे जा रहे परदे भ्रांतिगृस्त कानों के
छूटे चले जाते है छक्के प्राणों के''

वीरेन अभिजन के नहीं जन के कवि है। संभ्रांत जन तो समृद्ध सशक्त सुख भोग रत और संतुष्ट है ही लेकिन उनका यह ऐश्वर्या और आह्लाद मूल्यनिष्ठा से उनकी विमुखता का नतीजा है

''हवा तो खेर भरी ही है कुलीन केशों की गंध से
इस उत्तम वसंत में
मगर कहां जागता है एक भी शुभ विचार''

लाजिम है की कवि उस निष्क्रियता पर पड़ा पर्दा उठाता

और उस पर चोट करता है जिसमे हमारे समाज का उच्च मध्य और मध्यवर्ग लिप्त है और थोड़ी बहुत शर्मिंदगी को ही अपने कर्तव्य पालन का पर्याय मानता है

''खरखराते पत्तों में कोपलो की ओट में
पूछते हैं पिछले दंगों में कत्ल कर डाले गए लोग
अब तक जारी इस पशुता का अर्थ
कुछ भी नहीं किया गया
थोड़ी बहुत लज्जित होने के सिवा''

यह कविता तकरीबन अड़तीस बरस पहले 1984 में लिखी गई थी लेकिन एकदम नई और प्रांसगिक लगती है क्योंकि जिस विडंबना का आख्यान इसमें है वह आज भी जारी है बल्कि अब तो और हिंसक रूप में वीरेन निराला नागार्जुन शमशेर और रघुवीर सहाय जैसे पूर्वज कवियों के अलावा मुक्तिबोध की परंपरा से गहरे जुड़े हुए कवि हैं और अपने पहले संग्रह की दूसरी कविता में ही अंधेरे में सरीखी क्लासिक कविता में आने वाले पागल के आत्मोद्यवोधम में गान की याद दिलाते हैं–

''किसी से कुछ लिया नहीं न किसी को कुछ दिया
ऐसा भी जिया जीवन तो क्या जिया ?''

यह सवाल है, जो वह जिंदगी भर करते रहे, अपने से और दूसरों से भी यह भूल जाने की बात नहीं है कि जवाब कमोबेश यही पाते हैं–

कुछ भी नहीं किया गया
थोड़ा बहुत लज्जित होने के सिवा

मुक्तिबोध की कविता के इस बेचैन आग्रह को भी यहां स्मरण कर लें तो सार्थकता का एक चक्र पूरा होता है

''जितना भी किया गया
उससे ज्यादा कर सकते थे।
ज्यादा मर सकते थे''

अपनी कविता मै आजादी के बाद झंडा फहराने को लेकर वीरेन डंगवाल कहते हैं कि

''इतने बड़े हुए मगर छूने को ना मिला अभी तक
कभी असल झंडा
कपड़े का बना, हवा में फड़फड़ करने वाला
असल झंडा
छूने तक को ना मिला''

15 अगस्त सिर्फ आजादी का जश्न मनाने के लिए नहीं है बल्कि जो आजादी इस दिन हमारी स्वाधीनता सेनानियों ने अपने त्याग और बलिदान की बदौलत अविराम संघर्षों से हासिल की थी उसे देश के साधारण जन की सच्ची और संपूर्ण आजादी में बदलने की हमारी जिम्मेदारी को भी हमें याद दिलाने का दिन है शबाब यह है कि आजादी असल झंडा अभी तक भारत के दबे कुचले आवाम को छूने तक को नसीब नहीं हो पाया है।

वीरेन डंगवाल अपनी कविता में उन लोगों के बारे में भी बात करते हैं। जो उच्च वर्ग के लोग हैं और स्वयं को सभ्यता का पोषक समझते हैं।

''खाते हुए मुँह से चपचप कि आवाज होती है?
कोई राम नहीं
वे जो मानते हैं वे आवाज जबड़े को सभ्यता
दुनिया के सबसे खतरनाक खाऊ लोग हैं''

वीरेन डंगवाल अपनी इन पंक्तियों में उन लोगों की बात करते हैं जो दूसरे लोगों को अपने से हीन भाव से देखते हैं।

'तोप' कविता में वीरेन डंगवाल ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो उसे घमंड नहीं होना चाहिए। जिस तरह कंपनी बाग में रखी हुई तोप को घमंड था कि उसने बहुत बड़े बड़े सूरमाओं को धूल चटायी है। ठीक उसी प्रकार समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपने घमंड में चूर रहते हैं। उसी अपनी कविता तोप में वे आगे ये बताने का प्रयत्न करते हैं कि कोई भी व्यक्ति या वस्तु शाश्वत नहीं होता। हर किसी का एक समय होता है।

''वे बताती हैं कि दरअसल कितनी भी बड़ी हो तोप
एक दिन तो होना ही होता है उसका मुँह बंद।''

'पी.टी उषा' कविता में वे पी.टी उषा को एक तरीके से हिदायत भी देती हैं, कि चाहे वो किसी भी मुकाम पर पहुँच जाए परंतु अपनी असलियत से वाकिफ रहे। वे कहते हैं कि

''मत बैठना पी.टी. उषा
इनाम में मिली उस मारुति पर मन में भी इतराते हुए
बल्कि हवाई जहाज में जाओ
तो पैर भी रख लेना गद्दी पर''

दरअसल वे इन पंक्तियों से उन सभी लोगों पर तंज कसना चाहते हैं जो थोड़ी सी शोहरत मिलने पर अपने आप को भूल जाते हैं।

हमारा समाज कविता मैं वीरेन डंगवाल समाज का नग्न यथार्थ दशति हैं कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि उसको प्यार न मिले। या उसको भोजन वस्त्र न मिले। उसके सर के

ऊपर छत न हों, बीमार पड़े तो उसका इलाज ठीक से न हो। परंतु हमें कैसे समाज में जी रहे हैं जहाँ सब कुछ उल्टा हो रहा है। व्यक्ति को जो चाहिए वो नहीं मिल पा रहा है। वो बताते हैं कि जो भी यहाँ तरक्की कर रहा है वे लगभग भ्रष्टाचार की कमाई से कर रहा है सरेआम सड़क पर कत्ल हो रहा है जो निर्दोष हैं वे मारा जा रहा है कि आखिर ऐसा समाज किस ने रचा है।

''पर हमने यह कैसा समाज रच डाला है
इसमें जो दमक रहा, शर्तिया काला है।
वह कत्ल हो रहा, सरेआम चौराहे पर
निर्दोष और सज्जन, जो भोला भाला है।''

पत्रकारिता के सच बतलाते हुए अपनी कविता 'पत्रकार महोदय' में वीरन डंगवाल ने पत्रकारिता का वह चेहरा प्रस्तुत किया है, जो समाज से बिलकुल भिन्न है। समाज में जो कुछ भी हो रहा है उसको समाज तक पहुँचाने का काम मीडिया का है। परंतु हमारा मीडिया किस तरह से अपने कार्य को करने में असमर्थ है। और सिर्फ अपने फायदे के लिए काम करता है यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

''इतने मरे
यह थी सबसे आम, खास खबर
छापी भी जाती थी
सबसे चाव से जितना खून सोचता था
उतना ही भारी होता था।''

दरअसल वह यह बताना चाहते हैं कि समाज में भले ही कितनी भी बड़ी घटना घटी हो, उन्हें मानवीय धरातल पर आकर एक मनुष्य के नाते यह नहीं सोचना होता कि इसका प्रभाव संभाल पर क्या पड़ेगा। बल्कि उन्हें दुनिया के सबसे बड़े नरसंहार में भी अपनी खबर दिखाई पड़ती है। हादसा जितना भी बड़ा हो उनके लिए खबर उतनी ही अच्छी होती है। उनके लिए इंसानों की मौत जितनी अधिक संख्या में हो खब्बर उतनी ही महत्वपूर्ण होती है। खबर किस पेज पर छापी जाएगी तथा उसका कितना महत्व है इसकी कीमत उनके लिए इंसानी जान से ज्यादा है।

चिकित्सा क्षेत्र पर तंज कसते हुए वीरेन डंगवाल कहते हैं कि डॉक्टर किस तरह आम लोगों को आर्थिक और मानसिक रूप से अपाहिज कर रहे हैं। लेकिन समाज को आदर्श रूप में दिखाने की कोशिश करते हैं कि वे मानव सेवा के सिवा कुछ नहीं कर रहे। सच यह है कि उन्हें लोगों की जिंदगी से कोई फर्क नहीं पड़ता। उनके लिए कोई भी व्यक्ति महज पैसा कमाने का जरिया है जो व्यक्ति अमीर है उसकी जान की कीमत ज्यादा है। जबकि गरीबों की जिंदगी की कीमत महज जानवरों के बराबर है। ऐसे उपकरण और दवाएँ जो सस्ती आती हैं उन्हें भी निजीकरण के कारण डॉक्टर ऊँचे दाम पर बेचते हैं। जिसके कारण आमजन चिकित्सकों की ये सहायता पाने से वंचित है। सरकारी अस्पतालों में डॉक्टरों का रवैया बिलकुल अमानवीय होता है।

''वह जो कुर्सी पर बैठा
अखबार पढ़ने का ढोंग कर रहा है
जासूस की तरह
'वह दरअसल मृत्यु का फरिश्ता है'।''

यद्यपि यह बात सत्य है कि आधुनिकीकरण के इस युग में संसार में मानव को एक यंत्र बना दिया है। परंतु साथ ही साथ यह बात भी सत्य हैं कि आधुनिक काल के केंद्र में भी मानव ही है। दुख, पीड़ा के साथ साथ प्रेम भी वीरेन डंगवाल की कविता का प्रमुख अंग रहा है। वे तो प्रकृति का भी वर्णन करते हैं उनकी कविता कानपूर में प्रकृति वर्णन करते हुए पंक्तियाँ इस प्रकार है।

''प्रेम तुझे छोड़ेगा नहीं
है वह तुझे खुश और तबाह करेगा।
सातवीं मंजिल की बालकनी से देखता हूँ
नीचे आम के धूल सने पेड़ पर
उतरा है गमकता हुआ वसंत किंचित शरमाता।
बड़े-बड़े बेंजनी
पीले-लाल-सफेद डहेलिया
फूलने लगे हैं छोटे-छोटे गमलों में भी।
निर्जन दसवीं मंजिल की मुंडेर पर
मधुमक्खियों ने चालू कर दिया है
अपना देसी कारखाना।''

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ ग्रंथ

1. प्रतिनिधि कविताएँ, वीरेन डंगवाल, संपादक-पंकज चतुर्वेदी, राजकमल पेपरबैक्स
2. विकिपीडिया
3. हिन्दवी, गूगल साइट

अंकिया नाटक और श्रीमंत शंकरदेव

सूर्यप्रकाश

नाटक को भरतमुनि ने पंचम वेद की संज्ञा दी है।नाटक दृश्य एवं श्रव्य माध्यम है। जो देखने और सुनने के कारण सहज रूप से ग्रहण हो जाता है।साहित्य की सभी विधाओं में नाटक एकमात्र ऐसी विधा है जिसका मंचन समस्त श्रोताओं को सीधे साधारणीकरण की अवस्था में एक साथ लेकर चलता है। सभी श्रोता एक साथ नाटक की यात्रा पर होते हैं मंच और अभिनय श्रोताओं को बाँधकर रखते हैं। मोटे तौर पर देखें तो यह संपूर्ण धरती एक रंगमंच है और इस पर रहने वाले प्राणी अभिनेता जो अपने-अपने किरदार को निभाते हैं।

''यहाँ 'नाट्य' से तात्पर्य केवल नाटक अथवा रंग से नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत नाटक (कृति), रंग, वास्तु, अभिनय, रस, छन्द, नृत्य, संगीत, अलंकार, वेशभूषा, रंग-शिल्प, उपस्थापन, पात्र और दर्शक-समाज सब है और इन सबका शास्त्र 'नाट्य-शास्त्र' है। नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय का एक सौ सोलहवाँ श्लोक इस स्थापना को स्वयं प्रमाणित करता है।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्नदृश्यते॥

अर्थात् अध्ययन (श्रव्य एवं दृश्य) से प्राप्त किया ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, कोई शिल्प नहीं है, विद्या नहीं है, कला नहीं है, योग नहीं है, कर्म नहीं है, जो इस 'नाट्य' में न देखा जाता है। पाश्चात्य नाट्य साहित्य में 'थियेटर' शब्द का व्यवहार और अर्थ-गौरव भी इस 'नाट्य' के अनुरूप है। वहाँ 'थियेटर' के अन्तर्गत, नाट्य-साहित्य, प्रस्तुतिकरण, अभिनय, उपस्थापन, रंग-शिल्प, रंगभवन, रंगशाला और नाट्या-लोचन और इन सबका शास्त्र समाहित है।''[1]

अंकिया नाटक की परंपरा पूर्वोत्तर से मानी जाती है। श्रीमंत शंकरदेव जी ने अंकिया नाटक का सूत्रपात किया। अंकिया नाटकों के भीतर ईश्वर की कथा रहती है। जिसका प्रदर्शन भाओना कहलाता है। श्रीमंत शंकरदेव ने अंकिया नाटकों की रचना कर उसे विश्वभर में ख्याति दिलाई। इन नाटकों में पौराणिक आख्यान विषय वस्तु के रूप में स्थित रहते हैं। शंकरदेव अखिल भारतीय भक्ति आंदोलन के प्रणेताओं में से एक हैं जिन्होंने पूर्वोत्तर में रहकर भक्ति आंदोलन को प्रवाहमान बनाया। उन्होंने पूर्वोत्तर में भक्ति की एक नई शाखा का ही सूत्रपात किया जिसे आज भी उनके अनुयायियों ने जारी रखा है।

16वीं शताब्दी में शंकरदेव ने अंकिया नाट्य की रचना की ऐसा माना जाता है। जब इसे मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तब इसे भाओना कहा जाता है। अंकिया नाटक एक अंक का होता है इसलिए इसे अंकिया कहा जाता है। हालांकि अंकिया पूरे विश्व में केवल असम में ही होता है और एक मात्र शंकरदेव जी के नाटकों को ही यह संज्ञा प्राप्त है। उनके शिष्य माधवदेव जी के नाटकों को झूमरा कहा जाता है। शंकरदेव ने नाटकों के माध्यम से ही सनातन परंपरा को सरंक्षित करने का उपक्रम किया, जिसे पूरे पूर्वोत्तर ने अपनाया। और इस रूप में ईश्वर की आराधना को स्वीकार किया। ईश्वर को याद करने का नया मार्ग निर्मित किया प्रदर्शनकारी कलाओं के रूप में जिसके अंतर्गत नाटक भी उन्हीं कलाओं में से एक है।

शंकरदेव की नाटक संबंधी यात्रा का वर्णन चिह्न यात्रा से हुआ है उन्होंने बहुत नाटकों की रचना की जिन्हें अंकिया

नाटक की श्रेणी में रखा गया। उनके मंचन का विधान भी शंकरदेव ने स्वयं ही निर्धारित किया। शंकरदेव प्राग्ज्योतिषपुर के नायक हैं। जिन्होंने पूर्वोत्तर की संस्कृति को बचाए रखने का कार्य किया एवं भक्ति को सरलतम रूप प्रदान किया, प्रदर्शकारी कलाओं का सूत्रपात करके उनके माध्यम से सनातन को बचाने का नया प्रकल्प चलाया गया।

''श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568 ई.) असम के साथ-साथ भारत के भी एक प्रमुख नाटककार थे। उन्होंने एक नाटककार और निर्देशक के रूप में कई विश्व रिकॉर्ड बनाए। उनके पहले नाटक चिहना यात्रा ने आधुनिक भारतीय भाषाओं में क्षेत्रीय नाटकों के आंदोलन की शुरुआत की। यह नाटक 1468 ई. में तेम्बुवानी (बरदोवा) में खेला गया था। दुर्भाग्य से इस नाटक की कोई स्क्रिप्ट नहीं बची, जिसके कारण कई लोगों का मानना है कि यह लिखित नाटक नहीं था। लेकिन प्राचीन ऋषियों की कहानियों में श्रीमंत शंकरदेव द्वारा इस नाटक को लिखे जाने के बारे में विशद वर्णन हैं। इसके अलावा कई गीत भी उपलब्ध हैं जिन्हें पारंपरिक रूप से चिहना यात्रा के गीत के रूप में जाना जाता है। इसलिए उचित देखभाल के अभाव में इस नाटक की स्क्रिप्ट खो गई।''[2]

अंकिया नाटक केवल शंकरदेव के नाटकों को ही कहा जाता है, इसकी अपनी एक विशेषता है। यह नाटक केवल शंकरदेव द्वारा निर्मित हैं उनके शिष्य माधवदेव जी के नाटकों को झुमुरा के नाम से जाना जाता है। अंकिया नाटक की संज्ञा मात्र शंकरदेव के नाटकों को मिली है। यह अंकिया नाटकों का महत्व है।

''श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित नाटकों को अंकिया नाटक या अंका के नाम से जाना जाता है। इन नाटकों को एक विशिष्ट शैली में मंचित करना भावना कहलाता है। श्रीमंत शंकरदेव के अनुयायियों द्वारा लिखे गए नाटकों को भी भावना कहा जाता है। लेकिन उनके नाटकों को अंकिया नाटक नहीं कहा जाता। अंकिया नाटक शब्द केवल श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों के लिए आरक्षित है। यहाँ तक कि माधवदेव द्वारा लिखे गए नाटकों को भी अंकिया नाटक नहीं कहा जाता। इन्हें झुमुरा कहा जाता है। केवल माधवदेव द्वारा रचित नाटक अर्जुन भंजना श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों की ही शैली का है, जिसके कारण उस नाटक को अंकिया नाटक कहा जा सकता है।''[3]

श्रीमंत शंकरदेव ने मंच सज्जा तथा नाटक के मंचन के प्रयोग में आने वाली सामग्री का भी स्वनिर्माण किया। जैसे मुखा कला (मुखौटा कला)। आज पूरे विश्वभर में माजुलि मुखौटा कला के लिए लोक प्रसिद्ध है। इसके साथ-साथ मंच की सज्जा तथा उसके द्वार का निर्माण यह कलाएं शंकरदेव के करकमलों से ही उत्पन्न हुई। जिस कारण इन्हें भारत में एक महान संत के रूप में जाना जाता है। जिनके विलक्षण व्यक्तित्व ने अपने को समान मनुष्य से पृथक कर एक महान पुरुष में तब्दील किया।

अंकिया नाटकों की खोज की जा चुकी है जिनमें श्रीमंत शंकरदेव जी द्वारा रचित नाटक निम्नलिखत हैं- पत्नी प्रसाद, रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण, जन्मयात्रा, गोपी उद्धव संवाद, कांगसा बाधा, राम विजय, कालिया दमन और केलि गोपाला आदि

शंकरदेव ने बहुत से काव्यग्रंथों की भी रचना की है, उन्होंने भक्ति संबंधी रचनाएं ही अधिकतर की क्योंकि रचना करने के पीछे का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट था कि उन्हें सनातन परंपरा का प्रचार एवं प्रसार करना है। इनका जन्म असम के बारदोवा में हुआ इन्हें दास में असमियां भाषा मिली परंतु जब इन्हें रचनाकर्म करना पड़ा तब उन्होंने लोक प्रचलित भाषा ब्रजबलि अथवा ब्रजावलि को चुना। इन्हें भक्ति काव्य के साथ-साथ नाटकों के लिए भी ब्रजावलि का ही चयन किया। जिससे उनको श्रोताओं एवं पाठकों को नाटकों अथवा इनकी भक्ति संबंधी मान्यताओं को समझने में अधिक श्रम न करना पड़े। ब्रजबुलि तत्कालीन समाज की रचनाकर्म की भाषा थी जिसे श्रीमंत शंकरदेव ने अपनी रचना का माध्यम बनाया।

''श्रीमंत शंकरदेव ने अपने बड़गीतों की तरह अंकिया नाटकों में भी ब्रजावली भाषा का प्रयोग किया। शायद वह अखिल भारतीय दर्शक चाहते थे, ताकि उनका संदेश उत्तर भारत में फैल सके। नाटककार इस लक्ष्य में सफल भी हुए। बंगाली समाज और मैथिली समाज अंकिया नाटकों से अत्यधिक प्रभावित थे। यहां तक कि बंगाल में लोकप्रिय यात्रा आंदोलन भी श्रीमंत शंकरदेव के अंकिया नाटकों से निकला था, जिसमें नामकरण में 'यात्रा' शब्द का प्रयोग किया गया था। उल्लेखनीय है कि अंकिया नाटक के मंचन को दर्शाने के लिए भौना नाम असम में बहुत बाद में लोकप्रिय हुआ। पहले अंकिया नाटकों को यात्रा के नाम से जाना जाता था। इस संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि संत के पहले नाटक का नाम चिहना यात्रा रखा गया था। बंगाली यात्रा नाटकों के साथ-साथ मैथिली

नाटकों में अभिनेताओं द्वारा प्रवेश की विधि अंकिया नाटकों में प्रवेश की विधि के समान ही है। इसके अलावा दर्शकों के बीच में इन नाटकों का मंचन भी शंकरी नाटकों से लिया गया है। मैथिली नाटकों में नंदी के बाद भगवान की प्रार्थना की जाती है, ठीक वैसे ही जैसे अंकिया नाटकों में होती है। ब्रजावली के प्रयोग के कारण ये सभी परंपराएँ अंकिया नाटकों से मैथिली नाटकों में चली आईं।''[4]

अंकिया नाटक के प्रारूप का वर्णन करना आवश्यक है। यह नाटक स्थानीयता को लिए हुए सामूहिकता में जीने का प्रयास है। जिसमें सभी शामिल रहते हैं। स्थानीय लोगों को प्रशिक्षित किया जाता है। उन्हें मुखौटा कला से लेकर सत्रीय नृत्य तक सिखाया जाता है। आश्रम में शिशु संन्यासियों की भी व्यवस्था है। जिन्हें हस्तकला के साथ-साथ तमाम कलाओं का ज्ञान दिया जाता है। साथ ही उन्हें आध्यात्म के प्रति उन्मुख रहने के लिए उनके भीतर भक्ति तत्व को जागृत किया जाता है। एक संदर्भ के माध्यम से अंकिया नाटकों की प्रस्तुति की प्रक्रिया को भलि-भांति समझा जा सकता है।

''इन नाटकों में सभी पात्रों का अभिनय पुरुषों द्वारा किया जाता है। ढोल की थाप भौना की शुरुआत का संकेत है। इस बीच, कलाकार मुख्य मंडप से दूर स्थित एक हरे कमरे में तैयार होते हैं। दर्शक आमतौर पर मंडप के चारों ओर बैठते हैं। पहले एक पूर्वरंग (प्रारंभिक प्रदर्शन) एक प्रस्तावना के रूप में आयोजित किया जाता है, जिसमें भक्ति छंदों का गायन शामिल होता है। पारंपरिक भौना में एक सूत्रधार शामिल होता है जो कथानक और पात्रों का परिचय देता है, और प्रदर्शन शुरू करने के लिए एक छंद का पाठ करता है। फिर ऑर्केस्ट्रा और कलाकार मंच पर प्रवेश करते हैं। नर्तक, पात्रों की भावनाओं को इंगित करने के लिए भौना मुखौटे पहनते हैं, संगीत और गाए गए छंदों की धुन पर मुद्रा और लयबद्ध नृत्य का उपयोग करते हैं। प्रदर्शन पीतल के झांझ और ड्रम के साथ होते थे।''[5]

विभिन्न नाटकों से अंकिया किस प्रकार भिन्न है यह उसके अवलोकन से ही जाना जा सकता है। परंतु फिर भी मोटे-मोटे अंतर की व्याख्या कर देनी चाहिए। यह अंकिया नाटक लोक नाट्य शैली के अनुकूल है। इन नाटकों की वस्तु पौराणिक है जिसमें ईश्वर की कथा का ही वर्णन होता है।नाटक में राम और कृष्ण से संबंधित क्रिया व्यापार ही मंच से प्रदर्शित होता है।

''प्रत्येक अंकिया नाट एक भतिमा (आशीर्वाद) के साथ शुरू और समाप्त होता है। संस्कृत नाटक के विपरीत, नाटकों की इस नई शैली में विदूषक (विदूषक) नहीं है और नाटक अंकों में विभाजित नहीं हैं। ऐसे नाटक संस्कृत नाटकों से भिन्न होते हैं जहाँ सूत्रधार को एक छोटे पात्र के रूप में उपयोग किया जाता है। अंकिया नाट में सूत्रधार जोरदार तरीके से एंकर की भूमिका निभाता है, जो दृश्य से बाहर निकले बिना एक समन्वयकारी पात्र होता है। सूत्रधार, नाटक और पात्रों का परिचय देने के अलावा, पूरे नाटक में प्रत्येक दृश्य का परिचय देते हुए और कार्रवाई की व्याख्या करते हुए अपनी भूमिका निभाता रहता है। वह गाता भी है, नाचता भी है और संक्षिप्त प्रवचन भी देता है। इसके अलावा, सूत्रधार नाटक और दर्शकों के बीच एक कड़ी का काम करता है। दृश्य, घटनाएँ और परिस्थितियाँ जिन्हें मंच पर नहीं दिखाया जा सकता, उन्हें सूत्रधार को गीतों और हाव-भावों के माध्यम से वर्णन करने के लिए छोड़ दिया जाता है ताकि दर्शक सही ढंग से समझ सकें।''[6]

शंकरदेव द्वारा निर्मिति अंकिया नाटकों में रस का भी अस्तित्व बना रहा है उसमें किसी प्रकार का रस दोष नहीं मिलता है। हां भारतीय पौराणिक कथानक में थौड़ा बहुत हेर-फेर अवश्य महसूस होता है परंतु इससे न तो कथा का रूप ही बिगड़ता है और न ही उसका उद्देश्य। इस कारण वह एक महान नाटककार के रूप में अपनी एक अलग पहचान कराते हैं।

''शंकरदेव के केलिगोपाल (रास), रुक्मिणीहरण, पारिजातहरण और राम-विजय नाट में इस प्रकार के श्रृंगारात्मक भक्तिरस का प्रकाश होता है। महापुरुष शंकरदेव जी ने अपने ग्रंथ कीर्तन की रास क्रीड़ा के वर्णन प्रसंग में इस प्रकार लिखा है-

'श्रृंगाररसे यार आछे रति,
आक शुनि हौक निर्मल इति'[7]

इन नाटकों के अंतर्गत भगवत प्रेम ही अंतर्निहित है। जिसमें श्रृंगार भी वैसा है जैसा सूरदास के यहां है मीरा के यहां है।

''श्रृंगार रस जिसको पसन्द है, उसकी मति इस रास की कथा से सुधर जायेगी-निर्मल होगी। श्रृंगार रसात्मक वर्णन से भी पाठकों की मति सुधरने की आशा इसीलिए की गयी है कि रास आदि में जो श्रृंगार है, वह साधारण स्तर का लौकिक शृंगार नहीं। इसका स्थायी भाव भी अलौकिक और आलम्बन विभाव भी अलौकिक है। अत: अलौकिक भगवत् प्रेम के

चित्रों से दर्शकों और पाठकों के मन भी, भगवत् प्रेम के रस में ही निमज्जित होंगे। मीराबाई का हृदय ऐसे प्रेम में ही मग्न रहा करता था। लौकिक प्रेम में तो, यह सम्भव ही नहीं कि जो व्यक्तिरूप में इस संसार में जीवित नहीं है, उससे कोई जीवित व्यक्ति अपने हृदय का सब कुछ सौंपकर प्रेम करे।"[8]

यह प्रेम कथाएं ईश्वरीय रूप लिए हुए हैं।आध्यात्म का अंग है जिसमें आराधना के लिए एक नया मार्ग खोज लिया है। जो कि बेहद सरल एवं सुगम है। जिसे प्रत्येक जाति जनजाति तथा प्रत्येक आयु वर्ग का व्यक्ति इस आराधना का हिस्सा बन सकता है। अंकिया नाटक महज नाटक नहीं है बल्कि वह एक आध्यात्मिक व्यवस्था है।जिससे समाज में भक्ति का प्रचार एवं प्रसार होता है।सनातन का भाव बना रहता है।

पीएच.डी शोधार्थी
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
Email - Surya3581@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. रंगमंच और नाटक की भूमिका, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ-1
2. श्रीमंत शंकरदेव का अंकिया नाटक और भाओना, एक टिप्पणी छोड़ें / असम, असम इतिहास, संस्कृति, साहित्य, संगीत, धर्म, शंकरदेव / डॉ. संजीब कुमार
3. वही
4. वही
5. (शीर्षक - भाओना, MAP Academy https://drsanjib-net/ankiya-play-and-bhaona-of-srimanta-sankaradeva/
6. संपादकीय, श्रीमंत शंकरदेव का अंकिया नाता, प्रकाशित : 01 सितंबर 2019, 4:22 पूर्वाह्न, श्रीमंत शंकरदेव तिथि आज, प्रांजल दत्ता
   लेखक सरूपथार कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के सहायक प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष हैं। उनसे pranjalduttaspr@gmail.com पर संपर्क किया जा सकता है।
7. श्रीमंत शंकरदेव जीवन और दर्शन पृ. 155
8. वही

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कुमार, प्रो. चन्दन, संपादक, श्रीमंत शंकरदेव जीवन और दर्शन, प्रभाकर प्रकाशन, प्रकाशक: प्रभाकर प्रकाशन प्लॉट नं.-55, मेन मदर डेयरी रोड, पांडव नगर, ईस्ट दिल्ली-110092, प्रकाशन वर्ष-2022
2. सांगानेरिया, साँवरमल, लोहित के मानसपुत्र : शंकरदेव (असम के भक्तिकालीन संत कवि की जीवनगाथा) राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत National Book Trust, India, NBT-India, निदेशक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070, प्रकाशन वर्ष-2023
3. महंत, पोना, भारतीय साहित्य के निर्माता शंकरदेव, कुंदन माली, अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद साहित्य, साहित्य अकादेमी, साहित्य अकादेमी, प्रधान कार्यालय : रवींद्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001, प्रकाशन वर्ष -2021
4. शीर्षक - भाओना, MAP Academy https://drsanjib-net/ankiya-play-and-bhaona-of-srimanta-sankaradeva/
6. संपादकीय, श्रीमंत शंकरदेव का अंकिया नाता, प्रकाशित : 01 सितंबर 2019, 4:22 पूर्वाह्न, श्रीमंत शंकरदेव तिथि आज, प्रांजल दत्ता
   (लेखक सरूपथार कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के सहायक प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष हैं। उनसे pranjalduttaspr@gmail.com पर संपर्क किया जा सकता है)
6. https://mapacademy.io/article/bhaona/

प्रेमचंद की रचनायें और हमारा समय

अनीता कुमारी

'No Time without soul'

'आत्मा के बिना समय नहीं होता' - अरस्तु

प्रेमचंद महज एक रचनाकार ही नहीं भारतीय समाज के ऐसे वैध हैं जिनके पास भारतीय समाज की हर रोग की दवा है। जहाँ अपनी रचनाओं में भारतीय समाज की बीमारी दिखाते हैं तो वहीं अपने लेखों, निबंधों में उसकी औषधी भी बताते हैं। उनकी कलम भारतीय समाज के कोने-कोने में ऐसे दौड़ लगाती है कि उनके स्याही की लिखावट मिट भी जाए तो भी निशान की शाश्वता बरकार रहेगी। यही वजह है कि लगभग एक शताब्दी के बाद भी आज प्रेमचंद हर कही प्रासंगिक हैं चाहे वह सांप्रदायिकता की समस्या हो, दलित समस्या हो, स्त्री समस्या हो अथवा भष्टाचार की समस्या हो।

समय क्या केवल वही होता है जिसका आकलन हम घड़ी में करते हैं। जिसे कैलेंडर में देखते हैं या जिसकी कैल्कुलेटर से गणना करते हैं? या समय वह है जिसे दिन, महीनों या वर्षों में गिनते हैं?

विज्ञान की माने तो विज्ञान समय को हमेशा वस्तुगत मानता है लेकिन दर्शनशास्त्र इसकी व्याख्या वस्तुगत ना कर व्यक्तिगत करता है। दर्शन समय को व्यक्ति के मनोविज्ञान से जोड़ता है।

कांट के अनुसार समय और मानव मस्तिष्क को अलग नहीं किया जा सकता। वहीं बौद्ध धर्म कहता है समय हमारी चेतना से जुड़ा होता है अर्थात् जैसे-जैसे मानव मन और मस्तिष्क का विकास होता है समय और काल का परिर्वतन भी वैसे ही होता जाता है। समय की निर्भरता हमारी अंत चेतना पर होती है। समय और सोच का गहरा संबंध होता है। हमारी चेतना घंटो या क्षणों या कुछ लम्हों में बनी हुई कोई चीज़ नहीं यह तो अतीत में रोपा गया वह वटवृक्ष है जिसकी जड़ें वर्तमान से होते हुए भविष्य तक फैलती चली जाती हैं।

हमारी अंतश्चेतना हमारे ही अतीत के खाद-पानी से पोषित और सिंचित होती है। फ्रायड के सिद्धांतों के अनुसार हमारी अंतश्चेतना हमारी अवचेतन का हिस्सा है जो हमारे पालन पोषण एवं संस्कृति से बनती है।

'अगर अतीतबोध भ्रामक होगा तो वर्तमानबोध भी कुंठित होगा"[1]

वर्तमान के जिन कड़वे या मीठे फलों का स्वादानुभाव हम करते हैं उसको जानने के लिए अतीत के ना केवल उस बीज बल्कि उस समय की मिट्टी की भी जांच-परख करनी पड़ेगी जिस मिट्टी ने इस वर्तमान के वृक्ष को सींचा है!

अत: आज के भारतीय समाज और सोच को जानने के लिए भारतीय समाज और जनमन के व्याख्याकार रचनाकार कथा सम्राट प्रेमचंद से अच्छा कौन हो सकता है!

प्रेमचंद ने लगभग तीन सौ कहानियां एवं एक दर्जन उपन्यास लिखें जो कि बीसवीं सदी के आरंभ से लेकर 35-36 सालों के इतिहास की व्याख्या करता है। लेकिन उनका साहित्य अपने युग का प्रतिबिंब मात्र नहीं है उन्होंने जीवन के जो गहरे और अमिट रेखा चित्र तैयार किए हैं उनसे, हमें यह भी पता चलता है जीवन की ये रेखायें किस दिशा में आगे बढ़ रही हैं। इस बात का भी पता चलता है कि घटनाओं की ऐतिहासिक धारा का आगामी रुख क्या होगा। लेखक जीवन के स्वाद को ना केवल स्वयं चखता है बल्कि उस जायके का अनुभव दूसरों को भी कराता है।

"We (writer) write to taste life twice, in the moment and in retrospect"- Anaïs Nin

प्रेमचंद का काल स्वाधीनता संग्राम का काल था, तमाम विचारों एवं चिंतनों वाद-विवादों के घात-प्रतिघात का काल था। वैश्विक स्तर पर देखें तो यह वही काल था जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध के काले बादल मंडरा रहे थं तो द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि भी तैयार हो रही थी। हिटलर, मुसोलिनी जैसी तानाशाह ताकतें विश्व की राजनितिक मंच पर उभर चुकी थीं और पूरे विश्व की शांति को चुनौती दे रही थीं एक तरफ विश्व की राजनीतिक मंच पर हिंसक प्रवृत्तियां जन्म ले रही थीं तो दूसरी तरफ साहित्य के मंच पर मैक्सिम गोर्की, टोलस्टोय, जैसे साहित्यकार जीवन के सच और समस्याओं से दुनिया को रूबरू करा रहे थे।

इन वैश्विक परिदृश्यों की उभरती समस्याओं से हमारा देश भी अछूता नहीं था लेकिन ऐसे वैश्विक हिंसक राजनीतिक वातावरण में ब्रिटिश उपनिवेश हिन्दुस्तान में स्वतंत्रता संग्राम का प्रतिनिधित्व सत्य एवं अहिंसा केन्द्रित राजनीति कर रही थी। सत्याग्रह आंदोलन चलाये जा रहे थे। यह अपने आप में अनोखी बात जरूर थी।

राजनीति की तरह साहित्य में भी शांति, अहिंसा, सद्भाव को रचना के केन्द्र में रखा जा रहा था। बंगला साहित्य का प्रतिनिधित्व जहां टैगोर, शरतचंद कर रहे थे तो दक्षिण में के. आर. नारायण और हिन्दी क्षेत्र में प्रेमचंद भारतीय साहित्य को रूप और आकार दे रहे थे।

प्रेमचंद के लेखन में जिस तरह का वैविध्य है। मानव-मन को जिस तरह उकेरा गया है, संवेदनाओं का जो विकास है वह शाश्वत है। ईदगाह के हामिद की बालमनोवृत्तियां, कौतुहलता। निर्मला के बेमेल विवाह के दुख और क्षोभ, मालती और आनंदी का स्त्रैव, कोमल प्रवृत्तियाँ, होरी की एक गाय की लालसा अतीत के धुंध में खो सकते हैं क्या? आज भी विदर्भ का 'होरी' कर्ज के बोझ से दबा हुआ अपनी तमाम लालसाओं का गला घोंट मरने के लिए विवश है। आज भी भारत का गरीब हामिद तंगी और गरीबी से लाचार काम की तलाश में भटकता है और मशीनों/कारखानों में काम के औजार ही उनके कोमल हाथों के कठोर खिलौने होते हैं। प्रेमचंद की जिस 15 वर्षीय निर्मला का विवाह दहेज के अभाव के कारण एक अधेड़ व्यक्ति से कर दी जाती है वही निर्मला आज दहेज के कारण मार भी दी जाती है।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार 2012 में दहेज हत्या के 2,833 मामले सामने आए और 2013 में दहेज विरोधी कानून के दायरे में आनेवाले 10,709 मामले दर्ज किए गये। 21वीं सदी में दर्ज ये मामले 20वीं सदी के निर्मला (उपन्यास) और कुसुम (कहानी) के लेखक की प्रासंगिकता को लेकर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं रह जाता है।

नारी की समस्या हो, चाहे दलित समस्या, भ्रष्टाचार का क्षेत्र हो या बेरोजगारी की समस्या का इस कलम के मजदूर ने भारतीय समाज के हर कोने में अपनी तालीम की मजदूरी की।

इनके यहाँ स्त्री कभी 'माता का हृदय' में अपने मातृत्व की अग्नि परीक्षा देती है तो कभी 'कायर' की प्रेमिका के तौर पर ठगी जाती है तो कभी 'वेश्या की बेटी' होने का दंश झेलती है नारी शोषण को जिस सतर्कता से प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में दिखाया है वह आज भी प्रासंगिक है। आज भी औरत कहीं समाज में 'कफन' की मुलिया की तरह पुरुष के अमानवीयता का शिकार है तो कहीं पुरुष के लोभ और क्रूर व्यवस्था में 'विध्वंस' की 'भुनगी' की तरह जल कर राख बनती है।

आज नारी विमर्श के ध्वजधारी, संबंधों में जिस स्वतंत्रता की मांग कर रहे हैं। मुक्तभोग की बात हो रही है, 1936 (आखिरी दिनों में) में ही प्रेमचंद मालती-मेहता के संबंधों में इस मांग की उद्घोषणा कर चुके थे। प्रेमचंद के यहां स्त्री किसी क्रांतिकारी भूमिका में नहीं आयी है बल्कि अपने घर के दायरे में ही अपने परंपरा और संस्कारों में लिपटी हुई छटपटा रही है। उस समय क्रांति संभव भी नहीं थी।

प्रेमचंद के साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंध कई रूपों में है-मां-बेटे के रुप में, पति-पत्नी के रुप में, प्रेमी-प्रेमिका के रूप में।

उनकी सबसे अधिक कहानी पति-पत्नी के संबंधों पर आधारित है। ऐसी कहानियों में विविधता है। प्रेमचंद विवाह और परिवार व्यवस्था के समर्थक थे - शान्ति, मर्यादा की बेटी, शान्ति 2, मिस पद्मा, उन्माद, नया विवाह, कुसुम, खुच्चड़ शूद्र आदि अनेक कहानियां पति-पत्नी संबंधों पर आधारित हैं। लेकिन परिवार और विवाह संस्था के भीतर नारी विरोधी गतिविधियों को जैसे बाल विवाह, दहेज प्रथा, बेमेल विवाह आदि की खुलकर आलोचना करते हैं। विधवा पुनर्विवाह के समर्थन में इन्होंने कई कहानियां लिखीं। 1917 के स्त्री दर्पण में हुक्मा देवी का लेख छपा 'स्त्री उन्नति कैसे हो? इसमें

मृत स्त्री विवाह को स्त्री जाति की बेकदरी का सबसे बड़ा कारण बताया। स्त्री बीमार पड़ती है तो वह चाहे कितनी सुन्दर पतिव्रता और गुणवती क्यूं न हो, पुरुष सोचता है कि उसका पाप कटे और हम दूल्हा बनकर नई बहू लायें और आनन्द उड़ायें (राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियां वीर भारत तलवार पेज-127) इन पंक्तियों को प्रेमचंद अपनी एक कहानी 'नयी विवाह' में चरितार्थ करते हुए दिखते हैं। इस कहानी में लालाजी की पत्नी लीला एक आदर्श पत्नी है किन्तु लालाजी को उससे ऊब होती है और जब वह बीमार पड़ती है तो उसकी कोई खोज खबर नहीं लेते। उसकी मृत्यु के छः महीने बाद ही अपने से आधी उम्र की 'आशा' से ब्याह कर लेते हैं और उसकी खातिरदारी में लग जाते हैं किन्तु आशा कभी खुश नहीं रहती और अपनी ही उम्र के नौकर जुगुल से आत्मीय संबंध बनाती है।

स्त्री-पुरुष के सहभागिता के महत्व को 'खुच्चड़' कहानी ने रेखांकित करते हैं कि कैसे स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरे के बगैर अधूरे हैं। लेखक अपने समाज के दलितों/दमितों एवं वंचितों की आवाज होता है जिस तरह स्त्री की बात करते हुए प्रेमचंद अपने समय की सीमा में रहते हुए विभिन्न स्त्री समस्याओं पर कलम चलाते हैं और वैसे ही दलित वेदना को भी सामने लाते हैं।

'The Indin Dalit man killed for eating in front of upper caste'

BBC, hindi,Uttarakhand 1 May 2019

1930 की सद्गति के जिस दुखिया को पंडित जी के घर के बाहर खड़े होकर आग मांगने पर आग की चिनगारी मुंह पर फेंक दी जाती है वही दुखिया 2019 में एक तथाकथित उच्च जाति के सामने कुर्सी पर बैठ कर खाना खाने पर मार दिया जाता है।

'कहानी में नाम और सन् के सिवा सबकुछ सत्य होता है इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं'[2]

मंत्र, मुक्ति-मार्ग, ठाकुर का कुआं, घासवाली आदि रचनाएं ऐसी हैं जो काल की सीमा को लांघ भारतीय समाज में आज भी प्रासंगिक हैं।

प्रेमचंद की परंपरावादी दृष्टिकोण को लेकर आलोचना भी बहुत हुई है जाहिर सी बात है यह प्रेमचंद की नहीं बल्कि उनके युग की अपनी सीमा रही है दलित विमर्श तथा स्त्री विमर्श के चिंतकों को प्रेमचंद की नारी तथा दलित दृष्टिकोण से शिकायतें रही हैं लेकिन यह सामाजिक सुधार तथा साहित्य लेखन का शुरुआती दौर था और यह अपनी खूबियों तथा विशेषताओं के लिए नहीं बल्कि अपनी शुरुआत होने के लिए ही महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। अगर हम गौर करें तो देखेंगे कि उनके अन्य समकालीनों में भी यही काल अवरोध दिखता है, टैगोर की एक कहानी 'समाप्ती' है। इस कहानी में एक ऐसी नायिका का जिक्र है जिसमें 'भारतीय आदर्श नारी' का कोई गुण नहीं है। तमाम नाटकीय घटनाओं के बाद उस नायिका में आदर्श नारी के गुण पैदा कर कहानी का सुखद अंत करते हैं। इसी तरह उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पत्नी का पत्र' में एक पत्नी अपनी शादी के 15 साल बाद अपने पति को पत्र लिखती है और अपनी तथा भारतीय समाज की स्त्रियों की यातनाओं के बारे में बताती है। निश्चित तौर पर यह अपने समय से काफी आगे की कहानी है लेकिन यहां भी सुधार के लिए किसी क्रांति की मांग या विरोध को उस तरह नहीं दिखाया गया है जिस तरह हम आज उम्मीद करते हैं इन रचनाओं का मुख्य उद्देश्य लोगों की संवेदना को झक-झोड़ना तथा समाज के हर तबके का इस सामाजिक अन्याय, उस शोषण के प्रति ध्यान आकर्षण था जिसे सदियों से भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा झेलता आ रहा था। यहां क्रांति या बदलाव का आह्वाहन नहीं बल्कि सुधार की गुंजाइश थी। आज विभिन्न विमर्शों के आगाज़ होने के बाद साहित्य में समग्रता बोध को तिलांजलि देने का वर्चस्व बढ़ा है। आज विभिन्न विमर्शों के आईने में प्रेमचंद ही नहीं किसी भी रचनाकार के कृतित्व को सिर्फ एक पक्ष को सामने रख कर देखा जा रहा है जो कि यह किसी भी विमर्श की अपनी सीमा है। किसी भी रचना की समीक्षा या आलोचना युग की परिस्थितियों से परे जाकर नहीं कर सकते हैं।

अभी हाल ही में जिस तरह की साम्प्रदायिक ताकतें हमारे देश में उभरी हैं ऐसी सांप्रदायिक और अराजक ताकतें हमारे समाज के सामने समय-समय पर बलवती होती रही हैं और हमारे देश के चिंतक एवं विचारक ऐसी सामाजिक समस्याओं पर सदैव अपनी कलम चलाते रहे हैं।

प्रेमचंद अपने उपन्यास कर्मभूमि में कहते हैं ''धर्म का काम संसार में मेल और एकता पैदा करना होना चाहिए। क्यों खान-पान में, रस्म-रिवाज टांगें अड़ाता है?'' (कर्मभूमि, पृष्ठ 124)

धार्मिक कट्टरता एक संगठित झूठ का परिणाम होता है।

धार्मिक उन्माद फैलाने के लिए यह बहुत जरूरी है कि झूठ को संगठित कर लोगों तक पहुंचाया जाए।

'इतिहास के किसी काल में संगठित झूठ को इतने शर्मनाक तरीके से नहीं लाया जाता जितना कि कट्टरवाद में लाया जाता है' (एल्डस हक्सले)। आज का तत्कालिक भारतीय समाज इसी संगठित झूठ के परिणाम को झेल रहा है।

एक कहानी 'हिंसा परमो धर्मः' में प्रेमचंद शहरों के विषाक्त सम्प्रदायिक वातावरण को दिखाते हैं 'देहात में न तो कोई मस्जिद थी, न कोई मंदिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ़ लेते थे। हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे।' (हिंसा परमो धर्म, पेज संख्या 2) लेकिन शहरों में धर्म का ढोंग इतना बढ़ा है, एक दूसरे से इतनी नफरत बढ़ी है कि दोनों ही एक-दूसरे के रक्त पिपासु बने रहते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं मे हिन्दू-मस्लिम साथ-साथ ही आये हैं। उस समय धर्म का संप्रदायिक रंग अभी राजनीति में जम ही रहा था। समाज और साहित्य में अभी इसकी पैठ गहरी ना थी फिर भी प्रेमचंद ने 'हिंसा परमो धर्मः' में इस विषाक्त वायु के फैलाव की गति एवं दिशा का अनुमान तो कर ही लिया था।

महामारी, बीमारी, दुर्भिक्ष यह किसी भी काल में मानव जाति के लिए विकट संकट का काल रहा है। 2019-2021 का काल वैश्विक अंधकार का काल रहा। पूरा विश्व एक ऐसी महामारी से ग्रस्त रहा जिसके आगे दुनिया की सारी आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था फेल हो रही थी तकनीकों और विज्ञान में जीनेवाली आज की यह दुनिया खुद को बचाने की जद्जहद में लगी हुई थी।

समकालीन विश्व में महामारी पर फ्रांसीसी उपन्यासकार अल्बैर कामू अपनी विशद् कृति प्लेग में दिखाते हैं कैसे स्वार्थों और महत्वाकांक्षाओं और विलासिताओं से भरी पूंजीवादी आग्रहों और दुष्चक्रों वाली पूंजीवादी दुनिया में किसी महामारी का हमला कितना भयावह और जानलेवा हो सकता है।

इस महामारी ने हमारे सामने दो ज्वलंत प्रश्न को खड़ा कर दिया, पहला-आज हम जिसे विकास कहते हैं उसकी दिशा क्या है? दूसरा प्रश्न है-आदर्शवाद की आज सार्थकता क्या है?

कोविड 19 के उस दौर में हजारों मजदूर बेघर हुये। सत्ता और राजनीति की उपेक्षा के शिकार हुये। कोरोना काल में जीवन का जो रूप, दशा और जीवन मूल्य सामने आयें। गरीब और अमीर के बीच की जो खाई दिखी वो पूरी व्यवस्था या यूं कहें कि पूरे विश्व के विकास के दावे को झूठा साबित कर दिया। आज जीवन वहीं संभव है जहां पैसा है। गरीब के पास आज दो ही विकल्प हैं या तो भूख से मरे या कोरोना से। तो ऐसे में विकास का रुख क्या हो?

मशहूर अर्थशास्त्री और नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन के अनुसार-

"Development is the process of expanding human freedom. It is the enhancement of freedoms that allow people to lead lives that they have reson to live (development as freedom Amartya sen)"[3]

अर्थात् विकास वह है जो मानव के स्वतंत्रता को विस्तार दे और उस स्वतंत्रता को इतना बेहतर बनाये कि लोगों को लगे कि उनकी जिंदगी जीने की वज़ह है बेवजह नहीं जी रहे।

किसी भी देश का विकास उसके 'समेकित खाते' में रखा पैसा नहीं तय करता बल्कि उस खाते में रखे पैसे का खर्च तय करता है।

"If we have reason to want more wealth, we have to ask: what precisely are these reasons, how do they work."[4]

एक रचनाकार की रचना में उसके विचार भी शामिल होते हैं और उसके विचारों को जानना है तो निबंध सबसे उपयुक्त साधन है महाजनी सभ्यता में कहते हैं 'पूंजीवाद का दूसरा सिद्धांत है 'बिजनेस इज बिजनेस'

अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है उसमें भावुकता की कोई गुंजाइश नहीं है। गोदान के मिस्टर खन्ना इसी व्यवस्था के उदाहरण हैं। 'डामुल की कैदी' कहानी में मिल मजदूरों, उनके शोषण और हड़ताल के बारे में लिखी गई है।

भ्रष्टाचार और घुसखोरी पर भी प्रेमचंद खुल कर लिखते हैं-

'नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए।'[5] यह जुमला आज ज्यादा महत्वपूर्ण है।

इसी स्वार्थ और लोलुपता का विकट परिणाम हमारा समाज विजय माल्या, नीरव मोदी आदि के रूप में विभिन्न घोटालों और भ्रष्टाचारों को झेल रहा है।

प्रेमचंद के बारे में कहा जाता है कि वे आदर्शोंमुख यथार्थवादी लेखक हैं अर्थात् उनकी आरंभिक रचनायें आदर्शवाद को प्रस्तुत करती हैं और बाद की यथार्थवाद को।

आदर्शवाद यह एक ऐसी धारणा है जिसमें इंसान इच्छानुसार अपनी जिंदगी की कामना कर सकता है। जहां तमाम बाधायें भले ही आयें लेकिन अन्त में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का ही प्रतिस्थापन होता है। इसके अनुसार 'कोई भी मनुष्य बुरा नहीं है नीच से नीच व्यक्ति और पतित से पतित अवस्था में भी उसके अन्दर सत्य विराजमान होता है और उसका किसी भी समय सुधार और उद्धार हो सकता है।'[6]

प्रेमचंद की आरंभिक रचनायें सेवासदन, कर्मभूमि, प्रेमाश्रम, गबन आदि आदर्शवाद को प्रस्तुत करती हैं तो गोदान, सद्गति, कफन, पूस की रात यथार्थवाद को। यथार्थवाद के अनुसार अच्छे और बुरे विचार भौतिक परिस्थितियों में जन्म लेते हैं। इसलिए अन्याय, असत्य और दरिद्रता को मिटाने के लिए उपदेश और सुधार से काम नहीं चलेगा बल्कि उन परिस्थितियों को बदलना होगा जो अन्याय, असत्य और दरिद्रता को जन्म देती है।

यथार्थवादी विचार बदलाव के लिए 'एक्सन' की बात करता है; लेकिन कभी जीवन को बचाये रखने और मानव की जिजीविषा को बनाये रखने के लिए आदर्शवादी कल्पनायें आवश्यक होती हैं। कोराना जैसी दुर्भिक्ष हो या जीवन की कोई घोर विपदा कभी-कभी आदर्शवादी सोच निराशावाद से व्यक्ति को बाहर निकाल उसके जीवन को नयी राह दिखाती है। अतः आज मनुष्य की जिजीविषा को बचाये रखने के लिए उनकी आदर्शोन्मुख रचनायें ज्यादा प्रासंगिक है। जब इंसान यथार्थ के कड़वे घूंट घर बैठ कर पीने को मजबूर हो, जहां एक्सन वर्जित हो तब सपने ही हैं जो हमारी जीने की इच्छाशक्ति बनाये रख सकते हैं और सपने है सुनहरे भविष्य के सपने।

सेवासदन, पंच परमेश्वर, प्रेमाश्रम, नमक का दरोगा, गबन आदि इस तरह की ही रचनाएं हैं जो निराशा में आशा की किरण लेकर आती हैं। प्रेमचंद आदर्शवादी रहें लेकिन वह आदर्शवाद तब तक ही रहा जब तक 'एक्सन' की गुंजाइश नहीं थी समय के साथ जैसे-जैसे यह गुंजाइश बनती गई।

आदर्शवाद के सपने को पूरा करने के लिए प्रेमचंद को यथार्थवाद का सहारा लेना ही पड़ा और यही प्रेमचंद की सबसे बड़ी प्रासंगिकता है।

शोधार्थी
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली-110025

सन्दर्भ सूची

1. 'विगत महता और वर्तमान अर्थवता', पेज 15
2. प्रेमचंद , 'कहानी कला' लेख
3. Development as Freedom, Page 13
4. Development as Freedom, Page 13
5. नमक का दरोगा, पृष्ठ-3
6. प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व, हंसराज रहबर, पेज 237

अन्य स्रोतः-

★ प्रेमचंद : विगत महता और अर्थवता, संपादक-मुरली मनोहर सिंह, रेखा अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2006
★ प्रेमचंद चिट्ठी पत्री, अमृतराय, मदन गोपाल, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 1962
★ प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व, हंसराज रहबर, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली 1949
★ प्रेमचंद से दोस्ती : वर्ग चेतना, विकास नरायण राय, साहित्य उपक्रम
★ प्रेमचंद घर में, शिवरानी देवी, नयी किताब प्रकाशन, 2017
★ मुंशी प्रेमचंद और दलित समाज, रत्नकुमार संभारिया, अनामिका पब्लिशर्स 2011
★ मानसरोवर भाग-1, 2, 3, ई बुक
★ गोदान, प्रेमचंद, राजकमल प्रकाशन, 2017
★ कर्मभूमि प्रेमचंद, राजकमल प्रकाशन, 2010
★ Development as freedom, Amartya Sen, Oxford University Press 1999
★ स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति 2011
★ मानसरोवर (8 पार्ट), प्रेमचंद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 1995
★ प्रेमचंद : घर में, शिवरानी देवी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, लखनऊ, संस्करण 2006
★ राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियां, डॉ. वीर भारत तलवार, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1994

डॉ. रामानुज यादव

O.C.R. पुरानी पाण्डुलिपियां और साहित्य का भाषायी परिवर्तन

सारांश

आज के समय में हिंदी भाषा और साहित्य को तकनीक से जोड़ना बेहद जरूरी है। ओ.सी.आर. तकनीक के माध्यम से ना केवल हिंदी साहित्य की विपुल सामग्री को टेक्स्ट के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है बल्कि तकनीक और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस का उपयोग करके हिंदी साहित्य की सामग्री को अन्य भारतीय भाषाओं में भी बदला जा सकता है। इससे विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच पढ़ने और अध्ययन करने में बहुत सहूलियत हो जाएगी। हिंदी भाषा और साहित्य के पुराने टेक्स्ट को यूरोपियन यूनियन के 'द रीड प्रोजेक्ट' तथा ट्रांसक्रिबश प्लेटफार्म जैसे तकनीकों की तरह प्रयास किये जाने की जरूरत है। भारती स्क्रिप्ट जिसे आईआईटी मद्रास की टीम द्वारा विकसित किया गया है इसकी उपयोगिता और इसके कार्य करने की प्रणाली के बारे में भी बात की जायेगी। यह भी देखा जाएगा कि भारती स्किप्ट जोकि मूल रूप से O.C.R. पर बेस्ड है के हिंदी साहित्य के बहुत पुराने हस्तलिखित ग्रंथों पर काम करने की कितनी संभावना हो सकती है। इस क्रम में 16वीं, 17वीं और 18वीं सदी के पाण्डुलिपियों का O.C.R. करके देखा जायेगा कि यह तकनीक हिंदी के लिए कितनी बेहतर है और इसमें अभी कितने सुधार की जरूरत है।

की-वर्ड

O.C.R., पुरानी लिपियाँ, पाठानुसंधान आलोचना, भारती स्क्रिप्ट, यूनिकोड, हिंदी और तकनीक, A.I., O.C.R. एवं हिंदी भाषा और लिपि का विकास, The Transkribus Platform, READ Project (Recognition and Enrichment of Archival Documents) इत्यादि।

आलेख

O.C.R. (Optical Character Recognition) एक ऐसी प्रणाली है जो किसी भी चित्र या लिखे को स्कैन करके उसकी पहचान को अल्फा न्यूमैरिक रूप प्रदान करती है। अर्थात् चित्र में शामिल लेख या संख्या को स्कैन करके वांछित रूप में (शब्द या अंक में) बदल देती है। यूं समझें कि अगर कहीं सरहपा, कबीर, सूरदास या महादेवी के पद जो पुस्तक में या हस्तलिखित पांडुलिपि के रूप में हो और इस पुस्तक या पाण्डुलिपि का चित्र रूप को ऑप्टिकल कैरक्टररिकॉग्निशन का इस्तेमाल किया जाए तो उस चित्र को हम टेक्स्ट या अक्षरों में बदल सकते हैं। इसका फायदा यह है कि O.C.R. के उपयोग के द्वारा हम अधिक से अधिक डॉक्यूमेंट को टेक्स्ट में कन्वर्ट कर सकते हैं। इसके कई फायदे होंगे। पहला अधिकांश लेखों, साहित्यिक सामग्रियों को हम डिजिटल रूप में संरक्षित कर सकते हैं और इसे सर्वजन सुलभ कर सकते हैं। दूसरा इस साहित्य को एक नॉर्मल यूनिकोड या कन्वर्ट करने जैसी तकनीक के द्वारा अन्य भाषाओं में बदल के पढ़ा जा सकता है। इससे एक भाषा से दूसरी भाषा के बीच में जो लिपि और भाषा की बाधा है उसे दूर किया जा सकता है। जैसे आज के समय में टाइपिंग में यूनिकोड का उपयोग होता है ठीक इसी तरह से इसका उपयोग किया जा सकता है। आज के समय में हम सबसे प्रचलित रूप में गूगल लेंस को O.C.R. के रूप में देख सकते हैं। यह किसी भी लिखे गए सामग्री तस्वीर या अन्य ऑब्जेक्ट को टेक्स्ट में बदल सकती है। तस्वीर की भाषा को दूसरी भाषा में अनुवाद कर सकती है और यह

आपको पढ़कर भी सुना सकती है। साथ ही साथ वेब पर इससे जुड़ी सामग्री को सर्च भी कर सकती है। इससे आपकी पहुंच ज्ञान के विविध क्षेत्रों तक हो जाती है और भाषा बाधा नहीं बन पाती है। ओसीआर के विकास को देखें तो सबसे पहले ''टेसरैक्ट ओपन सोर्स O.C.R. इंजन है जिसे 1984 से 1994 के बीच में hp द्वारा विकसित किया गया था।''[1] पहले यह तकनीक अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश जैसी यूरोपियन भाषाओं तक सीमित थी लेकिन बाद में इस अन्य भाषाओं के लिए भी खोला गया। ''टेसरैक्ट के 3.01 संस्करण में हिंदी के अक्षरों को पहचानने की सुविधा प्रदान की गई। 18 अक्टूबर 2012 को इसका 3.02 संस्करण निकाला गया था।''[2] गूगल ने आज के समय में इस तकनीक को विकसित करने के क्रम में काफी काम किया है। गूगल लेन्स इसका सबसे सटीक उदाहरण है जोकि ओसीआर पर चलता है।

अब अगर हम इस ओसीआर को हिंदी साहित्य में उपयोग करने के लिए सोचें तो इसके क्या उपयोग हो सकते हैं इसे देखना जरूरी है। संस्कृत, पालि, हिन्दी, मराठी, कोङ्कणी, सिन्धी, कश्मीरी, हरियाणवी, डोगरी, खस, नेपाल भाषा (तथा अन्य नेपाली भाषाएँ), तमाङ्ग भाषा, गढ़वाली, बोडो, अङ्गिका, मगही, भोजपुरी, नागपुरी, मैथिली, सन्थाली, राजस्थानी बघेली आदि भाषाएँ और स्थानीय बोलियाँ भी देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में गुजराती, पंजाबी, बिष्णुपुरिया मणिपुरी, रोमानी और उर्दू भाषाएँ भी देवनागरी में लिखी जाती हैं। देवनागरी विश्व में सर्वाधिक प्रयुक्त लिपियों में से एक है। यह दक्षिण एशिया की 170 से अधिक भाषाओं को लिखने के लिए प्रयुक्त हो रही है। देवनागरी लिपि को ओसीआर के द्वारा तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, उड़िया आदि भाषाओं की लिपियों में बदला जा सकता है। भाषा को व्यक्त करने की एक इकाई लिपि है इसलिए लिपि को लिप्यंतरण करके हम भाषाओं के बीच की आवाजाही को सुगम कर सकते हैं। इसे दो तरीके से काम किया जा सकता है—लिपि बदल कर और भाषा बदल कर और इसमें ओसीआर तकनीक सबसे अहम् भूमिका निभाएगी। भाषाओं के बीच की इस आवाजाही को सुगम करने में एक काम भारती स्क्रिप्ट[3] जैसे प्रयोगों के द्वारा हो सकता है। हालाँकि अभी यह तकनीक शुरुआती स्तर पर है लेकिन आने वाले दिनों में यह व्यापक रूप से उपयोग में लायी जा सकती है।

भारती स्क्रिप्ट मुख्यत: ओसीआर आधारित तकनीक है और यह एक देश एक लिपि पर जोर देती है। यह स्क्रिप्ट मुख्य रूप से मराठी, तमिल, तेलुगू, गुजराती, पंजाबी, बंगाली, उड़िया, कन्नड़ एवं मलयालम जैसी नौ भाषाओं का समर्थन करती है। इस लिपि को आईआईटी मद्रास के श्रीनिवास चक्रवर्ती और उनकी टीम ने विकसित किया है। भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी भाषा से सबसे आसान अक्षरों को उधार लेते हुए लिपियों को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने का काम करती है। चूँकि यह लिपि ओसीआर प्रणाली का उपयोग करती है इसलिए इस लिपि के द्वारा जो दृष्टिबाधित लोग हैं उनकी लिए भी यह लिपि बहुत उपयोगी है।

इस लिपि के द्वारा कई ऐसी भाषाएं जैसे तुलु तथा कोंकड़ी जिनकी अपनी कोई लिपि नहीं है उनको भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। मसलन ओसीआर का उपयोग करके हम अगर राजस्थानी भाषा के साहित्य को जो कि तमाम संग्रहालयों में संरक्षित रखे हुए हैं को सभी भाषाओं में उपलब्ध करा दें तो एक भाषा से दूसरे भाषा के साहित्य को लिप्यंतरण करके पढ़ने में मदद करेगी। इससे भारत में विविध भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान का सुगम तरीके से आदान-प्रदान हो सकता है। जैसे राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान में एक लाख चौबीस हजार के आसपास हस्तलिखित लिपियां हैं अगर इनको तकनीक के द्वारा टेक्स्ट में या अगर भारतीय लिपि में कन्वर्ट कर देते हैं तो यह उपलब्ध सामग्री तेलुगू, तमिल, मलयालम या कन्नड़ भाषा पढ़ने वाले लोगों के लिए भी उपयोगी हो सकती है। इससे वो लोग भी राजस्थानी साहित्य के माध्यम से इनकी संस्कृति, भाषा से परिचित हो सकते हैं। तकनीक सर्वसुलभता को आसान बनाती है जैसे प्रेस के विकास ने उपन्यास को सुलभ बनाया वैसे ही ओसीआर तकनीक साहित्य को डिजिटल दुनिया में सर्वसुलभ बना सकता है।

अगर ओसीआर तकनीक हिंदी की बहुत सारी पांडुलिपियों को शुद्धता के साथ पढ़ सकती है और उसमें त्रुटियों की संभावना को बेहद कम किया जा सके तो इससे न केवल हमारी भाषा समृद्ध होगी बल्कि विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य को समझने के लिए एक गलियारे का भी निर्माण होगा। इस ओसीआर तकनीक को आज के आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से जोड़कर अच्छी एक्यूरेसी हासिल की जा सकती है जिस तरीके से यूरोपियन यूनियन ने READ Project को आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के साथ कंबाइंड करके यूरोप के

दुर्लभ हस्तलिखित साहित्य को टेक्स्ट जैसे डिजिटल फॉर्म में बदलकर संरक्षित करने का प्रयास किया है। इस तकनीक के उपयोग हेतु ट्रांसक्रिबस प्लेटफॉर्म बनाया गया है। आज के समय में यह तकनीक आर्टिफिसियल इंटेलिजेंस युक्त है और किसी भी भाषा के पाठ्य को पहचान उसे लिप्यन्तरण करके किसी भी तथ्य को ऐतिहासिक दस्तावेजों में से खोज सकती है। ''Transkribus is an AI-powered platform for text recognition and searching of historical document from any place, any time, and any language.''[4] इस तकनीक को यूरोपियन यूनियन के एक प्रोजेक्ट के अंतर्गत विकसित किया गया है। ''Transkribus was developed within the Horizon 2020 'READ' EU project by a consortium of leading research groups from all over Europe, headed by the University of Innsbruck.''[5] इस तकनीक की खासियत इस बात में भी है कि यह पुरानी लैटिन भाषा के हस्तलिखित दस्तावेजों को भी खोज सकती है और इसे पाठ्य के रूप में भी बदल सकती है। ''This AI model was trained to automatically convert text from images of historical Latin alphabet, Fraktur documents into editable and searchable text.''[6]

यह भी एक वजह है कि यूरोप में ज्ञान के आदान-प्रदान का माहौल बेहतर है। भारत में भाषायी विविधता बहुत ज्यादा है। भाषा और लिपि दोनों की बाधा को तकनीक के सहारे ही दूर किया जा सकता है। इस तरीके का प्रयास हमारे भारत के विविध भाषाओं के साहित्य में भी होना चाहिए। ''सभी भाषाओं के लिए एक ही लिपि रखना या सार्वभौमिक लिपि की संभावना आकर्षक अवधारणा है, क्योंकि तब हम दूसरी भाषाओं को कम-से-कम पढ़ तो सकेंगे, लेकिन विभिन्न भाषाओं की संरचनाओं में विविधता के कारण इसमें महत्वपूर्ण चुनौतियाँ आती हैं। अगर कोई सार्वभौमिक लिपि बनती है, तो उसे सभी भाषाओं की ध्वन्यात्मक समृद्धि और अर्थपूर्ण गहराई को समायोजित करने की आवश्यकता होगी, जो भगीरथ कार्य होगा। स्प्रिंगरलिंक के 'भाषा, अनुभूति और लिपि प्रभाव' अध्याय में मौखिक और लिखित भाषा के बीच जटिल संबंधों पर चर्चा की गई है और इसमें लेखन के माध्यम से भाषा का प्रतिनिधित्व करने में शामिल जटिलताओं को उजागर किया गया है।"[7]

इस काम को करने में ओसीआर आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के साथ बखूबी मददगार हो सकता है इसलिए यह बेहद जरूरी है कि कि ओसीआर को हिंदी लिपियों के अलावा पुरानी लिपियों और भाषाओं के पढ़ने के अनुकूल बनाए जाने का कार्य किया जाना चाहिए।

आज के समय में गूगल लेंस हिंदी के आधुनिक कालीन साहित्य को बहुत कुछ हद तक स्कैन करके टेक्स्ट में बदल देता है लेकिन अभी गूगल लेंस आदिकालीन, भक्तिकालीन, रीतिकालीन साहित्य को टेक्स्ट में कन्वर्ट करने में बहुत सी गलतियां करता है। हमने इस प्रक्रिया को समझने के लिए अलग-अलग समय की तीन पांडुलिपियों को ओसीआर का उपयोग करके देखने की कोशिश की। इस कार्य हेतु हमने 17वीं, 18वीं और 21वीं सदी के टेक्स्ट का उपयोग किया ताकि हम इस तकनीक के अनुप्रयोग को देख सकें। उदाहरण देखें यह पाण्डुलिपि 17वीं सदी की है इसका तकनीक के द्वारा टेक्स्ट में बदलने पर इस तरह से परिणाम प्राप्त होता है -

''कवीर निज घर प्रेम का मा
गजगमन्यगाध सीसर्जना र मगन लिधरै
समंदर लगी आग न दिया जरि कोइला भई/
दैनिक वीअजागी मालारंशन टीगई''[8]

बिहारी के बिहारी सतसई की एक पाण्डुलिपि जो कि 18वीं सदी की है उसका ओसीआर इस तरह से प्राप्त होता है-

''मेरी भववाधा हरौ राधा नागर जानन मोईयरै नाम रित इतिहोई''[9] मतलब साफ़ है कि बहुत सफाई से नहीं लेकिन कुछ कुछ शब्द पदों को इसने सही-सही पकड़ा है।

लेकिन जब यह ओसीआर आज के समय के प्रिंट पुस्तकों के ऊपर उपयोग में लाया जाता है तो इसकी गलतियाँ लगभग न के बराबर हैं जैसे विद्यापति के इस पद को देखें—

''देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
बालचंद बिज्जावई भाषा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।''[10]

या

''बिणु धवलेण सयडु किं हल्लाइ।
बिणु जीवेण देहु कि चल्लड (एक गलती)
बिणु जीवेण मोक्ख कोपावइ।
तुम्हारिसु किं अप्पर आवइ॥''[11] (कोई गलती नहीं)

जिस तरीके से प्राचीन साहित्य को अध्ययन करने के लिए पाठ अनुसंधान आलोचना[12] की एक विधा/विज्ञान

विकसित हुआ है उसी तरीके से ओसीआर, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के साथ मिलकर हिंदी साहित्य और भाषा के विशेषज्ञों की एक टीम को हमें तैयार करना होगा जो तकनीक और भाषा के साथ मिलकर साहित्य को संरक्षित करने का काम करेंगे।

आज के समय में तकनीक द्वारा यह संभव है लिखित सामग्री को स्कैन करके इमेज के फॉर्म में रक्षित किया जा रहा है। आज के समय में भारत के अधिकांश पुस्तकालयों की सामग्री को स्कैन डॉक्युमेंट के रूप में रखा जा रहा है। स्कैन डॉक्युमेंट को टेक्स्ट के रूप में कन्वर्ट करने का काम ओसीआर कर सकता है। ऐसे में हमें तकनीक की जानकारी के साथ पाठ आलोचना करने वाले विशेषज्ञों की बहुत जरूरत पड़ेगी जो इन सभी पाठों का स्थायी रूप निर्धारित कर सकें। जैसे आदिकाल के अपभ्रंश साहित्य का पाठ आलोचना करना हो तो ओसीआर यहां ठीक से कार्य नहीं करता है क्योंकि उसे आज के समय की भाषा का ज्ञान है ना कि अपभ्रंश का ना ही उसके डेटा में अपभ्रंश की सामग्री है जो वहां से वह कुछ समता देखे।

जैसे-जैसे डिजिटल प्लेटफार्म पर अपभ्रंश, अवहट्ट, प्राकृत पालि जैसी प्राचीन भाषाओं की उपस्थिति बढ़ेगी वैसे-वैसे आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और मशीन का अल्गोरिथम ओसीआर की एक्यूरेसी को और बढ़ा देगा। जैसे लातेश मलिक और पी एस देशपाण्डेय ने देवनागरी स्क्रिप्ट पर काम करते हुए ''शब्दों के तीन लेयरिंग टीयर की बात कही है—अपर लाइन, हैडर लाइन और लोअर लाइन।''[13] अब पुराने टेक्स्ट को इस थ्री लेयरिंग रीडिंग के साथ मौजूदा समय में वेब कंटेंट से क्रॉस चेक करके डिजिटल फॉर्म में कन्वर्ट कर सकते हैं। गूगल की सामग्री उपलब्धता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके पास उस विषय से सम्बन्धित कितनी सामग्री मौजूद है। इस बदलाव का एक दूसरा बहुत बड़ा फायदा यह होगा कि जो बदला हुआ डिजिटल पाठ है वह बहुत सारे लोगों को पढ़ने के लिए उपलब्ध होगा। यह उपलब्धता कई भाषाओं में मिलेगी लिपियों की बाधा भी कमजोर होगी तो साहित्य की पहुंच सर्वव्यापक होगी। भक्तिकालीन साहित्य की अभी भी बहुत सारी ऐसी हस्तलिखित पांडुलिपियां हैं जो किसी न किसी पुस्तकालय में पड़ी हुई हैं। रीतिकालीन साहित्य इतिहास लेखन की बहुत सी सामग्रियां छतरपुर ग्रंथावली दतिया के पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, खुदाबक्श लाइब्रेरी पटना में मौजूद है।[14] सन् 2016 में जब मैं शोध के सिलसिले में नागरी प्रचारिणी सभा काशी गया हुआ था वहां 'छोटे मुंह बड़ी बात', 'आदर्श कन्या', 'चेतावनी नाटक' जैसी न जाने कितनी पुस्तकें लगभग खराब होने की हालत में पड़ी हुई थीं। ये पुस्तकें 19वीं शताब्दी के स्त्रियों के द्वारा हिंदी भाषा में रची गई थीं। अगर यह सामग्री आज डिजिटल फॉर्म में होतीं तो न केवल हम 19वीं शताब्दी में हिंदी के स्त्रियों की स्थिति को समझ सकते बल्कि जब शिक्षा और मध्यवर्ग का विकास हो रहा था तो ऐसे समय में महिलाएं किस प्रकार का लेखन कर रही थीं, उनकी समस्याएं क्या थीं, उस समस्याओं को महिलाओं ने किस रूप में व्यक्त किया है, ऐसे बहुत सारे जरूरी मुद्दों को हम देख समझ सकते हैं। हम यह भी जान सकते हैं कि 19वीं शताब्दी की महिलाओं ने अपने अधिकारों के प्रति और समाज में हो रहे बदलावों को लेकर भी लेखन किया है। उस सामाजिक बदलाव को लेकर महिलाओं के काव्य, नाटकों में एक चिंता दिखती है।

यह ओसीआर तकनीक भारतीय भाषाओं के साथ-साथ पूरे हिंदुस्तान के विविध भाषाओं के साहित्य को डिजिटलाजेशन करने की प्रक्रिया को तेज करेगी। इस प्रक्रिया के तेज होने से फायदा यह भी होगा कि साहित्य की पहुंच भी ज्यादा बढ़ेगी। जब कोई भी चीज कंटेंट के रूप में वेब की दुनिया में मौजूद रहती है तो वह सर्च एल्गोरिदम में भी ठीक-ठाक काम करती है। आज के समय में आप अपभ्रंश या पालि की सामग्री खोजिए तो वेब का एल्गोरिदम उसे पकड़ ही नहीं पाता है। इससे हमें चीजों को खोजने में बड़ी असुविधा होती है। कहा जा सकता है कि ओसीआर न केवल भाषाई प्रसार के रूप में सार्थक सिद्ध होगा बल्कि भारतीय भाषाओं की स्वीकार्यता को लेकर भी यह काम करने में उपयोगी साबित होगा। जो सूचना की असमानता है उसको आप भाषा की उपलब्धता के द्वारा ही खत्म कर सकते हैं। इसे समझते हैं -1990 के आसपास तक अमेरिकी वर्चस्व और अंग्रेजी भाषा का बोलबाला था। गार्डियन के लेख अनुसार, ''By the mid 1990s it was estimated that English made up 80% of the content.'' लेकिन यही कंटेंट धीरे-धीरे अन्य भाषाओं के आने से शेयर हो गया गया जैसे स्पेनिश, फ्रेंच, जर्मन और अब चीनी। यह कहीं न कहीं आपके सोशल पूँजी को भी दिखाता है क्योंकि लुडविग विटगेशटाइन का मानना था कि ''The limits of my language online mean the limits of my world.'' इसलिए यह जरूरी

है कि हम अपनी भाषा की उपलब्धता को डिजिटल रूप से करें और इस काम में ओसीआर निश्चित रूप से हमारे लिए बेहद उपयोगी साबित हो सकता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
सी.एम.पी डिग्री कॉलेज इलाहाबाद
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
Email- anuj.ram04@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. SmithRay, An Overview of the Tesseract OCR Engine, Page 1
2. विकिपीडिया से साभार लिंक -https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%9F%E0%A5%87%E0%A4%B8%E 0%A4%B0%E0%A5%88%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%9F
3. देखें—https://sansarlochan.in/bharati-script-ocr-yojana
4. https://readcoop.eu/transkribus/
5. https://readcoop.eu/about/
6. https://readcoop.eu/model/transkribus-print-multi-language-dutch-german-english-finnish-french-swedish-etc/
7. गवेषणा पत्रिका अंक 138 में प्रकाशित राजेश कुमार का लेख भारतीय भाषाओं के रोमन में लिप्यन्तरण के परिणाम पेज 21 से उद्धृत लिंक- Gaveshana-khs. sites. google.com/view/gaveshana-khs/home.
8. http://indianmanuscripts.com/scriptviewer.php
9. http://indianmanuscripts.com/scriptviewer.php
10. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पेज 9
11. वही, पेज 12
12. पाठ अनुसंधान आलोचना करने वाले विशेषज्ञों में जगन्नाथदास रत्नाकर, मुनि जिन विजय, पीतांबर दत्त बडथ्वाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, ब्रजरत्न दास, माता प्रसाद गुप्त, नलिन विलोचन शर्मा, ब्रजेन्द्र कुमार सिंघल जैसे आलोचकों के नाम मुख्य हैं।
13. इन विद्वानों ने पुरानी पांडुलिपियों को पढ़कर उनका ठीक स्वरूप स्थिर किया। आज इस विज्ञान को तकनीक के साथ जोड़कर काम करने की जरूरत है ताकि साहित्य को डिजिटल स्वरूप दिया जा सके।
13. Recognition of printed devnagri characters with regular expression in finite state Models, Latesh Malik, ICCIMA 2007, Tamilnadu, India
14. 'तोहफतुल-हिन्द' किताब औरंगजेब के तीसरे बेटे आजम शाह को स्थानीय भाषा हिंदी सिखाने के लिए जो शब्दकोश बनाया गया उसकी प्रतिलिपियाँ कई लाइब्रेरियों में मौजूद हैं, उनमें से एक है पटना की मशहूर खुदाबख़श खाँ ओरियंटल लाइब्रेरी जिसने इस शब्दकोश को आम जनता के लिए हाल ही में प्रिंट कराया है। इतिहासकार ओम प्रकाश प्रसाद की किताब 'औरंगजेब, एक नई दृष्टि' में जिक्र है कि 'तोहफतुल-हिन्द' नाम के इस हिंदुस्तानी शब्दकोश को इस तरह से तैयार करवाया गया था जिससे फारसी जानने वाला व्यक्ति हिंदी सीख सके। अगर रीतिकाल के समय हिंदी भाषा को लेकर ऐसी स्थिति थी तो यह जानकारी रीतिकाल के भाषा संबंधी अध्ययन में एक नयी जानकारी है। हिंदी उर्दू भाषाई मसले पर यह तथ्य काम का है।

महाश्वेता देवी के कथा साहित्य में आदिवासी प्रतिरोधी चेतना

डॉ. कंचन कुमारी

महाश्वेता देवी का कथा साहित्य आदिवासी प्रतिरोधी चेतना का एक शक्तिशाली एवं मुखर स्वर है। उनकी रचनाएं भारत के आदिवासी समुदायों के शक्तिकरण, उनकी पीड़ा, उनके संघर्ष और औपनिवेशिक व सामंती शोषण के विरुद्ध उनकी लड़ाई को केंद्र में रखती है। उनकी रचना धर्मिता बेहतर दुनिया बनाने की रही है। हिन्दी में अनूदित जंगल के दावेदार, नीलछवि, 1084वें की मां, ईंट के ऊपर ईंट, ग्राम बांग्ला, अग्निगर्भ, भटकाव, मूर्ति, भूख, अमृत संचय, जली थी अग्निशिखा आदि इनकी रचनाएं हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में आदिवासी जीवन की गरिमा, उनकी संस्कृति, परंपराओं और प्रकृति के साथ उनके सामंजस्य को गहराई से दिखाया जिसके विरुद्ध शोषण की व्यवस्था खड़ी थी।

'जंगल के दावेदार' आदिवासी प्रतिरोधी चेतना का उपन्यास है। यह उपन्यास आदिवासी जीवन में घुस आए ''महाजन, जमींदार, मिशनरी, जेल-कचहरी, पक्की सड़कें, रेलगाड़ी, बेनट, बंदूक, गर्मी की तपन, सुखा, बेगारी आदि''[1] की कथा कहती है। और दिकू लोगों की अत्याचार को उजागर करती है-''बिरसा के वंश के आदि पुरुषों ने छोटा नागपुर की नींव डाली थी लेकिन राजा हुए और।... जंगलों में बाहर से लोगों ने आकर कब्जा जमा लिया। सब छीन लिया।''[2] मुंडा लोगों की जो आदिम ग्राम-व्यवस्था थी वह टूट गई। बाहर से आए लोगों ने मुंडा लोगों को उखाड़कर उनकी जमीन जायदाद पर दखल करने के कारण आज उनका अस्तित्व संकट में है। आदिवासी संस्कृति सामूहिक ता का प्रतीक है। यह सामूहिकता पैसों से चलने वाली सामाजिक व्यवस्था के कारण आज संकट में है।

बिरसा मुंडा के जीवन पर आधारित यह उपन्यास सिर्फ आर्थिक शोषण को नहीं बल्कि हर तरह के वर्चस्ववाद को उजागर करता है। और अपनी सामूहिकता को बचाए रखने के लिए तमाम प्रलोभनों को ठुकरा देता है। जब पुलिस मुंडा लोगों को पैसा का प्रलोभन देकर बीरसा का पता पूछते हैं तो मुंडा भूखा रह जाता है लेकिन उनके प्रलोभनों में नहीं आता। इन लोगों के लिए बीरसा एक मनुष्य नहीं एक विचार बन जाता है। खुद को ये लोग बीरसाइत (बीरसा के अनुयायी) कहने लगते हैं। बीरसा इनके लिए भगवान और जंगल मां बन जाता है। बीरसाइत कहता है -''मार कोड़ा, सालों! मार-मारकर लहू बहा दो। हम बीरसाइत हैं, हम मरने से नहीं डरते हैं। बीरसाइत नहीं है वे ही मरने से डरते हैं।''[3]

बीरसाइत का मानना है कि जिस दिन से दीकू आए उसी दिन से उनके जीवन में अंधेरा छा गया। यह अंधेरा और भी घना होते गया। घने अंधेरे को चीर कर बीरसा मुंडा में चेतना और अधिकार-बोध भरकर उन्हें अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध करना सीख रहा था। बीरसा ने कहा-''मुंडा बड़े बंधनों में फंसे हुए हैं दिकू लोगों ने मुंडा लोगों को उधार-कर्ज, कोयला खान, रेल-जेहल-अदालत वगैरह के हजारों चक्करों में फांस लिया है। अब हमें सब तरह से आजाद होना पड़ेगा। सारे विदेशियों को भगाएंगे। किसी को कोई लगान नहीं देंगे। सारे जंगल ले लेंगे। जैसे पहले लिए थे वैसे ही अब लेंगे।''[4] संघर्ष करते हुए बीरसा मुंडा लोगों का भगवान बन जाता है। लेकिन गोदी में उठाकर झूलने वाला भगवान नहीं। मुंडा लोगों में प्रतिरोधी चेतना विकसित करने वाला भगवान। बीरसा ने भगवान का यह संबोधन स्वीकार किया था आदिवासियों के जीवन में, व्यवहार में, चिंतन में बदलाव और आर्थिक एवं

राजनीतिक परिस्थितियों में अमूल क्रांति लाने के लिए।

बीरसा ने अपने लोगों को बेहतर जीवन देने के लिए अंग्रेज शासन से मौलिक मानवीय अधिकारों की मांग करते हुए बीरसाइत को समझाया कि-''अंग्रेज शासक तुम्हें शिक्षा, अखबार, यूनिवर्सिटी, रेलवे वगैरह दे सकते हैं। उससे उनका स्वार्थ भी सिद्ध होता है। लेकिन तुम्हारे यह शासक तुम्हें मौलिक मानवीय अधिकार भी नहीं देना चाहते। देना चाहने पर उनके जो छोटे-छोटे प्रश्रय छोटे नागपुर में हैं - उन महाजनों, बनियों, जमींदारों, राजाओं के स्वार्थ पर चोट लगती है।''[5] स्पष्ट है कि सरकारी नीतियों के कारण जंगल के वास्तविक अधिकारी अपने जमीन से हाथ धो बैठे। अब उन्हें अपनी ही जमीन के लिए लगान देना पड़ रहा था और इस लगान का भार वहन न करने के कारण उन्हें कर्ज लेना पड़ रहा था।

आजादी के बाद भी देश का एक बड़ा हिस्सा किस तरह परंपरागत तौर पर सामाजिक और आर्थिक गुलामी में जीने को मजबूर हो जाता है। ''भूख'' उपन्यास में उस सामाजिक ढांचे को देखा जा सकता है। झारखंड की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह उपन्यास भारतीय समाज में परंपरागत तौर पर चलने वाले शोषण तंत्र को बेनकाब करता है और आदिवासी समाज और उनके जीवन के संघर्ष उसके प्रतिरोध को व्यक्त करता है। 'अग्निगर्भ','रूदाली' ,'द्रौपदी' आदि जैसी रचनाओं में शोषित समाज का दर्द, रोष, आंदोलन और शोषकों का दोहरा रूप और सभ्य समझे जाने वाले समाज का असली रूप दिखाई देता है।

महाश्वेता देवी ने औपनिवेशिक शोषण (भूमि अधिग्रहण, मजदूरी व्यवस्था, कर व्यवस्था) और स्वतंत्र भारत में जारी उत्पीड़न (सरकारी नीतियां, बाहरी लोगों का आक्रमण, वन अधिकारों का हनन को बेहद यथार्थवादी ढंग से 'ईंट के ऊपर ईंट' कहानी संग्रह में प्रस्तुत किया है। इस संग्रह में चार कहानी हैं 'बयान', 'शनीचरी', 'राजाबाशा की रूप-कथा' और 'ईंट के ऊपर ईंट'। मौजूदा सामाजिक संबंध की पड़ताल करती हुई 'बयान' कहानी पुलिस प्रशासन के अत्याचार को उजागर करती है। यह कहानी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगती है। भरमो थाने के शक्ति-संपन्न लोगों का अत्याचार इतना ज्यादा बढ़ गया है कि वहां के गुंडे हंसते हुए एक आदिवासी महिला को पुलिस के हवाले करते हुए कहता है कि-''हां, हां, लीजिए, हमारे एक-एक आदमी ने दो-दो बार तीन-तीन बार बयान लिया है। बहुत अच्छा बयान देती है। जरा हाथ-पैर बांधकर बयान लीजिएगा तभी ज्यादा मजा देगी''[6] असल में बयान लेना इन इलाकों में बलात्कार का नया नाम है। सेओपुर की कोई भी हरिजन लड़की जरा बड़ी हुई कि नहीं की मालिक महाजनों ने उससे बलात्कार किया। यहां भी पुलिस लड़कियों पर अत्याचार करती है। थाना प्रभारी एक पत्रकार से कहता है कि-''चाहे तमाम जवान आदिवासी लड़कियां उठा ली जाए तो भी हम कुछ नहीं कर सकते। थाने में खबर मिले तभी न!''[7] यहां उच्च जाति के लोगों का दबदबा इतना ज्यादा है कि उनके गुंडों के डर से हरिजन और आदिवासी थाने में रिपोर्ट दर्ज कराने नहीं जाते। थाना प्रभारी का मानना है कि-''बलात्कार तभी होता है जब किसी थाने-वाने में रिपोर्ट-विपोर्ट दर्ज हो। यदि थाने में लिखाया नहीं गया तो कोई केस नहीं होगा। यह आप नहीं समझेंगे। खून खून नहीं होगा, डकैती डकैती नहीं होगी, यदि थाना में दर्ज नहीं हुआ। फिर बलात्कार-वलात्कार को लेकर कभी कोई बात नहीं उठी।''[8]

पुलिस लग्न सिंह और छतर सिंह के इशारों पर चलती है। वोट की राजनीति के कारण लग्न सिंह जैसे लोगों को स्थानीय नेता और मंत्री का प्रश्रय मिला हुआ है। राजनीति और आर्थिक शक्ति के सहारे ये लोग हरिजन और आदिवासी स्त्रियों का दमन करता है। सब ऊंची जात वालों का सुनते हैं। ऊंची जात वालों के पास पैसा है। बंदूकें हैं। और राजनीतिक ताकत। इन्हीं के बदौलत ये सभी हर जगह राज करते हैं। लेखिका ठीक ही कहती है-''जमीन रखी जाती है दस के पास और नब्बे आदमी मजदूर, बंधुआ और भिखारी बन जाते हैं। अंचलों में आते हैं विदेशों से पैसा पाने वाले मिशनरी, वर्णोद्धत, दंभी और अत्याचारी ब्राह्मण, देश-सेवक, बदमाश सरकारी अफसर, लुच्चे-खूनी, राजनीतिक और राजनीतिक गुंडे, ठेकेदारों के हथकंडे। ऐसे अंचलों में बंदूकें नहीं चलेंगी, गोलीबारी नहीं होगी तो क्या होगा?''[9] पैसों से संचालित इस व्यवस्था को जब तक खारिज नहीं किया जाएगा तब तक यह अत्याचार जारी रहेगा, किसी न किसी रूप में। कभी यह जाति के नाम पर शोषण करता है। कभी यह परंपराओं और रीति रिवाज के नाम पर शोषण करता है।

महाश्वेता देवी की अधिकांश रचनाओं में आदिवासी अपनी परिस्थितियों से लड़ती है और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाती है। ग्राम-पंचक में बुढ़न ने घूम-घूम कर प्रचार करना शुरू करता है और कहता है-''मालिकों के जुल्म का प्रतिरोध

होना चाहिए। बंधुआ मजदूरी सरकार ने बंद कर दी है सो अब नहीं करेंगे।''[10] बयान कहानी की मुस्मात का प्रतिरोध पूरे व्यवस्था को हिला देता है।

'ईंट के ऊपर ईंट' कहानी संग्रह की दूसरी कहानी 'शनीचरी' में उन परिस्थितियों का उल्लेख महाश्वेता देवी करती है जिनके कारण वहां के लोग विस्थापित होने के लिए मजबूर हो जाते हैं। शनीचरी मात्र बारह साल की ही उम्र में तोहरि हाट आ गई थी। प्रायोजित भूख ने शनीचरी और मंगरू जैसे तमाम लोगों को ईंट भट्ठों पर जाने के लिए मजबूर कर देता है। यह ईंट भट्ठा शोषण तंत्र का एक प्रतीक बन जाता है। जहां आदिवासी स्त्रियों का शोषण किया जाता है। आदिवासी इलाकों में मालिकों के दलाल स्त्रियों को बेहतर जीवन का लालसा देकर उन्हें बरगलाकर वे फिरंगियों के चाय बागानों, कॉफी बागानों, ईंट भट्ठों पर और कोयल की खानों में ले जाते थे। जो लड़कियां गांव से एक बार निकल जाती फिर लौटकर कभी गांव नहीं आती। लड़कियां लौटती क्यों नहीं? कोलकाता शहर क्या राक्षस है। रांची, पलामू, सीभूमि सब जगह का रस चूस लेता है। किसी को रंडी बनता है, किसी को बेच देता है। यहां सवाल एक ही है। कैसे बचें?

आदिवासी जब अपने जंगल को छोड़कर बेहतर जीवन की तलाश में शहर की ओर जाने के लिए मजबूर होता है तब वह पहली बार हारता है लेकिन शहर जाने के बाद हार का यह सिलसिला रुकता नहीं है। वह लगातार हारता ही चला जाता है। दलाल तंत्र की हिस्सा बन चुकी गोहुमन बीवी की झांसे में ये लड़कियां आ जाती हैं। गोहुमन कहती है कि पेट की आग भयानक आग होती है कोलकाता की ईंट भट्ठों पर काम करोगे तो झिलमिल कपड़े मिलेंगे, पूरी मिठाई मिलेगी, शहर में घूम सकोगे। ईंट भट्ठों को आबाद करने के लिए, उसके मालिकों को सस्ती मजदूरी उपलब्ध कराने के लिए हजारों गोहुमन घूम रही है। भूख को बनाए रखने के लिए कभी जंगलों में आग लगा दी जाती है तो कभी बी.एम.पी. और रक्षा मोर्चे के साथ लड़ाई छेड़ दी जाती है। ताकि भूख से छटपटाते आदिवासी ईंट भट्ठों पर जा सके। थाना-पुलिस ने पैसा खाया जी.आर.पी. ने पैसा खाया। और जिन लोगों ने हजार हजार लड़कियों की दुर्गति के व्यापार में गोहुमन के हाथों से पैसे खाए और कुछ नहीं देखते कुछ नहीं जानते कहकर चुप बैठे रहे। यही असली गोहुमन है। जिसकी तलाश 'शनीचरी' कहानी में महाश्वेता देवी ने की है। वे कहती हैं-''यह बात हजार बार कहूंगी कि यदि ये लोग रोकते तो शायद यह लड़कियां नरक में नहीं पड़तीं।''[11] शनीचरी को इंतजार है उस दिन का जब किसी को पेट की आग बुझाने के लिए, तन ढकने के लिए ईंट के भट्ठों पर नहीं जाना पड़ेगा। वह नहीं जानती कि यह इंतजार कब पूरा होगा। शनीचरी की कहानी तो खत्म नहीं हुई। जितने दिन रहमत निर्बाधित होकर ईंटों का भट्ठा चलायेगा, जितने दिन को गोहुमन कटेगी, जितने दिन मातृभूमि शनीचरी को खाना-कपड़ा नहीं देगी इतने दिन तक शनिचरी का उंगली असली गोहुमन की और उठती रहेगी।

महाश्वेता देवी की अधिकांश रचनाएं काल्पनिक दुनिया को नहीं गढ़ती बल्कि समाज की कड़वी सच्चाई को सामने रखती है। उनकी रचनाओं में भूख, गरीबी, सामाजिक उत्पीड़न और सामंती ताकतों की क्रूरता को बेबाकी से दर्शाया गया है। 'राजाबाशा की रूप-कथा' कहानी सार्जोम और जोसमिना की विस्थापन पर विस्थापन की कहानी कहती है। यह लोग पेट की आग बुझाने के लिए पंजाब पहुंच जाते हैं। यह कहानी आदिवासी जीवन संघर्षों पर आधारित है। आजादी के बाद भी देश का एक बड़ा हिस्सा सामाजिक और आर्थिक गुलामी में जीने के लिए कैसे मजबूर हो जाता है। प्रस्तुत कहानी शोषण पर टिके इस समाज पर चोट करती है और विकास की दूसरी सच्चाई को उजागर करती है। जहां कोलहान जैसी जगह सरकार के लिए एक अलग चेहरा बन जाती है। ठेकेदारों के लिए रुपया लूटने की जगह। पुलिस के लिए चांदमारी का ठिकाना। अदालत के लिए झूठे केस में लोगों को फंसाने की जगह। मिशनरियों के लिए बाइबल-बेबीफूड जैसे सेवा-कार्यों की आड़ में आदिवासियों के बीच, कैथोलिक प्रोटेस्टेट चर्च के लिए हजारों सेवक जुटाने तथा हजार तरह से लोगों को क्रिश्चियन बनाकर उनके मूल जनजीवन से तोड़ने की जगह। हिंदू संप्रदाय के लिए दंगा करने की जगह। विदेशी खच्चरों के लिए गवेषणा या ग्राम सेवा या पृथक प्रदेश के लिए मदद की आर में रुपए उछलने की जगह। ऐसी जगह जहां सभी एक हैं। कोल्हान के गरीब लोगों की एकता तोड़ो। उन्हें रुपया देकर नष्ट करो। बड़े उद्योगपतियों के लिए कोलहान बहुत जरूरी बन जाता है। अत: स्पष्ट है कि पैसा केंद्रित सामाजिक व्यवस्था में कैसे मनुष्यों के मानवीय मूल्यों का क्षरण होता है। इसे महाश्वेता देवी की कथा साहित्य के माध्यम से समझा जा सकता है।

'ईंट के ऊपर ईंट' कहानी में जोसिन घर से निकलती है काम की तलाश में, यह जानते हुए कि उनके साथ क्या होगा

मगर जलते हुए जंगलों से दूर साल के उसके पसंद के पेड़ों से दूर वो भी उन्हीं ईंट भट्ठों के कारोबारी के शोषण का शिकार बनती है। जहां जाने कितनी लड़कियां या तो मर कट गईं या उसी बाजार का हिस्सा बन गईं। आदिवासी लड़कियां आत्महत्या कर भी ले तो किसी को क्या फर्क पड़ता है? पुलिस प्रशासन सब तो उन्हीं साहूकारों मालिकों का है जो कामगारों के खून से अपने कारोबार को सींचते हैं। जोसिन जैसी लाखों लड़कियां ईंट भट्ठों पर जाने के लिए मजबूर होती है। क्योंकि अब सारे जंगल ठेकेदार के हैं। जंगल से फल, पत्ते, कंदमूल अगर लेने जाओ तो ठेकेदार का परमिट चाहिए। जंगल दफ्तर का परमिट चाहिए। जंगल ठेकेदारों के लिए रुपया लूटने की जगह बन गई है। तभी तो आदिवासी सोचता है कि उलगुलान की आग में जंगल नहीं जलता। आदमी का रक्त और हृदय जलता है।

'द्रौपदी', 'बीज', 'दौलति', 'सालगिरह की पुकार पर', 'अग्निगर्भ', 'भूख', 'जली थी अग्निशिखा' और 'शिकार' आदि रचनाओं में प्रबल प्रतिरोधी चेतना के स्वर दिखाई पड़ता है। महाश्वेता देवी की कथा साहित्य आदिवासियों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक और शोषण के विरुद्ध संगठित होकर लड़ने की प्रेरणा देती है। और सवाल करती है कि आदिवासी का असली दुश्मन कौन है? गरीबी, उसकी देह, उसका आदिवासी होना या शोषण पर टिका यह समाज... ?

महाश्वेता देवी की कथा साहित्य में शोषण और दमन के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज किया गया है। इनके कथा साहित्य के चरित्र केवल पीड़ित नहीं है वे सक्रिय प्रतिरोधकर्ता बनते हैं। यहां प्रतिरोध केवल हिंसक या राजनीतिक नहीं है। इन्होंने आदिवासी संस्कृति, लोक कथाओं गीतों, मिथकों और जीवन दर्शन को ही एक प्रकार के प्रतिरोध के रूप में प्रस्तुत किया है। आदिवासी की संस्कृति उनकी पहचान का आधार है। जिसे बचाए रखना ही शोषक ताकत के विरुद्ध प्रतिरोध है। उनकी प्रकृति केंद्रित दृष्टि पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध खड़ी है।

सहायक प्राध्यापक
वैशाली महिला कॉलेज, हाजीपुर

सन्दर्भ सूची

1. महाश्वेता देवी : जंगल के दावेदार, पृष्ठ संख्या-32
2. वही, पृष्ठ संख्या-32
3. वही, पृष्ठ संख्या-258
4. वही, पृष्ठ संख्या-105
5. वही, पृष्ठ संख्या-275
6. महाश्वेता देवी : ईंट के ऊपर ईंट, पृष्ठ संख्या-49
7. वही, पृष्ठ संख्या-13
8. वही, पृष्ठ संख्या-61
9. वही, पृष्ठ संख्या -
10. महाश्वेता देवी : ईंट के ऊपर ईंट, पृष्ठ संख्या-43
11. वही, पृष्ठ संख्या-65

न्यायदर्शनानुसार आसत्ति विमर्श

डॉ. मधुबाला सिंह

शोधसार

शाब्दबोध की प्रक्रिया में शाब्दबोध के प्रति करण (पदज्ञान) का जितना महत्त्व है उतना ही शाब्दबोध के सहकारी कारणों का है। वाक्यस्थ पदों में योग्यता, आकाङ्क्षा, आसत्ति और तात्पर्य इन चारों का ज्ञान शाब्दबोध के प्रति सहकारी कारण के रूप में आवश्यक होता है। आसत्ति के लिए कुछ दार्शनिकों ने सन्निधि पद का प्रयोग भी किया है। आसत्ति और सन्निधि दोनों ही शब्दों से स्पष्ट है कि सामीप्य अथवा नैकट्य की बात कही जा रही है। अर्थात् वायस्थ पदों में सामीप्य होना चाहिए। यह सामीप्य किस प्रकार होता है? वाक्यस्थ पदों का बिना विलम्ब किये उच्चारण करना ही आसत्ति है। साथ ही वाक्य के पदों के मध्य कोई अन्य व्यवधान उपस्थित नहीं होना चाहिए, यथा एक वाक्य को समाप्त किए बिना ही अन्य वाक्य के पदों का उच्चारण करने से पदों के मध्य व्यवधान आ जाने से यहाँ आसत्ति नहीं होगी, जिससे श्रोता को शाब्दबोध नहीं हो पाएगा। इस प्रकार शाब्दबोध के प्रति आसत्ति की सहकारी कारणता अनिवार्य रूप से व्याख्यायित है।

शोधशब्द

आसत्ति, सन्निधि, शाब्दबोध, सहकारी कारणा, आसत्तिभ्रम, पदस्मरण।

न्यायदर्शन के अनुसार सार्थक '**पद-समूह**' को '**वाक्य**' कहते हैं। वाक्य दो प्रकार के होते हैं वैदिक तथा लौकिक। सामान्य लोकव्यवहार में प्रयुक्त सार्थक पद-समूह लौकिक वाक्य कहलाते हैं। संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त वाक्य वैदिक वाक्य कहे जाते हैं।

न्यायसूत्र में वाक्य इस अर्थ में **शब्द** का प्रयोग मिलता है- **आप्तोपदेशः हि शब्दः।**[1] यहाँ **शब्द** का प्रयोग **वाक्य** अर्थ में किया गया है। यहाँ उपदेश शब्द से व्यवहार अथवा प्रवृत्ति को बताया गया है। भाष्यकार वात्स्यायन ने भी उपदेश पद की यही व्याख्या की है।[2] नव्यनैयायिकों में गङ्गेश उपाध्याय, लौगाक्षी भास्कर तथा अन्नम्भट्ट ने भी 'पद-समूह' को 'वाक्य' कहा है।[3] नैयायिकों ने उन्हीं वाक्यों को प्रामाणिक स्वीकार किया है जिन वाक्यों में **आकाङ्क्षा, योग्यता** व **सन्निधि** अनिवार्य रूप से हो। इससे इतर वाक्यों को नैयायिक प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

नव्यनैयायिकों ने **प्राचीन नैयायिकों** की अपेक्षा वाक्य-स्वरूप पर अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर चिन्तन उपस्थित किया है। प्राचीन नैयायिकों ने पद-समूह को ही वाक्य माना। जबकि **नव्य नैयायिकों** ने इसके साथ आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि को वाक्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया। वाचस्पति मिश्र इसी सन्दर्भ में **न्यायवार्तिकटीका** में वाक्यार्थ-बोध के लिए आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि का भी वर्णन करते हैं।[4]

इसीलिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के शब्दखण्ड में शाब्दबोध के चार कारण बताये गये हैं- **आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा** तथा **तात्पर्य**।[5] उपर्युक्त कारणों में से सभी नैयायिकों ने इन चारों को शाब्दबोध में कारण नहीं माना है। कुछ नैयायिक इन सभी को शाब्दबोध में कारण स्वीकार करते हैं तथा कुछ प्रारम्भिक तीन को ही स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए **तर्कसङ्ग्रह** के रचनाकार **अन्नम्भट्ट** '**आकाङ्क्षायोग्यता-सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः।**'[6] ऐसा कहकर आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि को ही वाक्य के अर्थ में हेतु मानते हैं, तात्पर्य को कारण नहीं मानते हैं।

मुक्तावलीसङ्ग्रह के रचयिता आचार्य **पञ्चानन शास्त्री** ने भी न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के अनुसार वाक्यार्थ या शाब्दबोध में आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा तथा तात्पर्य का ज्ञान आवश्यक माना है।

प्रस्तुत शोधपत्र में शाब्दबोध के सहकारिकारणों में से एक आसत्ति को न्यायशास्त्र दृष्ट्या विशेष रूप से न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली की अन्यतमा टीकाओं में से एक पञ्चाननशास्त्रि-विरचित मुक्तावलीसङ्ग्रह टीका के अनुसार विस्तार से बताया जाएगा।

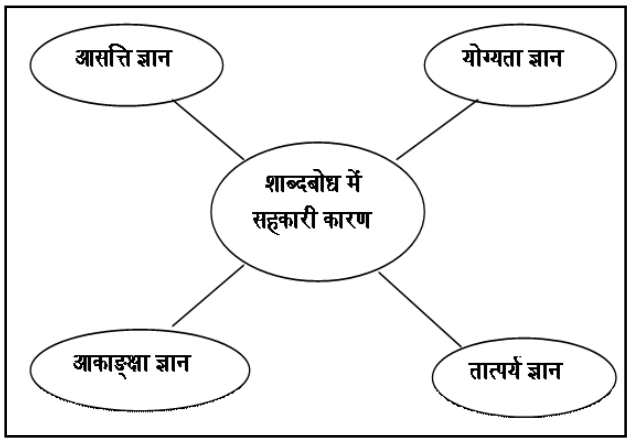

★ **आसत्ति**—आसत्ति वाक्य का अनिवार्य अङ्ग है, अन्य दर्शनों में आसत्ति के लिए सन्निधि शब्द का प्रयोग किया गया है। आकाङ्क्षा और योग्यता होने पर भी यदि वाक्यस्थ पद सन्निहित नहीं है तो वाक्यार्थ-बोध नहीं होता है ।

• **न्यायमत**—वाक्यस्थ पदों का अविलम्ब उच्चारण आसत्ति कहलाता है। अर्थात् प्रयोग किए गए पदों में दैशिक और कालिक निकटता होनी आवश्यक है। यथा- **'गाम् आनय'** में गाम् व आनय इन दोनों पदों के उच्चारण में काल का व्यवधान न होने पर ही यह वाक्य बनता है एवं इससे वाक्यार्थ-बोध होता है ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में आसत्तिज्ञान को शाब्दबोध की प्रक्रिया में सहकारी कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा तथा तात्पर्य का ज्ञान शाब्दबोध में कारण है।[7] आसत्ति, योग्यता, आकाङ्क्षा तथा तात्पर्य में से कौन पद में रहता है और कौन अर्थ में अर्थात् कौन **पदनिष्ठ** है और कौन **अर्थनिष्ठ**? ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। योग्यता **अर्थनिष्ठ**, आसत्ति तथा आकाङ्क्षा **पदनिष्ठ** और तात्पर्यज्ञान **वक्तृनिष्ठ** होता है।

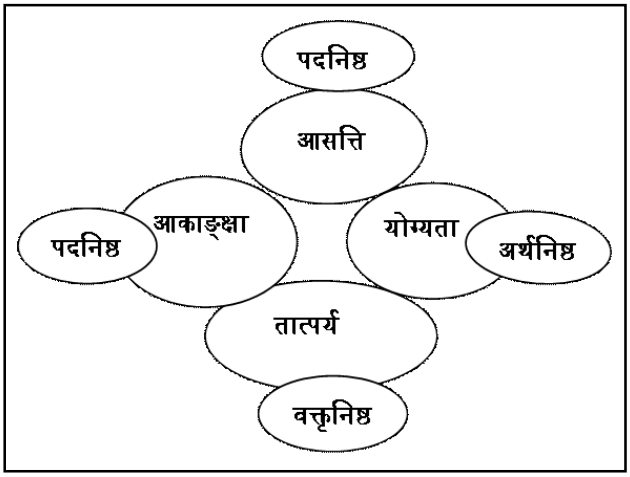

आसत्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है- **''सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते।''**[8] आसत्ति से तात्पर्य है सन्निधि। सन्निधान शब्द से अभिप्राय है-अव्यवधान, निकटता या सामीप्य। पदों की आसत्ति से अर्थ हुआ पदों की सन्निधि। अर्थात् पदों की निकटता या परस्पर सामीप्य **'आसत्ति'** कहलाती है। जिस पदार्थ के साथ जिस पदार्थ का अन्वय अपेक्षित होता है, आसत्ति में बोध का अव्यवधान अर्थात् व्यवधान का न होना आवश्यक तत्त्व है। यहाँ **पञ्चानन शास्त्री** ने अन्वय का अर्थ किया है- **'अन्वयः शाब्दबोधविषयीभूतः संसर्गः।'**[9] शाब्दबोध में विषयीभूत संसर्ग अन्वय कहलाता है।

जैसे वक्ता 'राम भोजन' इतना कहकर अन्य बात प्रारम्भ कर दे और बाद में कहे 'खाता है' तो इन दोनों वाक्यांशों का सम्बन्ध एक साथ ग्रहणीय नहीं है ऐसे में व्यवछिन्न पदसमूह वाक्य नहीं बन सकता। इसलिए आसत्ति के बोध में अव्यवधान अनिवार्य है । दोनों पदों की व्यवधानरहित उपस्थिति ही शाब्दबोध में कारण होती है।[10] इसलिए **'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन'** इन पदसमूहों से शाब्दबोध सम्भव ही नहीं हो पाता।[11] क्योंकि यहाँ शब्दों की निकटता तो है किन्तु जिन दो शब्दों में अन्वय की अपेक्षा है वे व्यवधानरहित न होकर व्यवधान से युक्त हैं।[12]

• आसत्ति भ्रम से शाब्दबोध

एक उदाहरण- **''नीलो घटः द्रव्यं पटः''** इस वाक्य में आसत्ति नहीं है तथापि आसत्ति के भ्रम से यहाँ शाब्दबोध हो जाता है।[13] आसत्ति के भ्रम से शाब्दबोध होने में कोई क्षति भी नहीं है।[14] जैसा कि **मुक्तावलीसङ्ग्रह** में भी वर्णन मिलता है:- **''आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः।''**[15] 'नीलो घटः द्रव्यं पटः' यहाँ वक्ता का अभिप्राय यह है कि इस वाक्य से श्रोता 'नीलः घटः, पटः द्रव्यम्', ऐसा अर्थ माने। 'नीलः

पटः', 'घटः द्रव्यम्' इसमें आसत्ति के लक्षण के अनुसार आसत्ति भी है। किन्तु यदि श्रोता '**नीलः घटः**'; '**द्रव्यं पटः**' इन शब्दों में ही आसत्ति समझ लेता है, जहाँ आसत्ति अभिप्रेत न थी वहाँ आसत्ति समझने पर तब आसत्ति भ्रम से श्रोता को '**नीला घड़ा है**' '**पट द्रव्य है**' यह ज्ञान होता है। अतः यह मान्य है कि आसत्ति भ्रम से शाब्दबोध सम्भव है और इसमें कोई हानि नहीं है।[16]

• बृहद्वाक्यों में पदस्मरण के संस्कार द्वारा शाब्दबोध

जब शब्द व्यवधानरहित हो तो उस समय शङ्का हो सकती है कि जब ''**छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः**'' इस प्रकार वाक्य के उच्चारण करने पर दूसरे शब्द के स्मरण के समय पहले पद का स्मरण नाश हो जाने से व्यवधानरहित उस पद का स्मरण असम्भव है। उत्तरपद के उच्चारण के समय पूर्वपद नाश हो ही चुका है-'**योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्य-त्वात्।**' अतः दोनों पदों के स्मरण से प्राप्त पदार्थों की उपस्थिति ही सम्भव नहीं। अर्थात् कुण्डली पद स्मरण रहता है तब छत्री पद का स्मरण नष्ट हो जाता है।

इस शङ्का का **सिद्धान्ती** सम्मत समाधान यह है कि प्रत्येक शब्द के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से अन्तिम पद के साथ सभी पदों से सम्बन्धित स्मरण की व्यवधानरहित उपस्थिति हो जाती है।[17] संस्कारों से स्मरण की उत्पत्ति को पुष्ट करते हुए सिद्धान्ती का कहना है- ''**तावत्पदसंस्कारसहित-चरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेक-पदस्मरणम्।**''[18] अर्थात् जिस प्रकार सन्निकर्षों से एक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है उसी भांति नाना संस्कारों से एक स्मरण की भी उत्पत्ति की संभावना है। सभी पदों (शब्दों) के संस्कारों से एक स्मरण की उत्पत्ति सम्भव है। सभी पदों में संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण ज्ञान का उद्बोधक होता है, अन्यथा तो नाना वर्णों से एक पद का स्मरण भी असम्भव होता।[19]

• पदार्थान्वय विषयक प्राचीन व नव्यनैयायिक मत

कुछ **नैयायिकों** का मानना है कि पदार्थों के अन्वय के सम्बन्ध में '**खलकपोतन्याय**' से एक ही बार में परस्पर अन्वित हो जाते हैं। यहाँ **मुक्तावलीसङ्ग्रहकार पञ्चानन शास्त्री** बताते हैं कि यह **उदयनाचार्य** का मत है[20], कि खलिहान में वृद्ध, युवा तथा शिशु, कबूतर एक साथ उतरते हैं। उनमें किसी के पहले अथवा बाद में आने का भान नहीं होता उसी प्रकार पदार्थों के अन्वय में भी कोई आगे-पीछे का क्रम नहीं होता। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में भी वर्णन मिलता है :-

वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत् पतन्ति।
तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति॥[21]

जबकि इसके ठीक विपरीत **नव्यनैयायिकों** का कहना है कि जिन-जिन पदों में आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि उपस्थित होती है उन पदों से अन्वित पद का अपना अर्थ (स्वार्थ) पदों से ही जाना जाता है।[22] इस प्रकार नव्य न्याय में पदार्थों के अन्वय में क्रमिकता होती है।

यहाँ आचार्य **पञ्चानन शास्त्री** व्याख्या करते हैं कि 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि वाक्यों में सर्वप्रथम '**ग्रामवृत्तिकर्मत्व**' यह बोध होता है। अनन्तर गमन के अनुकूल कृति का बोध होता है, अन्त में ग्रामकर्मक गमनानुकूल कृतिमान् यह शाब्दबोध होता है।[23] अतः सर्वत्र खण्डवाक्यार्थबोध पूर्व में अर्थात् विशेषणातावच्छेदकप्रकारक निश्चय के पश्चात् विशिष्ट का बोध हो, इसी रीति से महावाक्यार्थ का बोध होता है।[24]

महावाक्यार्थ का बोध खण्डवाक्य के अर्थबोध के बाद पदार्थस्मृति द्वारा होता है।[25] इससे वर्ण के माध्यम से अभिव्यञ्जित होने वाले पद स्फोट का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि उन-उन वर्णों के संस्कारों से युक्त चरम (अन्तिम) वर्ण के ज्ञान से उसके व्यञ्जन के द्वारा ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है।[26]

मुक्तावलीकार के अनुसार '**द्वारम्**' ऐसा कहने पर '**पिधेहि**' पद का अध्याहार आवश्यक है। क्योंकि पदजन्य पदार्थस्मरण ही शाब्दबोध में हेतु है। जैसाकि **मीमांसकों** के अनुसार '**पिधेहि**' पद के बिना ही अर्थबोध हो जाता है। यह स्थिति पदजन्य नहीं है अत एव सदैव इस प्रकार के वाक्य में पदाध्याहार आवश्यक है। ऐसा मानने का मुख्य कारण है- पद से उत्पन्न होने वाली पदार्थ की उपस्थिति ही शाब्दबोध का प्रमुख कारण है। और यदि पद अध्याहार न करें तो '**पुष्पेभ्यः**' शब्द में उपस्थित चतुर्थी विभक्ति अनुपपन्न हो जाती है।[27] '**पुष्पेभ्यः**' यह अपूर्ण वाक्य है। इसके साथ '**स्पृह्यति**' इस क्रियापद का अध्याहार करना आवश्यक है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र का नियम है- **स्पृह्** धातु के योग में जो इष्ट (ईप्सित) हो उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।[28] इसलिए जब वक्ता 'पुष्पेभ्यः' इतना मात्र कहता है, 'स्पृह्यति' उसके साथ नहीं कहता तो जब तक '**स्पृह्यति**' पद का अध्याहार न कर लिया जाए तब तक चतुर्थ्यन्त '**पुष्पेभ्यः**' पद का प्रयोग उचित नहीं होगा।[29] क्योंकि ऐसा प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतः अशुद्ध है। अत एव ऐसे स्थल पर '**स्पृह्यति**' शब्द का अध्याहार करना ही होगा।

• मीमांसक मत

मीमांसासूत्र के भाष्यकार **शबरस्वामी** ने सन्निधि को **आनन्तर्य** के रूप में विवेचित किया है। दो पदों में परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा के सामर्थ्य को ही सन्निधि कहा गया है। **कुमारिल भट्ट** के मत में '**शब्दों**' की अपेक्षा '**अर्थों**' की सन्निधि अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनके मत में बिना विलम्ब पदों का उच्चारण ही पर्याप्त नहीं है अपितु श्रोता की बुद्धि में अर्थबोध भी आवश्यक है।

निष्कर्षत: ऐसा मानना चाहिए कि जब भी ऐसी स्थिति हो कि कोई अपेक्षित पद वक्ता के द्वारा उच्चारण न किया गया हो तो श्रोता के द्वारा उस अनुच्चरित तथा अपेक्षित पद का अध्याहार करने पर शाब्दबोध होगा। अन्यथा शाब्दबोध मान्य नहीं होगा।[30]

एम. फिल., पीएच.डी.
एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्षा, संस्कृत विभाग
मिराण्डा हाऊस महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत
Email Id- madhumh3@gmail.com

सन्दर्भसूची

1. न्या. सू. 1.1.7
2. तथा च सर्वेषां व्यवहारा: प्रवर्तन्त इति। न्या. भा., 1.1.7, पृ. 25
3. वाक्यं पदसमूह:, त. चिन्ता म., पृ. 482
4. न्या. वा. टी., पृ. 174
5. आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम्। न्या. सि. मु., पृ. 409, 410
6. तर्क. सं., पृ. 215
7. आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते- न्या. सि. मु., श. ख., का. 82
8. न्या. सि. मु., पृ. 121
9. मु. सं.,पृ. 222
10. यत्पदार्थेन यत्पदस्यान्वयोपेक्षितस्तयोरव्यवधाननेनोपस्थिति: शाब्दबोधे कारणम्। मु. सं. पृ. 222
11. तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यादौ न शाब्दबोध:। मु. सं. पृ.222
12. तथा चात्रान्वययोग्ययोस्तात्पर्यविषयीभूतयोर्गिरि-पदार्थाग्निमत्पदार्थयोरव्यवधानाभावान्न शाब्दबोध इति भाव:। मु. सं., पृ. 222
13. नीलो घटो द्रव्यं पट इत्यादावासत्ति भ्रमाच्छाब्दबोध:, न्या. सि. मु., पृ. 65
14. आसत्तिभ्रमस्य न शाब्दभ्रमप्रयोजकत्वम्, किन्तु योग्यताभ्रमस्य। मु. सं., पृ. 222
15. मु.सं., पृ. 222
16. न्या. सि. मु., श. ख., द. शा., पृ. 127
17. ननु यत्र छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त इत्युक्तम्, तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तत्तत्पदस्मरणासम्भव इति चेत् न प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमं तावत् पदविषयकस्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्ते:। मु. सं., पृ. 223
18. मु. सं., पृ. 223
19. तावत्पदसंस्कारसहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदस्मरणम्। मु. सं., पृ. 123
20. उदयनाचार्य सम्मतिमाह - वृद्धा युवान इति। - मु.सं., पृ. 223
21. न्या. सि.मु., श. ख., पृ. 67
22. अपरे तु- यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते। तेन तेनान्वित: स्वार्थ: पदैरेवावगम्यते।। मु. सं., पृ. 123
23. ग्रामं गच्छतीत्यादौ प्रथमं ग्रामवृत्तिकर्मत्वमिति बोधस्ततो गमनानुकूला तिस्ततो ग्रामकर्मकगमनानुकूल तिमानित्यादिबोध:। - मु.सं., पृ. 224
24. अत एव सर्वत्र खण्डवाक्यार्थबोधरूपस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारक निश्चय पूर्वे सत्वाद् विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्यैव महावाक्यार्थबोध इति भाव:। - मु.सं., पृ. 224
25. तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्यप्याहु:। न्या. सि. मु., पृ. 68
26. एतेन तावद् वर्णाभिव्यङ्ग्य: पदस्फोटोऽपि निरस्त:, तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तिरिति। न्या. सि. मु., पृ. 69
27. तथा पुष्पेभ्य: इत्यादौ स्पृहयतीत्यादिपदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्ते: पदाध्याहार आवश्यक:। न्या. सि. मु., श. ख., पृ. 76
28. स्पृहेरीप्सित:, अष्टा.1.4.36
29. स्पृहार्थकधातुयोगे एव व्याकरणानुशासनेन चतुर्थ्या

विधानादर्थाध्याहारपक्षे स्पृहार्थकधातुयोगाभावाच्चतुर्थी न स्यादिति भावः। मु. सं., पृ. 225

30. कारकपदेन, क्रियापदं विना कारकपदस्याभिमत-शाब्दबोधजननासमर्थत्वादिति भावः। मु. सं., पृ. 225

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,** विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य, व्या. दयाशङ्कर शास्त्री, सुरभारती प्रकाशन, कानपुर, उत्तरप्रदेश, अप्रैल 1989
2. **मुक्तावलीसङ्ग्रह टीका,** पञ्चानन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, सम्पा. गजेन्द्र चतुष्पादी चौखम्बा संस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, 1885
3. **अर्थसङ्ग्रह,** लौगाक्षी भास्कर, व्या. वाचस्पति उपाध्याय, (अर्थालोक संस्कृत टीका सहित) चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2005
4. **तर्कभाषा,** केशव मिश्र, सम्पा. एस. आर. अय्यर, (अंग्रेजी अनुवाद) चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1971
5. **तर्कसङ्ग्रह,** अन्नमभट्ट, सम्पा. गोविन्दाचार्य, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010
6. **न्यायदर्शन,** व्या. आ. ढुण्ढिराज शास्त्री, सम्पा. श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1970
7. **न्यायसूत्र** (भाष्यसहित), गौतम, सम्पा. विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1922
8. चतुर्वेदी, शारदा, **शब्दविमर्श,** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2006
9. तर्कवागीश, फणिभूषण, **न्याय परिचय,** रूपान्तरकर्ता किशोरनाथ झा, सम्पा. डॉ. श्री दिनेशचन्द्र गुह विद्या भवन, वाराणसी, 2014
10. पन्त, गिरीशचन्द्र, **शब्दार्थबोध तथा सङ्केतग्रह सिद्धान्त**, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2014
11. मिश्र, शोभाकान्त, **शब्दार्थतत्त्व,** बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2014
12. मिश्र, रणजीत कुमार, **समासशक्ति तथा शब्दशक्ति,** विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2017
13. शास्त्री, गौरीनाथ, **शब्दार्थ मीमांसा,** अनु. श्री मिथिलेश चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, विक्रम सम्वत् 2049

शोध-पत्र

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त भूमंडलीकृत विसंगतियाँ
(संदर्भ : किसान जीवन)

दिनेश कुमार

इतिहास से अवगत हो चुका है कि वैश्विक स्तर पर सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विचारधाराओं का आदान-प्रदान मानव समाज के उत्थान और हित में रहा है। सभी उन्नत सभ्यताओं का विकास भी इसी प्रक्रिया के परिणाम स्वरुप हुआ। व्यक्ति खुद के ज्ञान और अनुभव को अधिक विकसित करने की लालसा में अपने आप को बौद्धिक, आर्थिक, ऐतिहासिक एवं संघटनात्मक स्तर पर सामुदायिक रूप में अपने अस्तित्व को प्रवाहित करने का हमेशा से ही प्रयास करता रहा है। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही यह परम्परा मनुष्य के लिए तथा समाज के लिए लोकहितकारी एवं बौद्धिक और आर्थिक सशक्ति का आधार स्तंभ रही है। सांस्कृतिक आवागमन विशेषत: एक सहज मूक द्विपक्षीय समझौतों पर आधारित था। हालांकि मानव अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोगपूर्ण सम्बन्ध का रास्ता तैयार करता है। इसलिए ऐसी संभावनाएँ तब तक हैं जब तक आपसी सहभागिता बनी रहे, मेलजोल और तालमेल की भावना रहे, लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इक्कीसवीं सदी का परिवेश इस सिद्धांत में अनुकूल साबित नहीं हो रहा है। आवागमन का पूर्णत: एकपक्षीय माहौल बना हुआ है।

उल्लेखनीय है कि भूमंडलीकरण 21वीं सदी का महत्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक पक्ष है। ऐसा नहीं है कि भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण कोई चमकीले तारे सा अचानक प्रकट हो गया अथवा किसी वैश्विक आंदोलन का सहज परिणाम रहा है जिसको किसी काल विशेष में समाहित किया जा सके। इतिहास में इसका कोई ऐसा निश्चित समय भी पता नहीं है, जहाँ से हम इसके उद्‌भव का समय चिन्हित कर सके। इतना तो निश्चित है कि यह अवधारणा 20वीं सदी के मध्य तक पश्चिम में और अंतिम दशक तक पूरे विश्व में चर्चित हो चुका थी। इसको प्रभावी बनाने में शक्तिशाली विकसित देशों द्वारा एक सुनियोजित प्रक्रिया के तहत, एक चरणबद्ध योजना के द्वारा पूरे भूमंडल पर थोप दिया गया। विशेष ध्यान की बात यह है कि भूमंडलीकरण को परिभाषित करना एक व्यापक और जटिल परिघटना को शब्दों में समेटना है।

कृषि क्षेत्र की ओर सरकार की उदासीनता को तथ्यों के आधार पर भली-भांति जाँचा जा सकता है। किसान को उसकी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिल पाता, साथ ही प्राकृतिक आपदाएँ भी समय-समय पर पैदावार पर प्रभाव डालती हैं। भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में कृषि को वैश्विक पैमाने पर देखने की आवश्यकता है। आज न सिर्फ भारत के किसान बल्कि पूरे विश्व के किसान इस समस्या से जूझ रहे हैं। ''दुनिया के स्तर पर देखें कि 1995 में गेहूँ की अंतर्राष्ट्रीय कीमत 216 डॉलर थी जो 2007 में घटकर 133 डॉलर प्रति टन हो गई। कपास की कीमत 98 डॉलर से घटकर 49 डॉलर प्रति टन हो गई। भारत में 1998 में कपास की कीमत 1.400 से 1,800 के बीच गिर गई थी। इसी अवधि में सोयाबीन की कीमत 273 डॉलर से घटकर 178 डॉलर प्रति टन हो गई।''[1]

कृषि उत्पादों और किसानों की दयनीय स्थिति को यहाँ देखा जा सकता है जबकि वैश्विक बाजार में ईंधन के मूल्य और मांग निरंतर बढ़ रहे हैं। किसान कार्य के बोझ तले दबता जा रहा है। बैंक किसानों को ऋण मुहैया कराते हैं जिससे उनकी स्थिति में सुधार आए, लेकिन यही कर्ज किसान की

मौत का कारण बन रहा है। कभी बाढ़, कभी सूखा तो कभी कर्ज किसान की नियति बन गई है। इस समस्या से न केवल भारतीय किसान जूझ रहा है। बल्कि वैश्विक स्तर पर विभिन्न देश के किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर है। ''अब किसान लाखों की संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। एक नए कालखंड में दुनिया जा रही है। कनाडा में 1941 से 1996 के बीच किसानों की संख्या तीन-चौथाई कम हो गई। 1935 में अमरीका में 6.8 मिलियन किसान थे जबकि आज मात्र 1.9 मिलियन किसान हैं। अमरीका के कुल कैदियों से भी कम संख्या किसानों की है। सामान्य लोगों की तुलना में किसानों में आत्महत्या की दर तिगुनी है। ब्रिटेन में हर सप्ताह एक किसान आत्महत्या करता है गरीब देशों में तो हालत और खराब है। फ्रांस में कुल तुलना में किसानों में आत्महत्या की दर तिगुनी है। फ्रांस में कुल आबादी के चार प्रतिशत किसान हैं और वहाँ आत्महत्या करने वालों में सबसे ज्यादा किसान हैं।''[2]

यह आँकड़े एक संवेदनशील समाज को चौंका देने वाले हैं। आज विश्व की विचारशक्ति की धुरी भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पर आधारित है, मुक्त व्यापार, आर्थिक विकास जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे हैं लेकिन किसानों की समस्या पर विश्व स्तर पर कोई भी ठोस कदम या रोडमैप दिखलाई नहीं पड़ता। यह किसान की अपनी भूमि से विस्थापन का दौर है किंतु सरकारें मूक है, कई ग्रामीण इलाकों में तो सरकार स्वयं ही किसी न किसी बहाने किसानों की भूमि छीन रही है। इसके साथ ही कई बड़ी कम्पनियाँ नई पद्धति के अनुसार कृषि में भी ठेकेदारी को ला रही है। ऊपर वैश्विक पैमाने पर किसान आत्महत्या की स्थिति को देखा गया है। भारत में यह स्थितियाँ कहीं ज्यादा दयनीय है, प्रतिवर्ष हजारों किसान आत्महत्या करने के लिए विवश है। ''वर्ष 1998 से 2005 तक 9000 से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके थे। पंजाब जैसा समृद्ध राज्य भी आज किसानों की बदहाली का शिकार है। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में भी यह संख्या तेजी से बढ़ रही है। वर्ष 2002 में 49, 2002 में 105, 2003 में 143, 2004 में 441, 2005 में 429 और 2006 में सितम्बर तक यह आंकड़ा 900 तक पहुँच गया।''[3] वैश्वीकृत भारत में आधे से ज्यादा किसान किसी न किसी प्रकार के कर्ज के बोझ तले दबे हैं। किसान श्रमिक बनने के लिए विवश हैं, प्रेमचंद के किसान की भी यही चिंता थी।

'आखिरी छलांग' उपन्यास में लेखक किसान की मूलभूत समस्याओं को रेखांकित करते हैं। मूलभूत संसाधन गाँव तक आज भी नहीं पहुँच पाए हैं। वहाँ किसानी के लिए किसान को आज भी मानसून पर आश्रित रहना पड़ता है। ''दरअसल पिछली खरीफ की शुरुआत में तो बहुत अच्छी बरसात हुई थी। लगता था इस साल कहीं धान रखने की जगह नहीं बचेगी, लेकिन उत्तरा नक्षत्र ने धोखा दे दिया। झकझोर पुरवा बहने लगी। नीले आसमान में सफेद बगुलों की तरह बादलों के टुकड़े दिखते और गायब हो जाते। भीषण सूखे के सारे लक्षण प्रकट हो गये। राजधानी तक हल्ला मच गया। एक चौथाई फसल सूख गयी तो करीब दस दिन बाद नहर में पानी आया।''[4]

कृषि की परम्परागत समस्या को लेखक ने बेबाकी से उठाया है। गाँव की जमीन धीरे-धीरे नगर विकास के लिए मुहैया कराई जा रही है। एक ओर जहाँ किसान को उसकी भूमि से विस्थापित किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर विकास के नाम पर उसके साथ छलावा भी किया जा रहा है। धीरे-धीरे गाँव सिमटते जा रहे हैं। आज के औद्योगिक विकास की रफ्तार ने ग्रामीण क्षेत्रों तक को नहीं छोड़ा। अनेक मल्टीनेशनल कंपनियां ऐसे स्थानों पर अपना कब्जा जमाने की जुगत में लगे रहते हैं। लेकिन किसानों की मूल समस्याओं, उनकी आवश्यकताओं की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

'हलफनामे' उपन्यास का पात्र मकई भी इन्हीं संकटों का मारा है- ''खानदान में वह पहला है जिसने गाँव से बाहर, इस कस्बे में घर बसाया और खेती से अलग धंधा शुरू किया।''[5] जब खेती-बाड़ी में कुछ रहा ही नहीं तो कीन ये सब करे? मुनाफा तो दूर की बात है कभी-कभी मूल लागत भी निकालना मुश्किल हो जाता है। हमेशा कर्जे में डूबे रहना अब किसानों की आदत सी हो गई है। आसानी से लोन देने वाली कंपनियाँ घर-घर में किसान-उपकरण और खाद-बीज को देने की जुगत में लगे रहते हैं वो भी भारी ब्याज दर पर। 'रेहन पर रग्घू' में काशीनाथ सिंह ने भी किसानों की चर्चा की है- ''...कि इसी दरम्यान एक दिन नहर के रास्ते एक ट्रैक्टर धड़-धड़ करता हुआ आया और अहिरान में दशरथ राउत के दरवाजे पर खड़ा हो गया।''[6] गौरतलब है कि उदारीकृत व्यवस्था में किसानों की आर्थिक स्थिति दिन पर दिन बदतर ही हो रही है।

गाँव के किसानों के अधिकार में कोई ठोस कानून तक नहीं है, कानून भी उच्च पदों या उच्च वर्ग द्वारा अपनी सुविधानुसार ध्यान में रखकर बनाए गए हैं। यह इक्कीसवीं सदी का भारत है जहाँ कॉरपोरेट जगत के वर्चस्व को स्पष्ट देखा जा सकता

है। ''उनका कानून बनाने में आला दर्जे का दिमाग लगा है। वे लिमिटेड कम्पनी बनाते हैं। करोड़ों नहीं, अरबों का लोन लेते हैं। सब्सिडी लेते हैं। कम्पनी भले अरबों-खरबों की बकायेदार हो जाये लेकिन डायरेक्टर को आप इसके लिए नहीं पकड़ सकते। उनका कानून कहता है कि डायरेक्टर सिर्फ लाभांश का हकदार होता है। कम्पनी की देनदारी उसकी पर्सनल जिम्मेदारी नहीं है।''[7]

उद्योगपतियों द्वारा फैलाए जाल व व्यवस्था और प्रशासन को अपने इशारों पर घुमाने के प्रश्न को लेखक अपनी रचनाओं में उजागर करते हैं। यही बिजनेसमैन पहले किसान से उसकी भूमि कम पैसे पर लेते हैं फिर अरबों रुपए का कर्ज लेकर व्यवसाय या उद्योग स्थापित करते हैं और नुकसान होने पर ऋण माफ करवा कर बच भी जाते हैं।

निष्कर्ष : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यास लेखन का सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाए तो सबसे बड़ा तथ्य यह सामने आता है कि भूमंडलीकरण के इर्द-गिर्द ही लगभग सभी औपन्यासिक पक्ष फले-फूले हैं। इसकी प्रभावी चकाचौंध से कोई भी कथा साहित्य और कथाकार नहीं बच पाया। 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासकारों ने अपने वर्तमान की संवेदनाओं को सूक्ष्मता से परखा नहीं बल्कि भूमंडल की उन सभी अमानवीय पक्षों पर लेखनी चलाई है जो हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के तेज को निस्तेज करने का व्यूह रच रहे हैं। नई सदी के कथा साहित्य में इक्कीसवीं सदी के समकालीन परिवेश में किसान जीवन और किसान की उस चेतन का वर्णन है जिससे बदलते हुए समय को समझता है और उसकी चुनौतियों को स्वीकार भी करता है, कहीं अपने आप को कमजोर तथा अपने अस्तित्व को बचाने की मुहिम भी शुरू करने का प्रयास करता दिखाई देता है ।

शोधार्थी
राज ऋषि भर्तहरि मत्स्य विश्वविद्यालय
अलवर

सन्दर्भ सूची

1. उदारीकरण और विकास का सच, उर्मिलेश, अनामिका पब्लिशर्स, 2010, पृष्ठ 197
2. वही, पृ. 192-93
3. किस ऑफ डेब्ट, संडे टाइम्स, ऑफ इंडिया, अक्टूबर, 2006, पृ. 8
4. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, राजकमल प्रकाशन, 2008, पृ. 76
5. राजू शर्मा, हलफनामे, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2006, पृ. 7-8
6. वही, पृ. 7-8
7. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, राजकमल प्रकाशन, 2008, पृ. 84

प्रमोद यादव

समकालीन हिंदी दलित कविता में प्रतिरोध के स्वर

यह लेख समकालीन हिंदी दलित कविता में नकार और विद्रोह के विषयों की पड़ताल करता है। यह कविता, भारतीय समाज में दलितों के लंबे समय से चले आ रहे उत्पीड़न और हाशिए पर होने को दर्शाती है। यह लेख इस बात की भी जांच करता है कि कैसे व्यवस्थित ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने दलितों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से दबाया है।

दलित साहित्य, जिसमें दलित कविता भी शामिल है, दलितों की पहचान, मानवाधिकार और मानवीय गरिमा की अभिव्यक्ति है। यह एक सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन का हिस्सा है जो दलितों के उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाता है।

यह लेख बताता है कि कैसे दलित कविता, दलितों के प्रतिरोध, आंदोलन और संघर्ष को मुक्ति के मार्ग के रूप में प्रस्तुत करती है।

दलित साहित्य, दलितों की स्थितियों, सीमाओं और संभावनाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित करता है।

मुख्य बिंदु : उत्पीड़न और हाशिए पर होना : भारतीय समाज में दलितों को सदियों से उत्पीड़न और हाशिए पर रखा गया है।

नकार और विद्रोह : दलित कविता, दलितों के उत्पीड़न के खिलाफ नकार और विद्रोह की भावना को व्यक्त करती है।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था : यह लेख, ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा दलितों पर किए गए अत्याचारों की पड़ताल करता है।

दलित साहित्य का महत्व : दलित साहित्य, दलितों की पहचान, मानवाधिकार और मानवीय गरिमा की अभिव्यक्ति है।

मुक्ति का मार्ग : दलित कविता, दलितों के प्रतिरोध, आंदोलन और संघर्ष को मुक्ति के मार्ग के रूप में प्रस्तुत करती है।

यह आंदोलन ब्राह्मणवाद के खिलाफ एक क्रांतिकारी आवाज और सशक्तिकरण के लिए एक उपकरण के रूप में रेखांकित करता है, जो जाति और वर्ग असमानताओं से मुक्त समाज की कल्पना करता है। यह दलित कवियों की विकसित चेतना को उजागर करता है जो दमनकारी मानदंडों को चुनौती देते हैं और अपने शब्दों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन को प्रेरित करते हैं।

भूमिका :

भारत विश्व के पुरानी सभ्यताओं में से एक और सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक राष्ट्र हैं। फिर भी भारतीय समाज में दलित युगों से शोषित और पीड़ित हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के सत्तर साल बाद भी भारतीय समाज में जातिवादी मानसिकता गहरायी से जमी हुई हैं। आधुनिक सभ्य समाज में भी दलित समाज के ज्यादातर लोग अशिक्षित और अविकसित जीवन जी रहे हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त ब्राह्मणवादी मानसिकता के कारण ही दलित समाज की उपेक्षा हो रही है। मानव होते हुए भी उन्हें जानवर से बदतर माना गया। सामाजिक के साथ-साथ धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक स्तर में भी दलित हाशियेकृत होते रहे। सालों से भारत के शोषित दलितों ने अपने मानवीय अधिकार प्राप्त करने के लिए शोषण पर आधारित व्यवस्था का विरोध किया। आधुनिक काल के जोतिबा फूले से लेकर अंबेडकर तक के नेताओं ने शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष किया। इन नेताओं ने अशिक्षित दलितों को

शिक्षित करने और बिखरे हुए दलितों को एकत्रित करने और संगठित करके संघर्ष और विद्रोह के पथ पर लाने का कार्य किया। प्रचलित व्यवस्था के प्रति दलितों का तीखा विद्रोह दलित कविता के माध्यम से चिन्हित हुआ है।

दलित कविता वर्तमान समय में हिंदी साहित्य का एक सशक्त और विद्रोही स्वर है, जो समाज के हाशिए पर खड़े दलितों की पीड़ा, संघर्ष और अस्मिता को व्यक्त करती है। यह कविता केवल साहित्यिक रचना न होकर सामाजिक परिवर्तन और अधिकारों की मांग का एक सशक्त माध्यम बन चुकी है। दलित साहित्य आन्दोलन से पूर्व भी हिंदी में दलित विषयक कविता लिखी जाती रही। बिना किसी आन्दोलन की प्रेरणा से लिखी गई ये कविताएँ भी दलित चेतना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। दलित विषयक कविता के इस लंबी परंपरा में पहले उससे विद्रोह दलित कविता का मुख्य लक्ष्य है। यह नकार और विद्रोह समाज के सवर्णों की धार्मिक मान्यता के प्रति और भी व्यापक हैं। क्योंकि हिन्दू धर्म की धार्मिक कट्टरता ने ही बहुसंख्यक जातियों को गुलाम बनाकर उनसे आजीवन श्रम और सेवा लेने की सुविधा प्रदान की। दलित कविता का नकार उस कर्मविपाक सिद्धांत का है। जिसने मनुष्य कर्तृत्व के समस्त सूत्र अपने हाथ में लेकर अपनी लीला में सबको मनमाना जोत लिया है यानि ईश्वर के प्रति-

''हाँ-हों में नकारता हूँ/ ईश्वर के अस्तित्व को संसार के मूल में उसके कृतित्व को / विकास-प्रक्रिया में उसके स्वत्व को प्रकृति के संचरण-नियम में उसके वर्चस्व को क्योंकि ईश्वर एक मिथ्या विश्वास है
एक आकर्षक कल्पना है /
अर्द्धविकसित अथवा कलुषित मस्तिष्क की।''

ईश्वर को अर्द्धविकसित और कलुषित मस्तिष्क की उपज मानकर दलित कवि उसके अस्तित्व, संसार के मूल में उसके कृतित्व को नकारता है। अभी तक ब्राह्मणवादी अपने नियमों को ईश्वरकृत बतलाकर दलितों का शोषण कर रहा था। ईश्वर को मात्र कल्पना, वह भी अल्पविकसित और असंतुलित मस्तिष्क की, मानने से ब्राह्मण की साजिश का पोल खोलता है। प्रमुख कवि जयप्रकाश कर्दम के अनुसार-

''ईश्वर! तेरे सत्य और शक्ति को / मैं अब जान गया हूँ
तेरे दलालों की कुटिलता
और कमीनेपन को भी पहचान गया हूँ
शुक्र है तू कहीं नहीं है
केवल धर्म के धंधे का एक ट्रेड-नेम है
अगर सचमुच तू कहीं होता तो
सदियों की अपनी यातना का हिसाब
मैं तुझसे जरूर चुकाता।''

दलितों के शोषण के लिए प्रयुक्त ब्राह्मण देवताओं के प्रति कवि अपनी कटु प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वह अपने तीखे शब्दों में शोषण की आधार शिला को ही ध्वस्त करना चाहता है।

दलित जनता को कवि इस सत्य से परिचित कराना चाहता है कि ईश्वर दलालों यानी ब्राह्मणवादियों की कुटिलता और कमीनेपन की सृष्टि मात्र है। धर्म के नाम पर धंधा करने वालों का एक ट्रेड-नेम मात्र है ईश्वर। इसलिए दलित कवि इसे अवैज्ञानिक सोच बताता हैं, जो मनुष्य को बरता की हद तक पहुँचा देती रही है। मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में-

''ईश्वर की मौत उस पल होती है।
जब मेरे भीतर उठता है सवाल
ईश्वर का जन्म किस मां की कोख से हुआ
ईश्वर का बाप कौन?''

कवि ने इस कविता जरिए ईश्वर का तार्किक एवं वैज्ञानिक खंडन किया है। यह एक विचारवान मनुष्य की बौद्धिक सोच ही है।

धर्मग्रंथों से नकार और विद्रोह

अस्पृश्यता और जातिभेद को बनाये रखने में हिन्दू धर्मशास्त्रों का बहुत बड़ा हाथ है।

ऋग्वेद एवं स्मृति की प्रामाणिकता का विरोध करते हुए कवि इसे कूड़ा करकट मानते हैं और इस कूड़ा करकट ने दलित शोषितों को गुलाम बना लिया है इसलिए कवि का विद्रोह है-

''यह ढोंग अब / ज्यादा नहीं चलेगा
वेद स्मृतियों का यह कूड़ा करकट/अब धू-धू जलेगा।''

धर्मग्रंथों को कूड़ा करकट मानकर उसे जलाने की प्रेरणा कवि को डॉ. अंबेडकर से मिली है। उन्होंने सन् 1927 ई. में महाड सत्याग्रह में 'मनुस्मृति' सार्वजनिक रूप से जलाकर दलित आन्दोलन को नए तेवर दिए जयप्रकाश कर्दम इससे प्रेरित होकर कहते हैं-

''समाज को प्रगतिशील बनाना है। जाति के जहर को पिटाना है तो इन तथाकथित धर्मग्रंथों को / आग लगानी होगी नकारना होगा / वर्णित उस ईश्वर को जो कर्मानुसार / फल

देता है और मोक्ष भी वर्णों के अनुसार / जगानी होगी शुद्ध प्रज्ञा
ध्वस्त करने होंगे विषमताओं के संरक्षण।''

विषमताओं से ग्रस्त समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए, ईश्वर के अस्तित्व को कारकर शुद्ध प्रज्ञा के लिए इन धर्मग्रंथों को जलाने का आह्वान कवि देता है। क्योंकि कहने के लिए तो वर्ण-व्यवस्था अप्रासंगिक हो चुकी हैं, लेकिन जब तक वर्ण-शुचिता रहेगी, जातिवाद रहेगा तब तक समाज में विघटन और विद्वेष रहेगा। इस लिए दलित कवि इन ग्रंथों को आग लगाने की बाते करते हैं। धर्मग्रंथों को जलाने की बात करने वाला दलित कवि इन्हें झूठा कहकर ज्ञान की नई खोज में अंबेडकर, फूले, कबीर आदि को पढ़ने की सलाह देता है-

''वेदों में लिखा सब झूठा है / मेरे लोग जब जान जायेंगे अंबेडकर, फूले, कबीर को पढ़कर / ज्ञान की नई परंपरा बनायेंगे देर नहीं, अब उगते हुए सूरज को / हम मुट्ठी में थाम लायेंगे हम थोड़े नहीं बहुत ज्यादा हैं। एक दिन इकट्ठा हो जायेंगे हम मिट्टी के जरें हैं एक दिन चमन पर छायेंगे।''

ज्ञान की झूठी परंपरा को ध्वस्त करने के बाद, दलित कवि अंबेडकर, फूले और कबीर को ज्ञान की नयी परंपरा घोषित करते हुए, उन लोगों को पढ़कर, ज्ञान प्राप्त कर संगठित और संघर्षरत होने का ऐलान करता है।

दलित कविता ईश्वर का अस्तित्व, शास्त्रीय पाखंड, धर्मग्रंथ आदि पर जोरदार हमला कर रही है। बंद की नींव पर खड़ा किया गया वर्णवादी महल जगह-जगह पर दरक गया है, उस पर दलित द्वारा इतनी चोट की जा रही है कि अब उसे कोई भी बचा नहीं पायेगी। क्योंकि इसके बचे रहने से ही अब तक करोड़ों लोगों को अमानुषिक यातना और त्रासद जीवन जीने को मजबूर होना पड़ा है। इसके नाश में ही मानव कल्याण है।

रूढ़ परंपराओं से नकार और विद्रोह

दलित वर्ग के शोषण में रूढ़ परंपराओं की बहुत बड़ी अहम् भूमिका है। इन रूढ़ परंपराओं के आधार पर भाग्य और भगवान का भय दिखाकर दलित वर्ग का शोषण होता रहा। इसी लिए दलित इस भगवान, भाग्य, स्वर्ग, नरक आदि संकल्पनाओं का तिरस्कार करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'जाति' शीर्षक कविता में भाग्यवाद का विरोध कुछ इस प्रकार करते हैं-

''स्वीकार्य नहीं मुझे / जाना मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में वहाँ भी तुम पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही।''

जाति के निराकरण के माध्यम से कवि सवर्णों के अधिकार पर प्रहार करते हैं, क्योंकि यह सवर्णों द्वारा संचालित साजिश मात्र है। इसको पहचानकर ही कवि इसका विरोध करते हैं।

सामाजिक रूढ़ियाँ सामाजिक संरचना के ताने बाने में बहुत अखरती हैं। ये रूढ़ियों फासले पैदा करती हैं। ऊँच-नीच का भाव पैदा करती हैं, इस लिए दलित कविता ने इन रूढ़ परंपराओं को समाप्त करने का संकल्प लिया है। रूढ़ परंपराओं और धार्मिक मान्यताओं के नाम पर दलितों का किस प्रकार शोषण किया गया है इसका उदाहरण है-

''कुछ धूर्तों ने भ्रम फैलाकर / धर्म का स्वांग रचाकर पिछले जन्म के दुष्कर्मफल का,/ पाप का, शाप का भय दिखलाकर किया है हजारों सालों से सीधे सरल-भोले मानव का दोहन अनपढ़ असमर्थ-बेबसों का शोषण...''

सवर्ण हजारों वर्षों से, सरल दलित मानव को धर्म का भ्रम फैलाकर शोषण करते आ रहे हैं। कवि नाथूराम सागर ने इस कविता के माध्यम से शोषण को कायम रखने वाली अध्यात्मभाषा का कुहरा नष्ट करने का प्रयास किया है। ब्राह्मणवादी परंपरा के तहत दलितों को अनपढ़ बनाये रखने की व्यवस्था थी। क्योंकि वे असमर्थ बने रहे और धर्म और ईश्वर का भय दिखलाकर उनका दोहन जारी रखें। फिर भी कर्वि जाति-विहीन व्यवस्था की परिकल्पना करते हैं और 'मनुस्मृति' की रूढ़ व्यबस्था को विस्तृत कर देना चाहते हैं-

''विस्मृत हो मन से मनुस्मृति,/ सामाजिक आजादी आए। फिर जाति-विहीन व्यवस्था का निश्वर समाज हो भारत में।''

वर्णों, संकुचित भेदों पर आधारित समाज व्यवस्था को विस्मृत करने वाले कवि यह मान लेते हैं कि भेद-भावों को यूँ ही कपड़े बदलने की तरह उतारा नहीं जा सकता। इसलिए दलित कवि डॉ. पुरुषोतम सत्यप्रेमी उसे जान पर खेल कर हासिल करना चाहते हैं-

''सदियों के मोह-राग-विराग / और भाग्य भगवान की धारणा पुराने कपड़ों की तरह तो / उतारे नहीं जा सकते
ये वे नश्तर हैं / जो जान पर डोलकर/ जीए जाते हैं।''

कवि इस यथार्थ से परिचित हैं कि सदियों से प्रचलित रूढ़ियों से कुछ ही दिनों में मुक्ति संभव नहीं है और वह आसान काम भी नहीं है। उसे जान पर खेलकर ही हासिल किया जाता है।

दलित कविता समता को प्रदर्शित करने वाले तमाम आडंबरों पर चोट करती है। आखिर समता का भाव प्रदर्शित

करने की वस्तु है क्या? यह भाव हृदय में होता है, इसकी तमाशा दिखाकर समता के पक्ष में खोखले तर्क एकत्रित करने को कवि ढोंग मानते हैं-

'जूठन खाने का यह कैसा तिलस्म हो गये राम शबरी की झूठन खाकर / और हम पले जूठन पर ही आजन्म / मगर हम अछूत हो गए।''

यहाँ वर्णवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सवर्ण द्वारा रचित पौराणिक कथाओं की साजिश को कवि ने व्यक्त किया है। दलितों के लिए दोहरे मानदण्ड क्यों? कवि ज्ञान की आंधी से रूढ़ियों के सख्त हो चुके वृक्षों को गिरा देना चाहते हैं-

''हम भरते रहे डग/ शोषण की इन अंधहीन खायीयों में
दोहरे मानवण्डों के सख्त हो चुके इन दरख्तों को
हमने नवीन ज्ञान के झकोरों
झकझोरा है, हिलाया है, डुला है।''

धर्माचारों पर केन्द्रित ब्राह्मणवादी ताकतवर व्यवस्था को ध्वस्त करने का स्वप्न दलित कवि रखते हैं। शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से ही दलित इस कार्य में सक्षम हो सकते हैं। इसलिए दलित कवि अपने कविताओं के माध्यम से सोच को अवरुद्ध या कुंद करने वाली रूपों को तहस नहस कर देना चाहते हैं। रूढ़ियों को अलग हटाकर प्रत्येक रूढ़ि को यथार्थ और सत्य की कसौटी पर कसकर देखने का आह्वान दलित करते हैं। दलित कविता मनुष्यता का विरोध करने वाली हर प्रथा को तोड़ने का प्रस्ताव रखती है-

''लाजमी है कि थूकें / उस प्रथा पर / करती हो जो, मनुष्यता का विरोध / जो तोड़ती हो मनुष्यता के रिश्ते को।''

सवर्णवादी प्रथाओं को दलित कवि मानवता अरोधी घोषित करते हैं। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ता मानव प्रेम पर आधारित है। जबकि मनुष्य को विभाजित करने वाली रूढ़िग्रस्त जाति-व्यस्था में प्रेम के स्थान पर घृणा है। मनुष्य का शोषण करनेवाली धार्मिक रुढ़ियों के प्रति दलित कविता के विद्रोहात्मक तेवर को कालीचरण 'स्नेही' इस प्रकार व्यक्त करते हैं- 'मनुष्य का सर्वांगीन शोषण करने वाले धर्म के ढोंगी रूपों पर बिजली की तरह दलित कविता टूट पड़ती है। पुरोहितवाद, धार्मिक कर्मकांड, मठमहंत, देवालय, व्रत-सब कुछ के प्रति जो पाप-पुण्य की कल्पनाओं के सहारे मनुष्य की भोली श्रद्धाओं की पुष्टि करता है और शोषण व्यवस्था और यथास्थिति के अबाध रास्ते खोल देता है। दलित साहित्यकार गर्जना के स्वर में विद्रोह करते हैं।'

दलित कवि दलित समाज को गुलामी की गिरफ्त में रखने वाली अभिजात व्यवस्था तथा उसकी रूढ़ परंपराओं के खिलाफ निरंतर संघर्षरत दिखाई देते हैं। वे आक्रामक तेवर से इस कार्य में सक्रिय दिखाई देते हैं। भेदभाव की पीड़ा से मुक्त होकर मानवीयता केन्द्रित एक समाज की स्थापना के लिए समकालीन कवि प्रकटन शील दिखाई देते हैं।

सामाजिक असमानता के प्रति नकार और विद्रोह

आधुनिक भारत में लोकतांत्रिक विचारों, मूल्यों और समानता के अधिकारों के बावजूद भी जातिवाद यानी ब्राह्मणवाद समाज का अपरिहार्य अंग बना हुआ है। प्रगतिशील और जनवादी विचारों के समर्थन के बावजूद भी लोगों का जातिवादी संस्कार खत्म नहीं हुआ है। इसी कारण समाज में असमानता अब भी जारी है। दलित कविता ऐसी सामाजिक असमानता का खण्डन करती है। जयप्रकाश कर्दम की 'किले' नामक कविता में सामाजिक असमानता का विरोध है-

''फडने लगी है मेरी भुजाएं
फावडा कुल्हाड़ी और हथौड़ा पकड़े
मेरा हाथ
काट फेंकने को
उन हाथों की जिन्होंने
बरसाए हैं अनगिनत कोड़े
मेरी नंगी पीठ पर / छीना है मेरे मुंह का ग्रास।''

निरंतर अत्याचार, अन्याय, पीड़ा, दमन और आक्रमण को सहते-सहते दलित मन भी प्रतिशोध के लिए तैयार हो जाता है। हिंसक दमन का प्रतिरोध हिंसा से करने में दलित को रोष दिखता नहीं।

कवि का यह विरोध इसलिए है कि व्यवस्था रूपी किला जो है वह दलित के बदौलत खड़ा है लेकिन इस किले पर राज करने वाला सवर्ण ही है। इसलिए दलित कवि इस किले को देखकर रोष प्रकट करता है-

''मेरे श्रम और शोषण से फले-फूले है मेरी हिंसा और अपमान पर खड़े हैं, असमानता और अन्याय के ये किले।''

इस सामाजिक असमानता के पीछे धर्म और जाति-व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ है।

'अलगाव की चोट' कविता में डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी सामाजिक बंधनों का खुलकर खण्डन करते हैं-

''तुम्हारी इसी सत्ता-व्यवस्था ने / सार्वजनिक कुओं-

तालाबों से पानी लेने सड़कों पर चलने / अपनी पसंद के कपड़े और जेवर पहिने खाना खाने / स्कूलों में पढ़ने / गांव-बस्ती में घर बनाकर रहने का अधिकार छीनकर / इसको छुओ मत, इसके साथ खाओ मत और इसके साथ विवाह मत करो की वर्जनाओं-प्रतिबंधों की काल-कोठरी में कैद किया और अस्पृश्य बना दिया मुझे भारत के इतिहास का यह सच सामाजिक स्तर की सत्ता का सच बना हुआ आज भी / आजादी के दशकों बाद

इसीलिए तो/तुम्हारा अलगाव चोट करता रहता है
बरसाए हैं अनगिनत कोड़े
मेरी नंगी पीठ पर / छीना है मेरे मुंह का ग्रास।''

निरंतर अत्याचार, अन्याय, पीड़ा, दमन और आक्रमण को सहते-सहते दलित मन भी प्रतिशोध के लिए तैयार हो जाता है। हिंसक दमन का प्रतिरोध हिंसा से करने में दलित को रोष दिखता नहीं।

कवि का यह विरोध इसलिए है कि व्यवस्था रूपी किला जो है वह दलित के बदौलत खड़ा है लेकिन इस किले पर राज करने वाला सवर्ण ही है। इसलिए दलित कवि इस किले को देखकर रोष प्रकट करता है-

''मेरे श्रम और शोषण से फले फूले है मेरी हिंसा और अपमान पर खड़े हैं, असमानता और अन्याय के ये किले।''

सवर्णों ने दलितों के मानवाधिकारों का हनन किस तरह किया है इसका चित्र कवि ने उकेरा है। पानी पीने, सड़कों पर चलने, अपने पसंद के कपड़े पहनने, खाना खाने, पढ़ने, घर बनाने के जैसे अधिकारों से दलितों को वंचित रखा है। वर्जनाओं के इस काल-कोठरी में उन्हें अस्पृश्य बनाकर कैद कर रखा गया है। पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने अपनी कविता में दलितों की पीड़ाओं का इतिहास ही प्रस्तुत किया है। एक जन-समाज से जाति के आधार पर अस्पृश्य बना देने की साजिश उद्‌घाटित की गयी है। हिन्दू धर्म और जाति आधारित सामाजिक व्यवस्था ने ही दलितों के सदियों से सुविधाओं एवं अधिकारों से वंचित रखा है। सभी प्रकार के इस वंचितपन में से सामाजिक बेइज्जती दलितों को ज्यादा टीस पहुँचाती हैं-

''चिडिया भूखी थी/ इसलिए गुनहगार थी मारी गयी थी / यह चिड़िया / जो भूखी थी गोरख पांडेय ने गलत लिखा था / वह चिड़िया भूख से नहीं चिड़िया होने से पीड़ित थी / वह चिड़िया थी

इसलिए गुनहगार थी / गरीबी नहीं सामाजिक बेइज्जती अखरती है।''

कवि ने यहाँ भूख से ज्यादा इज्जत की महत्ता को स्थान दिया है। 'चिड़िया जो मारी गई' कंवल भारती की एक विशिष्ट कविता है, जिसमें गोरख पांडेय एक व्यक्ति नहीं, विचार की तरह आती है जनवादी चेतना और दलित चेतना के बीच की सीमा रेखा को यह कविता पारिभाषित कर देती है। कविता में अहम् मुद्दा गरीबी नहीं, सामाजिक बेइज्जती है। आज का दलित यही सोचता रहता है कि उसको अपनी गरीबी की इतनी तकलीफ नहीं है जितनी कि सामाजिक अपमान की। एक सामाजिक जीव के रूप में मनुष्य समाज में मान-प्रतिष्ठा के साथ जीना चाहता है। आर्थिक हैसियत जो भी हो मनुष्य इज्जत को प्राप्त करना चाहता है। एक गरीब आदमी भी सामाजिक प्रतिष्ठा से गर्वित हो जाता है किन्तु वर्णवादी व्यवस्था में दलित लोग मान-प्रतिष्ठा से वंचित है। इस पीड़ा को कवि ने जोरदार ढंग से अभिव्यक्त किया है। मनोज सोनकर ने भी सम्मान की बात को ही अपनी कविता में उठाया है-

''रोटी, कपड़ा, मकान की बात तो दूर....
तुम हमें मनुष्य जन्म की अन्यतम अभिलाषा
'सम्मान' तक नहीं देते... हम मनुष्य हैं
और मनुष्य के रूप में अपनी पहचान कराना चाहता है
जो हमें मनुष्य के रूप में नहीं पहचानेगा
उसका हर घेरा हम तोड़ देंगे।
खून हमारी रगों में भी बहता है।
लाल खून बहता है। सुर्ख खून बहता है।''

सब मनुष्यों की बुनियादी जरूरतें एक हैं-रोटी, कपड़ा, और मकान। दलित इससे वंचित है साथ ही मनुष्य सहज सम्मान की अभिलाषा से भी वंचित है। वह इस उपेक्षा और धोखे से समझौता करने के लिए तैयार नहीं है। अभी तक सब कुछ सहने वाले दलित में अब विद्रोह की भावना प्रज्वलित होने लगी है। यानि वर्ण-व्यवस्था के घेराव को दलित तोड़ना चाहते हैं। क्योंकि उसके रगों में भी लाल खून ही बहता है। यहाँ दलित कवि सवर्णों को चेतावनी देते हैं।

दलित आन्दोलन से प्रभावित होकर दलित लोग धर्मांतरण करते थे तब सवर्णवादी उनके विरुद्ध चिल्लाता है। लेकिन उसका धर्मांतरण आदमियत की तलाश में हैं। दलित सारी धार्मिक रूढ़ियों को और वर्ण-व्यवस्था के लबादे को उतारकर दूर फेंकना चाहते हैं, ऐसा कुछ भी वह अपने ऊपर नहीं थोपना चाहता है जो उसे बाँधने की कोशिश करते हैं। मनुष्य को

विभिन्न खेमे में विभाजित करनेवाले जाति-धर्म का कवि तिरस्कार करते हैं। धर्म शोषण का आधार है। इसलिए धर्मातीत होकर 'मनुष्य' बनकर सामाजिक जीवन बिताने के पक्ष में है दलित कवि। मानवीयता का स्वर विद्रोह का स्वर बनकर दलित कविताओं में मुखरित है। मनुष्य की एकता के लिए अब कवि स्वयं कलम उठा रहे हैं-

''मैंने अब उठा ली है कलम झाड़ू के बदले करेंगे साफ तुम्हारी सारी गन्दगी बचाएँगे हम देश की टूटती एकता को।''

सतत संघर्ष से ही सामाजिक एवं पारिवारिक अस्वतंत्रता से नारी की मुक्ति संभव हो जाती है। दलित नारी चौतरफा शोषण की शिकार है। आर्थिक एवं शारीरिक शोषण से दमित दलित नारी का जीवन त्रासद स्थितियों से जूझ रहा है। किन्तु वर्तमान समय वह सर्वसह बनकर रहने के लिए तैयार नहीं होती। वह शोषक सामाजिक व्यवस्था को तोड़ना चाहती है। इस कार्य के लिए नारी में वह संघर्ष चेतना भरने की कोशिश कर रही है। आधुनिक दलित कविता में नारी का व्यवस्था विरोधी स्वर मुखरित है।

नकार और विद्रोह की भाषा

जब दलित चेतना भाषा का बाँध तोड़कर उठ खड़ी होती है तो शब्द नया अर्थ ग्रहण करता है। हजारों सालों से हमारे देश के दलित समाज चेतना-विहीन, संवेदन-शून्य बना दिया गया था। लेकिन जोतिबा फूले और डॉ. अंबेडकर ने उन्हें यह अहसास कराया कि वे भी मनुष्य हैं। महाराष्ट्र प्रारम्भित चिंगारी आज पूरे देश में ठंडे-सुस्ते दिमागों को जिन्दा कर रही है। दलित आन्दोलनों ने दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इसी वजह ने दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इसी वजह से दलितों की पीड़ा, आक्रोश और परिवर्तन की चाह एवं संकल्प यथार्थ की पृष्ठभूमि में मुखर हो उठा। दलितों ने अपने शब्दों की माध्यम से दलित अस्मिता का बोध कविता में प्रकट किया है-

''आज मेरे पास / अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है
बोलने को शब्द हैं / सुनने को कान भी / हथेली में
पहले थी / श्रम की रेखाएँ / आज भी हैं
लेकिन / अब मेरे हाथ में / कलम है
डण्डा है / झण्डा है / अनगिनत नारे हैं
जिन्हें पहले / जुबान पर नहीं ला सकता था
अब खुला आकाश में
उछाल सकता हूँ।''

हजारों सालो से दलित शिक्षा, साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि से वंचित रखा गया था। दलित आन्दोलनों ने दलितों में चेतना पैदा की जिससे उन्होंने भाषा के बंधनों को तोड़कर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पा लिया। अब उनके पास शब्द है और सुनने को कान भी है। पहले उन लोगों की हथेली में श्रम की रेखाएँ थीं जो उन्होंने दूसरों के लिए कड़ी मेहनत करने का नतीजा था, लेकिन अब दलितों के हाथ में कलम, डण्डा, झण्डा है और जबान पर वो अनगिनत नारे हैं जिन्हें पहले यह नहीं उठा सकता था। इसलिए इन साहित्यिक और गैर साहित्यिक दलित आन्दोलनों ने उन्हें खुला आकाश और सशक्त भाषा दी जिससे वह पुराने अर्थों को बदल सके और उनके शब्द अब अस्त्र के रूप में खड़े हुए हैं-

''सक्षम है हमारे शब्द / शब्दों से अलग करने के षड्यंत्र सुनने पर / वेदमंत्र सुनने पर / पिघले हुए सीसे उंडेला जाना कानों में / हम दूर-दूर रह सके शब्दों से उनकी ध्वनियों से गूँगा बने रहें। अपने दुख-दर्द की अभिव्यक्ति भी नहीं कर पाएं।''

अब दलितों का शब्द सक्षम है, और वे जानते भी हैं कि उन्हें सदियों से शब्दों से अलग रखना एक प्रकार का षड्यंत्र ही है। इस षड्यंत्र के तहत हिन्दुवादी व्यवस्था में वेदमंत्र सुनने पर दलितों के कानों में पिघलते सीसे उंडेल दी जाती थी। ज्ञान और शास्त्र से दलितों को दूर रखने और अपने दु:ख दर्द की अभिव्यक्ति से वंचित रखने का साजिश है। 'मुक्ति आन्दोलन ने जहाँ साहित्य को ऊर्जा दी, भोगे हुए सत्य ने उसे वस्तु ही नहीं भाषा और शैली भी दी। रोजमर्रा के शब्द नया अर्थ ले चमक उठे, तलवार की धार-से तीक्ष्ण वार को तत्पर।' इसीलिए ही दलित अब अपने अभिव्यक्ति में नए अर्थ, बिंब, प्रतीक और मिथक गढ़ते हैं।

दलित कविता की भाषा जन-सामान्य की भाषा है। सवर्ण साहित्य की रंगीन कल्पनाओं को व्यक्त करने वाली कोमल कान्त पदावली से अलग दलित कविता की भाषा यथार्थ की तप्ती, झुलसती, कंटीली, पथरीली धरती की भाषा है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार-रचनाकार को सृजन के पूर्व और बाद, दोनों ही स्थितियों में भाषा का प्रयोग करना है। पहला रूप वह मुख्यत: समाज से ग्रहण करता है, और दूसरे रूप में वह अपने व्यक्तित्व को भी मिश्रित कर देता है, पर उसी हद तक कि उसकी भाषा उसके समाज के लिए प्रेषणीयता बनाए रख सके। दलित कविता में भी प्रेषणीयता को अधिक

महत्व दिया गया है।

उपसंहार

दलित कविता का प्रमुख लक्ष्य ही समाज में जो पददलित और अस्पृश्य है उनकी व्यथा, वेदना, यातना, और जीवनानुभवों को वाणी देना और सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना है। परंपरावादी ब्राह्मण संस्कृति, सामाजिक रूढ़ियों, असमानता, धर्म-जातिगत भेदभाव, वर्ण-व्यवस्था आदि से विद्रोह दलित कविता का केन्द्र विषय है। दलित धार्मिक सत्ता के वर्चस्व को खत्म करने के लिए अंधश्रद्धा, शब्द, प्रामाण्य, आत्मा, ईश्वर, ग्रंथ प्रामाण्य आधारित समस्त नैतिकता एवं धर्म को अस्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, ब्राह्मणवादी क्रियाकांड, परंपरागत रूढ़ि आदि को नकारते हैं और इसे नई परिवर्तनशील दृष्टि से देखते हैं। समाज में अस्पृश्यता या छुआछूत बनाये रखने में ब्राह्मणवादी संस्कृति और धर्म एवं शास्त्र ग्रंथों का बहुत बड़ा स्थान है। इसीलिए दलित कविता हिन्दुओं के धर्मग्रंथों को आग लगाकर अपने विद्रोह को प्रतिशोध के स्तर तक पहुँचाती है। सदियों से सुप्त ज्वालामुखी जब फूटती है तो उसमें आग की जैसी तप्ती लावा ही होगी तो उस लावा में उन समस्त व्यवस्था को नष्ट करने की शक्ति है।

दलित कविता की प्राथमिकता वर्ण आधारित जाति का उन्मूलन है। दलित कविता संघर्षशील दलित वर्ग के जीवन के अपमान, अन्याय और अत्याचार को अभिव्यक्त करने में सफल हुई है। शास्त्र निर्माता भारतीय उच्च वर्ण के स्वार्थों के पोषक रहे। इसीलिए दलित कविता में वर्णाधारित इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टि है, वह उस समस्त इतिहास को नष्ट कर देना चाहती है। दलित कवियों का नकार और विद्रोह मात्र नकार और विद्रोह के लिए नहीं, बल्कि समानता और स्वतंत्रता जैसे मूल्यों की स्थापना के लिए है।

दलित कविता नारी शोषण के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करके उसे शिक्षित होकर अपने अस्तित्व की अहसास कराना चाहती है। स्वाभिमान और सम्मान की खोज करना दलित कविता की मुहिम होने के कारण ही आर्थिक शोषण के प्रति उसके विद्रोह में उतना तीखापन नहीं है जितना वर्ण या जाति व्यवस्था के प्रति।

दलित कविता की भाषा में उसके आक्रोश और प्रतिशोध को व्यक्त करने की क्षमता रहती है। वह पौराणिक मिथकों, प्रतीकों एवं बिंबों का पुनर्गठन कर सवर्णों द्वारा गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट करती है। संक्षेप में कहें तो समकालीन दलित कविता में दलित वर्ग के आक्रोश, विद्रोह और उत्तेजना की प्रधानता है और दलित कविता में नकार और विद्रोह के प्रखर स्वर मुखरित हैं। समकालीन दलित कविता केवल विरोध और विद्रोह की कविता नहीं है; यह एक नई सामाजिक संरचना की खोज और समानता के सपने का साहित्य है। यह कविता न केवल दलित समाज की पीड़ा को व्यक्त करती है, बल्कि उनके संघर्ष, उम्मीदों और आत्मनिर्भरता की कहानी भी सुनाती है। इस कविता का भविष्य उज्ज्वल है और यह समाज में बदलाव लाने के लिए साहित्यिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

सहायक प्राध्यापक (हिंदी विभाग)
बी.एन.एम. कॉलेज बड़हिया
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर, बिहार

सन्दर्भ ग्रन्थ

- शरण कुमार लिंबालं. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकारान, दिल्ली (2000), पृ. 39-40
- एन. आर. सागर, दलित चेतना कविता, से. रमणिका गुप्ता, नवलेखन प्रकाशन बिहार (1996), पृ. 14
- जयप्रकाश कर्दम, गूंगा नहीं था मैं, सागर प्रकाशन, दिल्ली (1995), पृ. 36
- मोहनदास नैमिशराय, दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद (2006), पृ. 107
- ईश कुमार गंगानिया, हार नहीं मानूँगा, पु. सूरज प्रकाशन, दिल्ली, (2007), पृ.16
- दिलीप कटेरिया, भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, सं. विमल धोरात, रावत पुब्लिकेशन्नस, नई दिल्ली, (2008), पृ. 46
- ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्सा बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली (1997), पृ. 78
- नाथूराम सागर, आजाद हैं हम, संगीता प्रकाशन दिल्ली (1996), पृ. 27
- लक्ष्मीनारायण सुधाकर, उत्पीडनी यात्रा, सागर प्रकाशन दिल्ली (2001), पृ. 39
- डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, मूक माटी की मुखरता, सागर

प्रकाशन, दिल्ली (2007), पृ. 28
★ सी.बी. भारती, आक्रोश, डॉ. लोक सूचक प्रकाशन, फर्रूखाबाद (1996), पृ. 7
★ कालीचरण 'स्नेही', दलित विमर्श और हिन्दी दलित कविता, न्यू रॉयल बुक कंपनी लखनऊ (2008), पृ. 86
★ कँवल भारती, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, (1996), पृ. 29
★ बाल कभार वाल्मीकि, भूमिका, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? कँवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (1996), पृ. 2
★ मनोज सोनकर, शोषितनामा, सुभद्रा प्रकाशन, दिल्ली (1986), पृ. 106
★ डॉ. सी. बी. भारती, आक्रोश, डॉ. लोक सूचक प्रकाशन, फर्रूखाबाद (1996) पृ. 12
★ ओमप्रकाश वाल्मीकि, दर्द के दस्तावेज, सं. डॉ. एन. सिंह. आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़, पृ. 64
★ डॉ. तेजसिंह, दलित साहित्य, 2002, सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. 41
★ रजनी तिलक, आज का समय, से. डॉ. तेजसिंह, संगीता प्रकाशन दिल्ली (2006), पृ. 58
★ रमणिका गुप्ता, अब मूरख नहीं बनेंगे हम, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली (1997), पृ. 11
★ सी.बी. भारती, आक्रोश, डॉ. लोक सूचक प्रकाशन, फर्रूखाबाद (1996), पृ. 55
★ सुशीला टाकभौरे, दलित निर्वाचित कविताएँ, सं. कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद (2006), पृ. 141
★ सुशीला टाकभौरे, तुमने उसे कब पहचाना, शरद प्रकाशन, नागपुर 1995, पृ. 40-41
★ रजनी तिलक, दलित साहित्य 1999, सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. 285
★ मुकेश मानस, पतंग और चरखडी, आतिश प्रकाशन, नई दिल्ली 2001, पृ. 78
★ कुसुम वियोगी, दलित साहित्य (1999), पृ. 262
★ डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 98
★ विपिन बिहारी, दलित साहित्य (2002), पृ. 334
★ रमणिका गुप्ता, दलित हस्तक्षेप, सं. ओम प्रकाश वाल्मीकी, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, (2003), पृ. 81
★ ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (2000), पृ. 81
★ कुसुम वियोगी, दलित साहित्य 1999, पृ. 260

श्रीमंत शंकरदेव और पूर्वोत्तर का भक्ति आंदोलन

सौम्या राय

यह शोध आलेख 'श्रीमंत शंकरदेव और पूर्वोत्तर का भक्ति आंदोलन' विषय पर आधारित है। हम सभी जानते हैं कि भक्ति आंदोलन का स्वरुप अखिल भारतीय था। यह आलेख पूर्वोत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय और विकास में श्रीमंत शंकरदेव के महत्वपूर्ण योगदान का विश्लेषण करता है। इसमें शंकरदेव की जीवनी, उनके दर्शन एवं सांस्कृतिक प्रयासों के माध्यम से सामाजिक सुधारों और धार्मिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। उनके द्वारा आरंभ किया गया नववैष्णव दृष्टिकोण लोक साहित्य, नाट्य-कला एवं संगीत में अभिव्यक्त हुआ, जिसने क्षेत्रीय परंपराओं को समृद्ध किया और सामाजिक समरसता तथा समानता के संदेश को व्यापक स्तर पर प्रसारित किया। लेख इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि कैसे शंकर देव का भक्ति आंदोलन जातीय भेदभाव को चुनौती देते हुए एक समावेशी और प्रेरणादायक सांस्कृतिक परिदृश्य स्थापित करने में सफल रहा।

भारत में दर्शन कभी भी केवल बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं रहा। भारत के लिए दर्शन केवल चिंतन-सरणि नहीं है अपितु जीवन-सरणि है। भारतीय दर्शन को क्रियान्वित करने वाला भारतीय इतिहास का सबसे स्वर्णिम अध्याय है-'भक्ति आंदोलन'। भक्ति आंदोलन भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी आंदोलन था, जो 7वीं से 17वीं शताब्दी के बीच चला। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य समाज में व्याप्त जातिवाद, धार्मिक पाखंडों और अंधविश्वासों के प्रति आवाज उठाना था। भक्ति आंदोलन ने ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण के माध्यम से आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने पर बल दिया। यह आंदोलन अखिल भारतीय स्वरूप में विकसित हुआ और देश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न रूपों में दिखाई दिया।

भक्ति आंदोलन की शुरुआत दक्षिण भारत में मानी जाती है, विशेषकर तमिलनाडु में। यहाँ के अलवार और नयनार संतो ने विष्णु और शिव की भक्ति का प्रचार किया। इन संतों ने संस्कृत के बजाए स्थानीय भाषाओं में अपनी रचनाएँ लिखीं, जिससे यह आंदोलन तेजी से फैलने लगा। बाद में यह आंदोलन उत्तर तथा भारत के अन्य क्षेत्रों में फैल गया। कहा जाता है-'भक्ति द्रविड़ उपजी लाए रामानंद।'

क्षेत्रीय भक्ति संत और उनके योगदान

दक्षिण भारत - तमिलनाडु में अलवार और नयनार संतों ने विष्णु और शिव भक्ति का प्रचार किया। संत रामानुज और शंकराचार्य जैसे विचारकों ने अद्वैत वेदांत और भक्ति मार्ग के सिद्धांतों को जोड़ा।

उत्तर भारत - उत्तर भारत में अनेक संत कवि-कवयित्री हुए जिन्होंने भक्ति आंदोलन का प्रसार किया। कबीर, रविदास और गुरुनानक जैसे संतों ने जातिवाद , बाह्याडम्बर और पाखंडों का विरोध किया। रामानंद, जिन्होंने राम भक्ति को लोकप्रिय बनाया, के शिष्य कबीर थे, जिनकी शिक्षाएँ सामाजिक समानता का सन्देश फैलाती थीं। इसी प्रकार सूरदास और तुलसीदास ने अपने काव्य के माध्यम से भगवान कृष्ण और राम भक्ति को जन-जन तक पहुँचाया। मीराबाई कृष्ण भक्ति के माध्यम से स्त्री मुक्ति की आवाज बनी।

महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम और एकनाथ जैसे संतों ने वरकारी संप्रदाय की स्थापना की और भगवद्गीता के माध्यम से जनता को भक्ति का महत्त्व समझाया। इस क्षेत्र

में भक्तिपूर्ण साहित्य ने समाज को एकजुट किया और जातिगत भेदभाव को चुनौती दी।

गुजरात में संत नरसी मेहता ने भगवान कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया और समाज में समरसता और प्रेम का सन्देश दिया।

कश्मीर - ललेश्वरी (ललद्द) चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर की एक प्रसिद्ध भक्त कवयित्री थी। इन्होंने अपने वाख के माध्यम से आत्मशुद्धता, सदाचार और मानव बंधुत्व की भावनाओं को जनमानस में फैलाया।

बंगाल - बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण की भक्ति को केंद्र में रखकर भक्ति आंदोलन का प्रसार किया। उन्होंने समाज में सभी वर्गों के लिए भक्ति का द्वार खोला, चाहे वह उच्च जाति का को या निम्न वर्ग का।

पूर्वोत्तर भारत - इस क्षेत्र में भक्ति आंदोलन का प्रसार और विकास मुख्य रूप से असम और मणिपुर जैसे राज्यों में देखा गया। श्रीमंत शंकरदेव और माधवदेव जैसे संतों ने असम में भक्ति धारा को प्रवाहित किया, जबकि मणिपुर में वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ।

''भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था। अत: उसने भारत की सांस्कृतिक एकता को पुष्ट किया। इसके कारण पूरे भारत में एक प्रकार की साधना की लहर जन-मानस में दौड़ी।[1]'' भक्ति आंदोलन ने भारत के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में क्रांति ला दी। यह आंदोलन न केवल धार्मिक था बल्कि सामाजिक सुधार का भी प्रतीक था। संतों ने भक्ति के माध्यम से मानवता, प्रेम और समानता का सन्देश दिया, जो आज भी भारतीय समाज के लिए प्रासंगिक है। भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज को एक नई दिशा दी और एकता, प्रेम और आध्यात्मिकता का मार्ग दिखाया, जिसने इसे अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान किया।

पूर्वोत्तर में भक्ति आंदोलन

पूर्वोत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का एक मजबूत केंद्र रहा है। हालाँकि हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर भारत के इस आंदोलन को यथोचित स्थान नहीं मिला है। फिर भी पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर असम, मणिपुर और त्रिपुरा ने भी इस आंदोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पूर्वोत्तर के संतों और विचारकों ने भक्ति आंदोलन को क्षेत्रीय भाषा, साहित्य और सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध किया, जिससे यह आंदोलन और व्यापक और गहरा हो गया।

असम में भक्ति आंदोलन का नेतृत्व श्रीमंत शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव कर रहे थे। श्रीमंत शंकरदेव (1449 -1568) महान संत, कवि और समाज सुधारक थे। वे असम में भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक थे। उन्होंने नववैष्णव भक्ति आंदोलन की नींव रखी, जिसे 'एकशरण धर्म' के नाम से भी जाना जाता है। इस भक्ति संप्रदाय का मूल सिद्धांत था कि ईश्वर केवल एक हैं, और केवल उनकी शरण में ही मुक्ति संभव है। इस मत का मूल मंत्र है।

''एक देव एक सेव, एक बिना नाई केव।
नहि भकतित जात आचार विचार।''[2]

अर्थात् एक ही ईश्वर की सेवा करो। इसके अलावा कोई और नहीं है। भक्ति में जाति का कोई विचार नहीं होता।

''...शंकरदेव को संस्कृति पुरुष कहना ज्यादा समीचीन होगा। एक में अनेक गुणों के सामंजस्य का नाम श्रीमंत शंकरदेव है। वे केवल धर्म-प्रतिष्ठापक संत ही नहीं थे और न ही उनकी आध्यात्मिकता केवल धर्म मात्र से जुड़ी हुई थी। वे चिंतक, दार्शनिक, शास्त्र मर्मज्ञ, समाज संस्कारक, मानवतावादी, कवी, संगीतज्ञ, नाटककार, नर्तक, चित्रकार, अभिनेता, गीतिकार, गायक-वादक, निर्देशक, मंच-व्यवस्थापक आदि के अतिरिक्त वयन-विशेषज्ञ भी थे। अपने में निहित बहुमुखी प्रतिभा को उन्होंने जन साधारण के कल्याणार्थ समर्पित कर दिया।''[3]

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म 1449 ईस्वी में असम के नगांव जिले के आलिपुखुरी गाँव में हुआ था। बचपन में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया था। पालन पोषण दादी ने किया। उन्होंने 13 वर्ष की आयु में विद्यारम्भ की और 17 वर्ष की आयु तक अपनी शिक्षा पूरी कर ली। वे बचपन से ही विद्वान, धर्मपरायण और कुशाग्र बुद्धि के थे। पढ़ाई के दौरान ही उन्होंने संस्कृत ग्रंथों, विशेषकर भागवत पुराण का गहन अध्ययन किया, जिसने उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को आकार दिया। उन्होंने भारतवर्ष की यात्रा भी अपने जीवनकाल में दो बार किया। उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' को अपने धार्मिक विचार का आधार बनाया। श्रीमद्भागवत का सिद्धांत है सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म-ईश्वर-आत्मा का दर्शन करें। श्रीमंत शंकरदेव कहते हैं -

''कुकुर, चांडाल, गर्दभरो आत्मा राम।
जानिया सबाको परि करिबा प्रणाम।''[4]

अर्थात् कुत्ता, चांडाल, गधा सभी के अंदर एक ही आत्मा

है, वही राम है। इसको जानकर सभी को प्रणाम करो। गोस्वामी तुलसीदास भी यही बात करते हैं।

''सीयराम मय सब जग जानी
करउ प्रणाम जोरि जग पानी।"

श्रीमंत शंकरदेव ने असमिया साहित्य और संस्कृति को समृद्ध किया। उनकी रचनाओं में कीर्तनघोषा, भागवत का अनुवाद और अंकिया नाट्य प्रमुख हैं। शंकरदेव ने विष्णु के अवतार श्री कृष्ण की भक्ति को मुख्य रूप से प्रचारित किया और असम के समाज में इसे गहराई तक पहुंचाया। उन्होंने भागवत के विभिन्न अंशों का अनुवाद और व्याख्या असमिया में किया, जिससे भक्ति की अवधारणा सामान्य जन तक पहुँची।

शंकरदेव ने असम में संगीत, नृत्य और नाटक के माध्यम से धार्मिक उपदेश दिए। उन्होंने बरगीत नामक भक्ति गीतों की रचना की, जो आज भी असम के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा है। इसके अलावा उन्होंने 'अंकिया नाट' नमक धार्मिक नाटक शैली की शुरुआत की, जो कृष्ण लीला पर आधारित होती थी। इसने असम के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध किया।

उन्होंने असम में सत्र नामक धार्मिक और सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की, जहाँ वैष्णव भक्ति के अनुयायी एकत्र होकर भक्ति साधना करते थे। सत्रों ने न केवल धार्मिक शिक्षा दी, बल्कि सामाजिक सुधार, साहित्य और कला के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शंकरदेव ने समाज के सभी वर्गों को वैष्णव भक्ति में सम्मिलित किया और जातिवाद का कड़ा विरोध किया। उन्होंने समाज में व्याप्त असमानताओं को चुनौती दी और समरसता तथा एकता का सन्देश दिया।

''असमिया साहित्य, संस्कृति, समाज व आध्यात्मिक जीवन में युगांतकारी महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव का अवदान अविस्मरणीय है। उन्होंने पूर्वोत्तर क्षेत्र में एक मौन अहिंसक क्रांति का सूत्रपात किया। उनके महान कार्यों ने इस क्षेत्र में सामाजिक-सांस्कृतिक एकता की भावना को सुदृढ़ किया।''[5]

शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने भी भक्ति आंदोलन को आगे बढ़ाया। उन्होंने असमिया साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया और शंकरदेव के विचारों का प्रचार-प्रसार किया। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'नामघोषा' और 'भक्तिरत्नावली' शामिल हैं।

मणिपुर में भक्ति आंदोलन के अंतर्गत वैष्णव भक्ति का प्रसार हुआ। अठारहवीं शताब्दी में मणिपुर के राजा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों के संपर्क में आये और उन्होंने वैष्णव धर्म को राजधर्म के रूप में अपनाया। मणिपुर में भक्ति आंदोलन का मुख्य केंद्र गोविन्द जी मंदिर और वैष्णव मंदिर बने। मणिपुरी साहित्य और संगीत पर भक्ति आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। 'रासलीला' और 'सांख्यर्तन' जैसे धार्मिक नृत्य-नाट्य इसके प्रमाण हैं।

मणिपुरी नृत्य जिसे 'रासलीला' कहा जाता है, इसी भक्ति परम्परा का एक हिस्सा है। यह नृत्य शैली न केवल मणिपुर का धार्मिक धरोहर है, बल्कि भारतीय सांस्तिक विरासत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा भी है।

त्रिपुरा में भी भक्ति आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यहाँ के शासक ने वैष्णव धर्म को अपनाया और इसे अपने राज्य में फैलाया। वैष्णव भक्ति की परम्पराएँ त्रिपुरा में भी संगीत, नृत्य और भक्ति गीतों के माध्यम से प्रचलित हुई।

पूर्वोत्तर भारत में भक्ति आंदोलन ने सामाजिक और धार्मिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन लाये। इसने समाज में व्याप्त धार्मिक पाखंड और जातिगत भेदभाव को चुनौती दी और ईश्वर की भक्ति को सभी के लिए सुलभ बनाया। पूर्वोत्तर भारत के भक्ति आंदोलन ने स्थानीय भाषाओं, साहित्य, संगीत और नृत्य को भी समृद्ध किया, जिससे यह क्षेत्र सांस्कृतिक रूप से भी सशक्त हुआ।

प्रसिद्ध इतिहासकार महेश्वर नियोग ने रामानंद और शकरदेव की तुलना करते हुए लिखते हैं -"It was Ramananda of Northern India (1299-1410), who adopted the medium of the language of common people for his teaching and gave it the dignity of a classical tongue. Sankardev also adopted the effective means of forgetting the gospel of his faith through Assamese. The bhagwantpur formed the mainstay of his cult. This work he studied slowly and rendered portions of it into simple Assamese verses, songs and dramas, so that the teaching might appeal to the commonality."[6]

भक्ति साहित्य की रचना के लिए कवियों ने क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग किया। हिंदी साहित्य में भक्ति काव्य की मुख्य भाषा ब्रजभाषा रही है। ब्रजभाषा का प्रवाह हिंदी क्षेत्र से बाहर तक हुआ। पूर्वोत्तर में इसे ब्रजबुलि कहा गया। विश्वनाथ त्रिपाठी

लिखते हैं –''पूर्व–मध्यकालीन साहित्य में ब्रजभाषा एक प्रकार से भक्ति काव्य का पर्याय बन गई है। यहाँ तक की सुदूर दक्षिण और पूर्व के रचनाकारों ने भी ब्रजभाषा में रचना की। बंगाल–असम में ब्रजभाषा प्रभावित बंगला–असमिया को 'ब्रजबुलि' कहा गया।''[7]

समग्रत: हम कह सकते हैं कि पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर असम, मणिपुर व त्रिपुरा ने भक्ति आंदोलन में अपना अनूठा और महत्वपूर्ण योगदान दिया। शंकरदेव, मणिपुरी वैष्णव परम्परा व त्रिपुरा के वैष्णव शासकों ने भक्ति को केवल धार्मिक आंदोलन तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे सांस्कृतिक पुर्नजागरण का आधार बनाया। पूर्वोत्तर का यह योगदान भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप को समृद्ध और विविध बनाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वोत्तर भारत का भक्ति आंदोलन एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अध्याय है। दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य में पूर्वोत्तर के इस महान भक्ति आंदोलन को पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाया है। हिंदी साहित्यकारों ने मुख्य रूप से उत्तर भारत के संतों और उनके साहित्य पर अधिक ध्यान दिया है। परिणामस्वरुप श्रीमंत शंकरदेव और उनके योगदान की जानकारी व्यापक हिंदी पाठकों तक नहीं पहुँच पाई है।

आज आवश्यकता है कि हिंदी साहित्य में भी श्रीमंत शंकरदेव और पूर्वोत्तर के भक्ति आंदोलन को उचित स्थान दिया जाये। इससे न केवल हिंदी के पाठकों को इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आंदोलन की जानकारी मिलेगी, बल्कि राष्ट्रिय एकता और सांस्कृतिक विविधता को भी प्रोत्साहन मिलेगा।

शोधार्थी
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास. दिल्ली : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2010. पृष्ठ–52
2. डॉ कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', शंकरदेव साहित्य और विचार, पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला– 1976
3. सांवरमल सांगानेरिया, लोहित के मानसपुत्र : शंकरदेव. भारत : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2024. पृष्ठ–दस
4. नवारुण वर्मा, महापुरुष श्रीमंत शंकदेव, वृहत्तर फैंसी बाजार साहित्य सभा, गुवाहाटी– 781001 पृष्ठ–58
5. वीरेंद्र परमार, पूर्वोत्तर भारत : अतुल्य भारत. नई दिल्ली : हिन्दी बुक सेंटर, 2018. पृष्ठ–53
6. महेश्वर नियोग. रिलीजन ऑफ द नार्थ ईस्ट, प्रकाशक: मुंशीराम मनोहरलाल, 1884. पृष्ठ–140
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास. दिल्ली : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2010. पृष्ठ–18

डॉ. नीलम कुमारी

साहित्य में स्त्री अस्मिता के चिंतन में दलित स्त्री की पहचान : एक विश्लेषण

महिला लेखन की शुरूआत बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में होती है। दलित महिला आंदोलन की शुरूआत भी इसी समय होती है। यहाँ सबसे पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि दलित स्त्री कौन है? दलित स्त्री वह है जो वंचित है, दबी हुई है, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक रूप से जो समाज के अंतिम पायदान पर खड़ी है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह औरत जातिवादी पितृसत्तात्मक समाज की शिकार है। तीसरे यह जाति से निम्न है, पिछड़ी हुई है।

भारत में केवल पितृसत्तात्मक समाज ही नहीं है बल्कि यहाँ जातिवादी पितृसत्तात्मक समाज है। पितृसत्ता तो एक स्त्री की यौनिकता एवं उसके श्रम पर अपना अधिकार करती है तथा यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यह भेद जैविक आधार पर नहीं बल्कि सांस्कृतिक आधार पर किया है। स्त्री गर्भ धारण करती है यह तो प्राकृतिक है पर श्रम के कार्यों में वह भी मेहनत के काम करती है अत: इन क्षेत्रों में प्राकृतिक आधार पर भेदभाव नहीं सांस्कृतिक आधार पर होता है। जैसे एक बहुत प्रसिद्ध वाक्य हमने सुना है-''औरत पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।'' औरतें या लड़कियों और पुरुषों के अलग-अलग कामों का विभाजन सांस्कृतिक आधार पर किया गया है। यह भेदभाव तो सभी महिलाओं पर लागू होता है। परंतु भारत की पुरुष सत्ता जातिवादी है। यह जातिवादी पितृसत्ता दुनिया की अन्य पितृसत्ताओं से कठोर एवं कुरूप है।

सवाल उठता है कि जातिवादी पितृसत्ता क्या है? और यह औरतों को कैसे शोषित करती है। भारत में ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के बारे में उमा चक्रवर्ती ने लिखा है-''ब्राह्मणवादी पितृसत्ता नियमों और संस्थाओं का एक ऐसा समूह है जिसमें जाति और जेंडर एक-दूसरे से संबंधित है और परस्पर एक-दूसरे को आकार देते हैं और जहाँ जातियों के बीच की सीमाएं बनाए रखने के लिए महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है। इस ढाँचे के पितृसत्तात्मक नियम सुनिश्चित करते हैं कि जाति व्यवस्था को बंद सजातीय यौन विवाह संबंधों के जातिक्रम का उल्लंघन किए बिना बनाए रखा जा सकता है। महिलाओं के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक कानून उनके जातीय समूहों के अनुरूप एक-दूसरे से भिन्न होते हैं जिसमें महिलाओं की यौनिकता पर सबसे कठोर नियंत्रण ऊँची जातियों में पाया जाता है।''[1]

इस संबंध में डॉ. तेज सिंह ने लिखा है-''मनुस्मृति से पहले ब्राह्मणी पितृसत्ता पूरी तरह से संस्थाबद्ध करके और धार्मिकता से जोड़कर राजसत्ता द्वारा संरक्षित करा दिया। लेकिन उसका मुख्य आधार जाति की श्रेष्ठता ही रही। इस तरह एक सामाजिक व्यवस्था में तब्दील हो गई जो दुनिया की सबसे घृणित सामाजिक व्यवस्था बन गई। इस तरह मनुस्मृति द्वारा संस्थाबद्ध ब्राह्मणी पितृसत्ता एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में शूद्रों और नारियों के शोषण और उत्पीड़न का सबसे विनाशकारी हथियार बन गई जिसका इस्तेमाल ब्राह्मण-वर्ग द्वारा आज भी किया जा रहा है, कहीं प्रत्यक्ष रूप में कहीं अप्रत्यक्ष रूप में।''[2]

ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का सबसे विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण डॉ. आंबेडकर ने किया है। उन्होंने बुद्धकाल में स्त्रियों की आजादी की बात की। बाद में मनुस्मृति पुन: स्त्रियों की आजादी को एक तरह से खत्म करने के लिए लिखी गई। पुष्यमित्र के आदेश पर सम्भवत: मनुस्मृति की

रचना की गई। मनुस्मृति ब्राह्मणवाद का आधार दर्शन ग्रंथ है। मनुस्मृति को ईश्वर रचित बताया गया है। इसके द्वारा न केवल स्त्रियों के उपर दोहरा शोषण होता है, बल्कि दलितों को भी वंचित और संसाधनों से परे धकेला जाता है। मनुस्मृति को ब्रह्मा ने मनु को सुनाया था फिर मनु ने मनुष्यों को बताई। डॉ. अंबेडकर ने अपनी पुस्तक-'प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति' में विस्तार से वैदिक कालीन, बौद्ध कालीन तथा मनुस्मृति कालीन स्त्रियों की दिशा का वर्णन किया तथा बताया कि बौद्धकाल में महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी थी। फिर बाद में मनुस्मृति ने इसे जैसे प्रतिबंधित कर दिया।

मनुस्मृति के नवें अध्याय में स्त्रियों के लिखे गए हैं। मनुस्मृतिकार के अनुसार -

''पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रयर्महति''॥[3]

स्त्री की रक्षा उसके बालपन में पिता यौवन में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र करता है। स्त्री कभी भी स्वतंत्रता योग्य नहीं है। उन्होंने आगे लिखा है कि दुर्बल पति को भी अपनी स्त्री की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए -

''इमं हि सर्ववणीनां पश्चयन्तो धर्मपुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितु भापी भर्त्तारो दुर्बला अति॥''

उन्होंने आगे लिखा कि गृहकार्य करना तथा संतान का पालन करना चाहिए। मनुस्मृतिकार के अनुसार -

''पति या नामिचरति मनो वाग्दे हसंयता।
सा भर्तृलोकानाटनोति सभ्दि : साध्सवीति चाच्यते॥''

जो भी स्त्री मन वचन शरीर को संयत रख कभी पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती वह इस लोक में पतिव्रता के नाम से ख्यात होती है और देहत्याग के अनन्तर स्वामी के साथ स्वर्ग का सुख भोगती है।[4]

यहाँ तक कि बेच डालने पर भी स्त्री पति के पत्नीत्व से पृथक नहीं होती।

''न निष्क्रिय विसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्चते।
एवं धर्म विता नीम : प्राक प्रजापति निर्मितम्॥''

वह स्त्री को संबंध विच्छेद की भी अनुमति नहीं देता। वह ये सारे नियम इसलिए बनाता है कि स्त्री कहीं अपनी स्वतंत्रता का दुरूपयोग करके वर्ण-व्यवस्था को नष्ट कर सकती है। ये नियम ये शूद्र औरतों के लिए और भी कठोर हो जाते हैं। वह शूद्र स्त्रियों को सवर्णों से विवाह के लिए प्रतिबंधित करता है। इसलिए सजातीय विवाहों द्वारा जाति व्यवस्था और ज्यादा सुदृढ़ हो जाती हैं। डॉ. तेज सिंह के अनुसार, ''वह शूद्र को अपवित्र बताता है, लेकिन इनकी स्त्रियों को लेकर अपवित्र नहीं होते, पवित्र बना रहता है तथा अपनी स्त्रियों को भी पवित्र बनाए रखने के लिए किसी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय से विवाह की अनुमति नहीं देता। वह स्त्री स्त्री में भेद पैदा करता है । वह शुचिता शब्द गढ़ता है ताकि स्त्री पवित्र बनी रहे।''[5]

अत: ब्राह्मणवादी पितृसत्ता दोहरा शोषण करती है। यह औरत को जाति एवं जेंडर दोनों से शोषित करती है। स्त्री स्त्री में भेद करती है।

साहित्य में दलित स्त्री ने अपनी अभिव्यक्ति आत्मकथाओं, आत्मकथ्यांशों एवं कविता, कहानी के माध्यम से दी। इन स्त्रियों की रचनाओं में एक ओर सामाजिक शोषण का चेहरा बेनकाब होता है। दूसरी ओर उनके स्वयं के परिवारों का भी चित्र उभरता है। यह चित्र समस्त अन्यायों को उकेरता है। दलित स्त्री स्त्री द्वारा भी शोषित होती है कि जो ज्यादातर लोग कहते हैं कि स्त्रियों की कोई जाति नहीं होती वे तो स्वयं दोयम सैक्स हैं, तो यह बात भी इनकी रचनाओं में मिलती है।

'दोहरा अभिशाप' में कौशल्या बैसंत्री अपनी शिक्षिका एवं ब्राह्मण लड़कियों द्वारा हीन भावना की शिकार होती हैं-''जब मैं प्राइमरी में चौथी कक्षा में थी, तब शिक्षिका मुझसे बहुत काम करवाती थी। कभी होटल से चाय मँगवाने भेजती, कभी कुछ सामान लाने भेजती। दूसरी लड़कियों को नहीं भेजती थी। जाँचने की कापियों का बड़ा बंडल मेरे हाथ में पकड़ाकर अपने घर पहुँचाने को कहती। मेरा अपना बस्ता और जाँचने की कॉपियों का बंडल लेकर आने से मेरे हाथ दुखने लगते थे। घर स्कूल से काफी दूर था। पहुँचाने पर कभी दो बिस्कुट या अन्य कोई पदार्थ खाने को देती थी। कभी कुछ भी नहीं देती थी। कुछ लाने को भूल जाती तो मुझे घर दौड़ाती। मैं चुपचाप सब्र कर लेती थी। मेरे घटिया कपड़ों के कारण ब्राह्मणी लड़कियाँ मेरे साथ दोस्ती नहीं करती थी।''[6]

इन स्त्रियों ने अपने जीवनानुभवों से जो देखा वह लिखा वही इनकी सर्जनात्मकता में तब्दील हो गया। इन्होंने अपने समाज के अंतर्विरोधों को भी प्रकट किया। दलित स्त्रियों ने हमेशा से कमा कर खाया परंतु फिर भी उन्हें बराबर की आजादी एवं समानता नहीं मिली। इनके परिवारों में इनके स्वतंत्र निर्णयों के प्रति रूखापन रहा। उर्मिला पवार ने अपनी

आत्मकथा 'आथदान' में यह तथ्य भी उजागर किया कि समान कामों के बटँवारं और आर्थिक आधार पर सुदृढ़ होने पर भी परिवारों में समानता एवं आजादी स्त्री को प्राप्त नहीं होती। यानि आजादी उसे पुरुष सत्ता से चाहिए न कि पुरुष से।

निर्मला रानी की आत्मकथांश में पुरुष का अहम् अपने चरम पर पहुँचता है परंतु फिर उसके पुरुष मित्र उसकी मदद करते हैं। वे समस्त पुरुष समाज से ईर्ष्या नहीं पालता। उन्होंने दलित महिला के साथ संस्थागत होने वाले भेदभाव को भी लिखा –''जिस संस्था में मैंने काम किया वहाँ भी मेरा सैक्सुअल हैरासमैंट शुरू हो गया। मुझसे काम अधिक करवाया जाने लगा और मेहनताना कम, इस बात का लाभ इस संस्था के निदेशक ने खूब उठाया कि मेरी स्थिति ठीक नहीं है इसी संघर्ष में 15 वर्ष बीत गए फिर मैंने उस संस्थान में दलित महिलाओं के सवालों को उठाना शुरू किया। यह बात उसे बड़े सत्ताधारी को नागवार गुजारी।''[7]

उन्होंने जीवनानुभवों को और अपनी अभिव्यक्ति को बड़ी गहराई एवं सटीक दृष्टि से समझा है। स्त्री होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति इतनी आसान नहीं है जितनी दिखती है। वे इस जटिलताओं भरे तनाव को बड़ी शिद्दत के साथ न केवल जीती हैं बल्कि उनकी अभिव्यक्ति भी करती है। जैसाकि रतनी अनुरागी की कविता में हम देखते हैं –

''खबरदार तुम पर नज़र रखी जा रही है लगातार
एक चूक हुई नहीं कि आकर नोचने को
सौ-सौ गिद्ध बैठे है तैयार पुरुषत्व के
तुम कहीं भी और कभी भी
धर ली जाओगी
तुम्हारे पास अपना कुछ नहीं है
फिर भी सब कुछ छोड़ने को रहो तैयार
तुम्हारे उपर कभी भी लग सकते हैं लांछन
कि तुम हो वाचाल, बैगैरत कुल्टा और बदचलन
तुम्हारे प्यार और ममता के माने कभी हो सकते हैं बेमानी
जिस दिन भी जिस भी पल
जीना चाहोगी अपनी ही तरह
उसी दिन और उसी पल
तुम से छीन लिया जाएगा
तुम्हारा प्यार तुम्हारा सम्मान।''[8]

रजत रानी मीनू की कहानी 'धोखा' में वे अब पुरुष के छलावे को पहचान गई है। वे कहती है असलियत में स्त्रियाँ ही समानता और आजादी और लोकतंत्र का अर्थ समझती हैं। पुरुष मंचों पर वाहवाही लूटता है तथा वे उसकी एक पक्षीय बात है। अभी हाल में परिवार संस्था का स्थानापन्न 'लिव इन' में महिलाओं की खराब स्थिति को उजागर करती है। धोखा कहानी में माँ अपनी पुत्री से कहती है-''बेटा मेरा जीवन प्रयोगशाला जैसा ही रहा है। जहाँ मैंने जीवन के प्रयोग होते देखे हैं। जो मैंने सहा, भोगा, वह मैंने तुम्हें बताया। माँ हूँ। इसीलिए कहती हूँ बेटा मंच से कही गई बातें और पुस्तकों में लिखी बातें स्त्रियों के बारे में एक पक्षीय होती हैं। उन विचारों का व्यावहारिक जीवन जीने का अलग प्राय: दोनों के बीच बड़ी खाई रहती है।''9

स्त्रियों ने न केवल घरों में अपनी भूमिका निभाई बल्कि आंदोलनों में इतिहास गढ़ने में भी अपनी भूमिका अदा की। मीनाक्षी मून एवं उर्मिला पवार ने 'हमने भी इतिहास गढ़ा है' पुस्तक लिखी। मीनाक्षी मून एवं उर्मिला पवार उन महिलाओं के संस्मरण दस्तावेज़ के रूप में तैयार किए जिन्होंने बाबा साहब के आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। इन दोनों ने गाँव में घर-घर जाकर इन अनुभवों को इकट्ठा करके इतिहास गढ़ा है।

दलित महिलाओं ने न केवल अपने समाज के बल्कि बाहरी समाज का भी आइना प्रस्तुत किया। अपने परिवारों के साथ-साथ सवर्णों के भी अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने समाज के जातिवादी चेहरे को भी बेनकाव किया है। इस तरह महिलाओं के संसदीय लोकतंत्र में एक बात होते हुए भी सामाजिक रूप से संसदीय लोकतंत्र की बात करती है। वे परिवार, समाज और कहीं कहीं राज्य से भी टक्कर लेती दिखती हैं। उनका लेखन न केवल भारतीय समाज और परिवार की संस्कृति का आइना हैं बल्कि भारत की आधी दुनिया को एक अन्तर्दृष्टि भी प्रदान करता है। भारतीय स्त्री आंदोलन मानवीयता की बात करता है। इस मानवीय दृष्टि को वहीं मनुष्य पहचान सकता है जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व में विश्वास रखता हो। भारत का संविधान देश के प्रत्येक नागरिक को बराबरी का अधिकार देता है परंतु यह बराबरी तब तक नहीं हो सकती जब तक देश का प्रत्येक नागरिक हृदय से बराबरी को ग्रहण करें।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
जाकिर हुसैन दिल्ली महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, संपादन, साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृ.–06
2. अंबेडकरवादी विचारधारा : इतिहास और दर्शन, संपादक वेद प्रकाश, पृ.– 231–232,
3. मनुस्मृति, सिद्धार्थ बुक्स डिपो, अध्याय– 9, श्लोक–6
4. वही, पृ.–369
5. वही, श्लोक–46
6. अंबेडकरवादी विचारधारा : इतिहास और दर्शन, संपादक वेद प्रकाश, पृ.–239
7. दोहरा अभिशाप, कौशल्य बैसंत्री, प्रकाशक, पृ.–55
8. समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, संपादक रजनी तिलक, रजनी अनुरागी, पृ.–172
9. वही, पृ.–42–43

डॉ. सुनीता दुरंगल

छायावादी कविता में प्रकृति सौन्दर्य के विविध रंग

प्रकृति, सत्य, विश्व और सौन्दर्य की एक अद्‌भुत अजब संयोग, जिसके गीत गाये वाल्मीकि ने, जिसे महसूस व्यास ने जिसे स्वरों में झंकृत किया- कालिदास ने- वो प्रकृति अपने अनोखे, अनछुए, सौन्दर्य के साथ छायावादी दौर में कुछ इस तरह मौजूद नजर आती है- जहाँ कवि पनाह पाता है, अपने युग के तमाम विरोधों और उलझनों के बीज कवि खोज लेता है एक ऐसी जगह जहाँ पहुँच कर उसका दर्द धम सा जाता है वह भूल जाता है दुनिया की बेचौनियों को- वह तब कुछ इस तरह गाता है-

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे

(आँसू, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 24)

एक सम्मोहन है जो उसे अपनी ओर हौले हौले, खींच रहा है चाहे वे पंत हो, प्रसाद हो, निराला या महादेवी वर्मा- सभी ने प्रकृति को अपनी कविताओं में बाँधा है। छायावाद में प्रकृति अपने कई रूपों में मौजूद है कहीं वह कवि की प्रेमिका है, कही माँ- तो कहीं सहचरी, जिसके रूप सौन्दर्य में बँधा खींचा चला जाता है। संसार की आपाधापी को दरकिनार करता छायावादी कवि। वह रच रहा है एक ऐसा संसार जिसमें प्रकृति के जाने कितने रंग बिखरते चले जा रहे हैं। वह प्रकृति जो उसके साथ आँख मिचौली खेल रही है तो कभी उसे छेड़ती नजर आती है और वह खुद को उस प्रकृति में कुछ इस तरह समा देता है जैसे दूर मिलते धरती गगन हो जहाँ एक मिलन हो रहा है- एक ऐसा मिलन जिसे वह कुछ इस तरह महसूसता है-

'नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लडी।'

(जूही की कली, निराला, अनामिका, पृष्ठ 25)

यहाँ नव यौवना वल्लरी को स्पर्श करता हवा का मंद झोंका ठीक वैसा ही है जैसा एक आतुर सा नायक- जो अपनी प्रिया को अपने होने के अहसास दे रहा है।

छायावादी कवि प्रकृति को कुछ इस तरह अपनी कविताओं में रच रहा था जैसे उसका सर्वस्व हो वह प्रकृति। प्रकृति में होने वाले हरेक परिवर्तन, हरेक घटना को वह अत्यंत सूक्ष्मता से रच रहा है प्रकृति अभिन्न अंग है उसके जीवन का, जो उसे गति, लय, स्पंदन सार सौंप रही है। यह प्रकृति उसके लिए अचरज का विषय भी है जिस की ओर पहले किसी का ध्यान उतनी गंभीरता से नहीं जाता जितना छायावाद का रचनाकार महसूसता है वह अपने अचरज को कुछ इस तरह शब्दबद्ध करता है-

प्रथम रश्मि का आना रंगिनी
तूने कैसे पहचाना संगीनी

(प्रथम रश्मि पंत, पल्लव, पृष्ठ 26)

कौतुहल के इन सवालों से भरा कवि सिर्फ इतने पर ही नहीं थमता वह पुन: अपनी प्रिया की इसी प्रकृति में ढूँढ लाता है और स्वरित होते हैं ये स्वर-

तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगा स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणी
त्रिवेणी की लहरों का गान-गान।

(पंत, पल्लव, पृष्ठ 32)

उसका प्रणय जो पावन है जो एक बार फिर प्रकृति में आकर पनहा पाता है। वह गंगा सा पवित्र है। वह त्रिवेणी सा

लहरिल है। वह प्रकृति में खुद को हर पल तलाश रहा है और गीत गा रहा है। सहमी सुकचाई, घबराई प्रकृति के; जो अपने में कुछ इस तरह सिमट रही है कि वह बोल उठता है-'छुई मुई सी तुम पश्चात / छूकर अपना ही मृदु गात / मुरझा जाती हो अज्ञात।'

प्रकृति छायावादी कवि के एक आकर्षण का विषय रही है। वह जब-जब प्रकृति को देखता है तब-तब प्रकृति के असंख्य रहस्य उसके सामने खुलने लगते- कभी हवा उसे कुछ कहती सुनाई पड़ती, कभी गरजते बादल उसे डाँटते महसूस होते, कभी साँझ का ढलना उसे अपनी ओर खींचता, तो कभी खिलती नर्गिस उसे अपनी ओर बार-बार बुलाती है। वह प्रकृति के जितने समीप जाता, प्रकृति अपने हर रंग में उसे रंग रही है वह प्रकृति के रूप-सौन्दर्य में खोया सब कुछ भूल जाना चाहता है और गाता है वह—मूक कोकिल का मादक गान/ बहा जन तनमन बंधन हीन / मधुरता से अपनी अनजान।

प्रकृति उसके लिए अपने हर सौन्दर्य में पवित्र, मोहक और रहस्य को रच रही है। वह आकाश की ओर जैसे ही नजर उठाता है एक सवाल खुदबाखुद गूँजने लगता है—

न जाने नक्षत्रों से कौन?
निमंत्रण देता मुझको मौन।

('मौन निमंत्रण' पंत, पल्लव, पृष्ठ 63)

एक ऐसा निमंत्रण जो कवि को निरंतर एक ऐसे रहस्य लोक में ले जा रहा है जहाँ सवाल हो सवाल है वह विस्मय विमुग्ध सा प्रकृति की कोख में समाता चला जाता है। प्रकृति अपने रूपाकर्षण के जाल में उसे कुछ इस तरह कैद कर रही है जहाँ वह कौतुक के भावों में घिरा सवाल करता है-

पीले पत्रों की शैय्या पर
तुम विरक्ति सी मुर्छा सी
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह मलिन दुःख विधुरा सी।

(कौन तुम, पल्लव, पंत, पृष्ठ 25)

यह कौन - के स्वर यदि पंत के यहाँ सुनाई पड़ते यहाँ सुनाई पड़ते हैं, तो यही कौन प्रसाद की कामायनी का 'सार' बनकर मनु के स्वरों में छटपटाते हुए श्रद्धा से परिचय पूछते हैं। श्रद्धा कौन है? यह जानना ही मनु के लिए पर्याप्त न था वह प्रकृति कन्या के रूप को कुछ इस तरह परिभाषित करता है जहाँ मनु का सारा का सारा कौतूहल विराम पा जाता है-

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।

('कामायनी', जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 10)

प्रकृति यहाँ अपने पूरे के पूरे यौवन के साथ मनु के प्रति समर्पित होती है किंतु मनु की जिज्ञासा इतने पर भी शांत नहीं, वह जितना श्रद्धा को समझना चाहता है वह श्रद्धा एक रहस्य बनती चली जाती है ठीक वैसे ही जैसे प्रकृति।

प्रकृति में घटित होने वाले हर परिवर्तन को छायावादी कवि जीता है वह कभी बेहया हवा को डाँटता है तो कभी मुरझाई लताओं को धिक्कारता है- कभी पूरब दिशा से उगता बाल अरुण उसे प्रिय हो जाता है तो कभी टेसू के फूल, जूही की कली अपने मादक सौन्दर्य में उसे बाँध लेती है। इस सौन्दर्य की मादकता में डूबा कवि करता है कुछ इस तरह का अनुरोध—

सिखा दो न हे मधुय कुमारी !
मुझ भी अपने मीठे गॉन
कुसुम के कटोरे से करा दो न
कुछ कुछ मधुपान।

(मधुपान, पल्लव, पंत, पृष्ठ 40)

छायावादी कवि ने प्रकृति के रहस्य को जैस-जैसे समझा वैसे-वैसे वह प्रकृति की निष्ठुरता से भी परिचय पाता जा रहा था। वह प्रकृति में खोया ही नहीं वह प्रकृति को अपने संयोग मिलन-विरह की तड़पने में भी सवालों से घेर लेता है। प्रकृति में सहज होने वाला परिवर्तन उसे अपने ही मिलन और बिछोह के गीत गाने के लिए स्वर देता है वह गाता है—

कहो, कौन हो दमयंती सी
तुम तरू के नीचे सोई?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि !
नल सा निष्ठुर कोई...।

('दमयंती' पल्लव, पंत, पृष्ठ 42)

प्रकृति को कहता, गाता, रचता छायावादी कवि प्रकृति को असंख्य बिंबों, प्रतीकों और मिथकों को भाषा में रचने लगता है भले ही वह इस बात का दावा करें कि- 'पूछता क्यों शेष कितनी रात?' या 'खुल गए छन्द के बंध सभी' - वह फिर भी एक बंधन में बंधा है जो प्रकृति से रिश्ता वह निभा रहा वह रिश्ता उसे अपना सर्वस्व लगता है। प्रकृति उसके लिए क्या, कौन ही नहीं वह उसकी प्रेरक है वह उसकी प्रिया है वह

प्रकृति उसके लिए जीवन का सार है जिसमें शिव, सत्य और सौन्दर्य सभी समाया है। जिसमें यदि सृजन है तो विध्वंस भी वह इस बात को भली भाँति जानता है और तभी कहता भी है-

अरे निडर, परिवर्तन तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करूण विवर्तन

('परिवर्तन' पंत, पल्लव, पृष्ठ 52)

प्रकृति उसकी कल्पना से कुछ इस तरह से समाई कि वह रचने लगा अनछुए, उन भावों को जो अब तक स्पर्शित नहीं थे, वह एक ऐसी कहानी गढ़ रहा है जहाँ सुख भी स्वर्गिक है वह कहता है-मुग्धा सी मृदु मुस्कान / खिलते ही लज्जा से म्लान / स्वर्गिक सुख की सी आभा।

प्रकृति के मोह रूप जाल में फंसा कवि उसके अनछुए सौन्दर्य के गीत गाता है। वह रचता है बादलों की कहानी और गाता है एक आकर्षण को; जो उसे अपनी ओर बुला रहे हैं-

हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम, गगन की धूल
अनिल फेन उषा के पल्लव
वारि वसन वसुधा के मूल।

('बादल राग' पंत, पल्लव, पृष्ठ 52)

पंत प्रसाद निराला, महादेवी वर्मा सभी की कविता में प्रकृति का एक अजब-सा रूप गढ़ा नजर आता है जो अपनी संपूर्णता में मौजूद जाने कितने रहस्यों को अनावृत कर रहा है। कवि की नजर कभी पत्तों की सरसराहटों पर जा ठहरी है तो कभी बादलों में वे खोज लेते हैं अपनी प्रिया को। जूही की कली कविता में निराला कुछ इसी भाव को व्यक्त करते नजर आते हैं, वे गाते हैं- देखा मैंने प्रथम बार। अलिदे पर / एक कली / खिली हुई / जूही की / मानो नववधू।

(जूही की कली, अनामिका, पृष्ठ 4)

कहीं इन कवियों ने वसुधा के यौवन, श्रृंगार व सौन्दर्य का बेहद बारीकी से वर्णन किया तो कहीं सांझ श्रृंगार कर जब धरती पर कदम रखती है तो वह अपनी ओर कुछ इस तरह, कवि को आकर्षित करती है। कवि रच देता है- दिवसावसान का समय / मेघमय आसमान से उतर रही है। वह संध्या सुंदरी परी सी। धीरे-धीरे - धीरे, 'संध्या सुंदरी, 'परिमल', पृष्ठ 26

इतना ही नहीं पंत की निगाह जब इस प्रकृति सौन्दर्य से हटती है तो वह ठहर जाती है उन आवाजों पर जो 'बांसों के झुरमुर' से आती सुनाई पड़ती है- यहाँ बाँस भी महत्त्व के हैं और उनमें छिपी चिड़िया भी / 'बांसों का झुरमुर / संध्या का झुरमुट / हैं चहक रही चिड़ियाँ।। टी-वी-टी-टुट् टुट्-टुट् । ये चहचहाटें पंत के यहाँ इस तरह से गूंजती है कि लगने लगता है कवि प्रकृति के असीम फैले सौन्दर्य से कुछ वो पल चुरा लाए हैं जो नन्हीं चिड़ियों की टी - वी - टी- टुट् - टुट् को नए अंदाज में आत्मसात कर जीवन के सार को रच रही हैं । यही स्वर प्रसाद के यहाँ भी सुने जा सकते हैं - वे गाते हैं-

खग कुल कुल सा बोल रहा / किसलय का अंचल डोल रहा / परिंदों की इन चहचहाटों में जीवन की सत्यता, पवित्रता, सौन्दर्य को छायावादी कवियों ने एक अर्थ ध्वनियों, अर्थ छवियों में गढ़ते हुए एक नयी मीमांसा गढ़ी है।

वर्षा ऋतु के मदमस्त माह में जब धरती श्रृंगार करती है तो कवि न चाहते हुए भी गाता है - देख वसुधा का यौवन-भार/ गूंज उठता है जब मधुमास / विधुर उर के से मृद उद्गार/ संदेशा मुझे भेजना मौन *(पल्लव मौन नियंत्रण, पृष्ठ 16)*

अपने युग के प्रकृति सौन्दर्य को रचता छायावादी कवि कहीं मूर्त के जरिए अमूर्त का वर्णन करता है तो कहीं अमूर्त को मूर्त बनाकर रचता है एक नयी कहानी / जहाँ खिलती, कलियों से कभी वह संवाद करता है। तो कहीं-कहीं कलियाँ घुघंट उठाकर उससे जाने कितने सवाल करने लगती है। प्रणय की एक नयी परिभाषा छायावादी कवि प्रकृति के आँगन में रचता है और वह एक पावनता का नाजुक सा प्रतीक बन थिरकता है जो प्रसाद की 'कामायनी' में कुछ इस तरह बयां होता है - हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह / एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।

(कामायनी, पृष्ठ 10)

मनु का यह स्वरूप और प्रलय की नयी अर्थ छवि - प्रसाद ने दर्द दु:ख के साथ-साथ प्रणय की परंपरा से हटकर परिभाषा को यहाँ रचा है - जिसकी गवाह प्रकृति बनी है - चारों ओर फैला जल ही जल, जो प्रलय की सत्यता कह रहा है जिसे जीवन की क्षणिकता से प्रसाद ने बांधते हुए प्रकृति के भयावह रूप के ठहराव को प्रलय के जरिए व्यक्त किया है। सभी छायावादी कवियों ने प्रकृति में घटित हरेक परिवर्तन को बेहद सूक्ष्मता से रचा व महसूस किया है - वे जितनी प्रकृति से निकटता से हरेक घटना को शब्दबद्ध करते है वहाँ वर्णन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते गए हैं- सूर्य का उदित होना जैसे किसी कौतुहल से कम नहीं। कवि गाता है -

शशि मुख पर घूंघट डाले / अंचल में दीप छिपाए / जीवन की गोधूलिम, कौतूहल से तुम आए / वहीं जब सांझ

ढलती है तो अचानक ही कवि की नजर आती है उसके अनकहे रूप सौन्दर्य पर वह उसकी ओर खींचा चला जाता है और गा उठता है – कौन तुम रूपसि कौन / व्योम से उतर रही चुपचाप / छिपी निज छाया कवि में आप।

(गुंजन, पल्लव पंत, पृष्ठ 16)

इसी रूप सौन्दर्य पर मुग्ध नायक जो हवा के पर्याय रूप में छायावादी कविता में मौजूद है वह कुछ यूँ बौरा जाता है जैसे कोई निर्दय नायक हो निराला की जूही की कली कविता में कुछ ऐसा ही नजर आता है।

निर्दय उस नायक ने / सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली / मसल दिए गोरे कपोल गोल (जूही की कली, अनामिका, पृष्ठ 22) यहाँ हवा की हरकते स्वाभाविकता से अलग एक ऐसे संसार को रच रही हैं जो सौन्दर्य व प्रणय के आकर्षण में बांध खींच चला आया है।

छायावादी कवि ने प्रकृति के अनछुए स्वरों को स्वर दिए जो अपने समग्र समर्पण सौन्दर्य और रहस्यों के साथ कवियों के लिए कौतुहल का विषय रही है। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा सभी ने प्रकृति के अनोखे सौन्दर्य को अपनी रचनाओं में स्वरित किया और ऐसे भाव संसार को रचा जो आदि काल से अपना परिचय परिवर्तित रूप–शिव, सत्य और सौन्दर्य के सार में व्यक्त करता है।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग,
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ ग्रंथ

1. 'पल्लव', सुमित्रानंद पंत – राजकमल प्रकाशन, संस्करण–1975
2. 'कामायनी', दयाशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, संस्करण–1970
3. 'अनामिका', सूर्य कांत त्रिपाठी निराला, वाणी प्रकाशन, संस्करण–1980
4. 'छायावाद' नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण – 1989
5. 'कविता के नए प्रतिमान'– नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण–1990
6. 'छायावाद का पुनः पाठ' – मुकुटधर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, 1992, (2003)
7. 'छायावाद का पतन' – देवराज, वाणी मंदिर प्रेस, लखनऊ, 1998
8. 'छायावाद और उसके कवि' – नंददुलारे वाजपेयी, संपादन – विजय बहादुर सिंह
9. 'संस्कृति के चार अध्याय' – रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–1976
10. 'कवि सुमित्रानंद पंत' – नंददुलारे वाजपेयी प्रकाशन संस्थान, दिल्ली –1997
11. 'निराला की कविताएँ' – मूल्यांकन और मूल्यांकन (केदारनाथ सिंह) संपादक– परमानन्द श्रीवास्तव, नीलाभ प्रकाशन, संस्करण–1992
12. 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' – नंददुलारे वाजपेयी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–2007
13. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' – नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008

डॉ. संजय सिंह

आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में छायावादी कवियों की समकालीन प्रासंगिकता

आधुनिक कविता की छायावादी काव्य धारा को भारतीय काव्य परम्परा और पश्चिम की रोमांटिक काव्य धारा के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम माना जाता है। छायावादी कवियों में एक ओर जहाँ परंपरागत काव्य प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं वहीं दूसरी ओर प्रयोगात्मक प्रवृत्तियों के बीज दिखाई पड़ते हैं; जो बाद के युग में विकसित रूप में देखे जा सकते हैं। विकास का अर्थ परंपरागत होना नहीं है। यह हमेशा विरोध और प्रतिक्रिया के रूप में ही दिखाई देता है। छायावाद के बाद जिस धारा का विकास दिखाई देता है उसमें छायावादी युग के कुछ न कुछ अंश देखे जा सकते हैं।

छायावादी काव्य जिस समय धरातल पर आया उसी समय साहित्य के धरातल पर दो तरह के काव्य का उत्कर्ष दिखाई देता है। एक द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता को धारण किए हुए तथा दूसरी कोमलकांत पदावली तथा कल्पना के उत्स को अपने अंदर समेटे हुए था। छायावादी कवियों के सामने दोनों विकल्प थे किंतु इन्होंने अपनी एक स्वतंत्र काव्य परम्परा का विकास किया। बाद के कवियों के सामने भी कुछ ऐसे ही विकल्प मौजूद थे उन्होंने इन दोनों से कुछ ग्रहण करते हुए अपने लिए एक अलग रास्ता चुना जिसमें छायावादी कविता में निहित व्यक्तिवादी परंपरा को अपने तरीके से प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी युग में जो राष्ट्र-प्रेम और सामाजिक चेतना से परिपूर्ण काव्य सृजन किया जा रहा था वह काव्य प्रवृत्ति छायावादी युग से प्रभावित दिखाई देती है।

छायावादी कवियों में प्रारंभ में जो व्यक्तिवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है वह उनके उत्तरार्द्ध में भी दिखाई देती है। व्यक्तिवादी काव्य जो जीवन के यथार्थ को परिलक्षित करता है इसका जीवंत उदाहरण निराला एवं अन्य छायावादी कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है। जिसका एक उदाहरण निराला की कविता 'सरोज-स्मृति' में देखा जा सकता है-

''धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका।
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।
तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान में चपल,
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण,
भरती जीवन में नव जीवन,
वह चरित पूर्ण गई चली,
तू नानी की गोद जा पली॥''[1]

निराला की इस वैयक्तिक काव्य प्रवृत्ति को स्वच्छंद काव्य धारा के कवि हरिवंशराय बच्चन की रचना में देखा जा सकता है। जहाँ पर वह अपने वैयक्तिक जीवन को अपनी रचना 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं—

''मृत्यु शय्या पर पड़े अति
रुग्ण की अंतिम हँसी-सी
यत्न करके खिल रही है
एक लघु कलिका निराली...
मना कर बहुत लट में तुम्हारी
लपेटे हुए पोर पर तर्जनी के
पड़ा हूँ, बहुत खुश, कि इन भाँवरों में

मिले फार्मूले मुझे ज़िन्दगी के''[2]

जीवन की यथार्थता की प्रस्तुति बच्चन जी की रचनाओं में छायावादी कवियों से ग्रहण की गयी प्रतीत होती है।

छायावादी कवियों में लौकिक प्रेमानुभूति का बहुत कम सहारा लिया। इनके प्रणयानुभूति अत्यंत निजी स्तर पर दिखाई देती है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के काव्य में विरह, मिलन के साथ-साथ निजी एवं भावुकतापूर्ण प्रेम की अनुभूति को देखा जा सकता है। छायावादी कवियों की इसी प्रणयानुभूति का प्रभाव बाद के स्वच्छंदतावादी कवियों ने यथार्थ रूप में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। जिस तरह प्रसाद और पंत अपनी कविताओं में प्रेम-विरह को व्यक्त करते हुए लिखते हैं। निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा क्रमशः देखा जा सकता है-

''रो रो कर सिसक सिसक पर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते फिरते
करते जानी अनजानी।''[3]

सुमित्रानंदन पंत के प्रेयसी के वियोग की तड़प को उनके काव्य संकलन पल्लव की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

''मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय! इस आह्वान को!
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को।''[4]

प्रेम-विरह का जो बीज छायावादी कवियों ने अंकुरित किया बाद के कवि उससे आगे बढ़कर उस प्रणयानुभूति को व्यापक आयाम देते हुए खुलकर अपने प्रेम को प्रदर्शित करते हैं। जिसे बच्चन जी की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।

''सो न सकूँगा और न तुझको सोने दूँगा, हे मनबीने!
इसलिए क्या मैंने तुझसे
साँसों के संबंध बनाए,
मैं रह-रहकर करवट लूँ तू
मुख पर डाल केश सो जाए,
रेन अँधेरी जग जा गोरी
माफ आज की हो बरजोरी
सो न सकूँगा और न तुझको सोने दूँगा, हे मन-बीने।''[5]

स्वच्छंदतावादी कवियों में असफल प्रेम पीड़ा एवं निराशा में मृत्यु का आह्वान दिखाई देता है उसके प्रारंभिक अंश छायावादी कवियों प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी में भी दिखाई देते हैं। छायावादी कवि पंत ने अपने असफल प्रेम को कुछ इस तरह से अभिव्यक्त किया है-

''हाय! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बन्धन हो गया वह नव कमल
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया।''[6]

प्रेम की असफलता एवं जीवन की निराशा को कुछ इसी तरह से स्वच्छंद काव्य धारा के कवि बच्चन ने से अभिव्यक्त किया है-

''आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!
स्वप्न-लोक से हम निर्वासित,
कब से गृह-सुख से लालायित,
आओ निद्रा-पथ से छिपकर हम अपने घर जाएँ।''[7]

दुःख से निराशा और निराशा से चिंता का आविर्भाव होता है। चिंता मनुष्य को मृत्यु के सन्निकट ले जाती है। भगवती चरण वर्मा के काव्य में कुछ ऐसी ही निराशा और चिंता देखी जा सकती है-

''यहाँ निशा के अंधकार में ही उलूकदल
मरता है चीत्कारयुक्त जीवन की हलचल।
यहाँ काल विकराल गरल के स्रोत अनर्गल,
जीवन में ही मृत्यु प्रदर्शित करते हैं प्रतिपल!''[8]

समग्र मूल्यांकन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि जो वैयक्तिक यथार्थ, प्रेम की अनुभूति, निराशा और नियतिवाद के जो बीज छायावाद में थे बाद के कवियों ने उसे और परिष्कृत करके अपनी कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया।

सामाजिक सौहार्द्र और समतामूलक समाज के बीज छायावादी कवियों में रोपे थे उसका विकसित रूप 'प्रगतिवाद' में दिखाई देता है। छायावाद सामाजिक भावना का उत्स पंत की इन पंक्तियों में परिलक्षित होता है-

''जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित है अति सुख से
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से जो सुख दुख में।''[9]

प्रसाद अपनी रचना कामायनी में भी सुख-दुख के समन्वय के द्वारा ही जीवन को सार्थक बनाने के प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं-

''नित्य समरता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान

व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।''[10]

समरस समाज एवं सुख-दुख के समन्वय की परिकल्पना पंत की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

''रुढ़ि रीतियाँ जहाँ न हो आरक्षित
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन वल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन!
जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित।''[11]

छायावादी कवियों के यहाँ आर्थिक असमानता पर प्रहार किया गया है। वे इस विषमता से दुखी नजर आते हैं। उनका मानना है कि जो पूँजीपतियों द्वारा संचित पूँजी है उसे गरीबों में बाँट देना चाहिए। निराला की जनकल्याण की भावना उनकी इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

''भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल में है
देश को मिल जाय वह
पूँजी तुम्हारी मिल में है।''[12]

छायावादी कवि जिस शोषण युक्त सर्वसमाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं। वह बाद के कवियों यथा-दिनकर, रामविलास शर्मा, शमशेर आदि में देखा जा सकता है। दिनकर ने अपनी रचना कुरुक्षेत्र के माध्यम से वर्ग-संघर्ष और वर्ग-भेद को समाज के विकास में बाधक माना है। वह न्यायोचित व्यवस्था के पक्षधर दिखाई देते हैं। समाज में समता एवं विषमता के उन्मूलन की बात उनकी इन पंक्तियों में देखी जा सकती है-

''न्यायोचित सुख सुलभ नहीं
जब तक मानव-मानव को,
चैन कहाँ धरती पर तब तक
शांति कहाँ इस भव को?
जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख भाग नहीं सम होगा
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा''[13]

निराला ने अपने काव्य के द्वारा समाज के शोषित वर्ग, मजदूर, सर्वहारा एवं महिलाओं की स्थिति पर अनेक काव्य लिखे, 'वह तोड़ती पत्थर' की पंक्तियाँ इस असमानता पर प्रहार करती हुई दिखाई देती हैं-

''नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
तन नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार
सामने तरु-मालिका अट्टालिका प्राकार''[14]

निराला ने अपनी यथार्थपरक रचना 'भिक्षुक' के द्वारा व्यक्ति के जीवन की अभावग्रस्तता को कुछ इस तरह से परिलक्षित किया है।

''वह आता
दो टूक कलेजे का करता पछताता पथ पर आता
पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को
मुँह फटी झोली का पैफलाता।''[15]

ऐसी विषमता प्रगतिवादी कवियों के यहाँ भी देखी जा सकती है। दिनकर ने अपनी काव्य पंक्तियों के द्वारा इस विषमता का चित्रण कुछ इस तरह से किया है-

''श्वानों की मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण।''[16]

दिनकर ने जिस आर्थिक वेषम्यता को दिखाने का प्रयास किया है कुछ ऐसा ही प्रयास शिवमंगल सिंह सुमन ने अपनी रचना के द्वारा दिखाने का प्रयास किया है-

''इस ओर रुप की ज्वाला में
जलते अनगिनत पतंगे हैं
उस ओर पेट की ज्वाला से
कितने नंगे भिखमंगे हैं।
इस ओर सजा मधु मदिरालय
है रास-रंग के साज कहीं
उस ओर असंख्य अभागे हैं
दाने तक को मुहताज कहीं।''[17]

प्रकृति का जो चित्रण छायावादी कवियों के यहाँ दिखाई देता है कुछ ऐसा ही प्रतीक गिरिजा कुमार माथुर की रचना 'घूप के धान' में देखा जा सकता है-

''अविरल जलते रजनी के दीपक मंद हुए
अब ब्राह्म घड़ी का ठंडा-सा आलोक जगा
भैरव के मंद्र स्वरों के पहले कम्पन-सा
वे सात पहरुये उतर गये हैं पश्चिम में
ले अँधयारे का सिंहासन।''[18]

छंद के रूढ़िगत स्वरूप में परिवर्तन छायावादी कवियों में प्रमुखतय: निराला की कविता में देखने को मिलता है। छंद के परंपरागत ढाँचे में रचित कविता यथार्थपरक एवं सहज अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करती थी। इसलिए रूढ़िगत छंदों का परित्याग कर कविता को छंद के बंधन से मुक्त करके नवीनता के साथ प्रस्तुत किया गया। नई कविता के कवियों ने छंद के इस रूढ़िगत ढाँचे का परित्याग कर इसके परिष्कृत रूप के साथ अपनी कविता में प्रयोग किया छंद की परंपरावादी धारा की अस्वीकारता तीसरे 'तार सप्तक' के कुँवरनारायण के इस वक्तव्य में देखी जा सकती है-

''कुछ विषय ऐसे होते हैं जो कविता से एक स्वतंत्र संगठन की माँग करते हैं, जिन्हें कोई बना-बनाया छंद 'रेडीमेड' कपड़ों की तरह नहीं पहनाया जा सकता, बल्कि जिनके लिए भाषा और छंदों को दूसरी तरह काटना-छाँटना पड़ता है। ताकि उनका अपना व्यक्तित्व उभर सके, उन पर भाषा उतरन न मालूम दे। छंद, जिन्हें कविता का कारण कहना शायद गलत न होगा, कविता के विकास में कुछ इसी प्रकार टूटते और बनते चलते हैं जैसे भाषा के विकास में व्याकरण।''[19]

निराला ने जिस मुक्त छंद की शुरुआत की बाद के कवियों ने उसे परिष्कृत कर अपनी कविता में प्रयुक्त किया। रामविलास शर्मा ने अपनी कविता में इसका प्रयोग लोकगीत की लयात्मकता के रूप में किया, पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

''हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैया लाल की।
हिन्दू हिन्दुस्तानी की
जै हिटलर भगवान् की।
जिन्ना, पाकिस्तान की।
तोजो और जापान की
बोलो वंदे मातरम्।
सत्यम् शिवम् सुन्दरम्॥''[19]

निराला ने कविता को छंद के बंधनों से मुक्त किया। निराला की स्वीकार्यता को बाद के कवियों ने बल प्रदान किया और कविता को छंद की रूढ़िगत परंपरा को नकारते हुए उसको विकास के साथ काव्य की अन्य विधाओं में प्रयोग किया।

निष्कर्षत: नई कविता को छायावादी काव्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। नई कविता और छायावाद में साम्यता स्थापित करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं-

''जहाँ तक छायावाद का संबंध है, नवलेखन उससे बहुत कुछ असम्बद्ध होते हुए भी, उसकी कुछ प्रवृत्तियों से अलग नहीं किया जा सकता।''[20]

अत: ये कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि नवीन काव्य प्रवृत्तियों का जनम छायावाद के गर्भ से ही हुआ जो आगे चलकर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नई कविता के रूप में विकसित हुए। नई कविता के बाद की कविताओं में भी छायावाद का उत्स अनेक रूपों में देखा जा सकता है। जिसमें नवगीत प्रमुख हैं। अज्ञेय, शम्भूनाथ सिंह, नरेश मेहता, केदारनाथ अग्रवाल आदि ने नवगीत के विकास में अपनी महती भूमिका निभाई। लेकिन इसकी उत्पत्ति छायावादी कवियों की कविताओं में देखी जा सकती है। महादेवी की कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

''अलि अब सपने की बात
हो गया है वह मधु की प्रात:
जब उनकी चितवन का निर्झर,
भर देता मधु से मानस-सर,
स्मित से झरती किरणें झर-झर
पीते दृगजल जलजात।''[21]

छायावादी कविता के योगदान का समकालीन कविता पर क्या प्रभाव पड़ा यह अरविंदाक्षन के इस कथन से देखा जा सकता है-

''समकालीन हिंदी कविता को भारतीय सामाजिक सन्दर्भ से जोड़कर देखते समय मुख्यत: उसका पूर्व अध्याय आधुनिक कविता का है या उसके पहले का छायावादी युग भी समाहित होता है। जिस त्वरित गति से भारतीय समाज में परिवर्तन लक्षित हुए हैं, जिनके साथ समकालीन कविता का जितना गाढ़ा रिश्ता है, जिनकी पृष्ठभूमि संक्रमणशील सामाजिक स्थितियों का सन्निवेश ही आधुनिक कविता में हुआ है, उसे दिशा देने में पर्याप्त मात्रा में न सही, छायावादी कविता का योगदान भी रहा है।''[22]

निराला की सामाजिक यथार्थ पर लिखी अनेक कविताएँ समकालीन कविता के यथार्थबोध को विस्तार प्रदान करती हैं

उदाहरणार्थ 'वह तोड़ती पत्थर', 'कुकुरमुत्ता', 'सरोज स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा' आदि को देखा जा सकता है।

सुदामा पांडे 'धूमिल' की कविता तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को प्रस्तुत करती है-

''एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ
यह तीसरा आदमी कौन है?
मेरे देश की संसद मौन है।''[23]

एक अन्य उदाहरण राजेश जोशी की कविता तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर चोट करती है-

''काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे?
क्या अंतरिक्ष में गिर गई है सारी गेंदें
क्या दीमकों ने खा लिया है
सारी रंग बिरंगी किताबों को
क्या काले पहाड़ के नीचे दब गए है
सारे खिलौने
क्या किसी भूकंप में ढह गई है
सारे मदरसों की इमारतें
क्या सारे मैदान
सारे बगीचों और घरों के आँगन
खत्म हो गए हैं एकाएक''[24]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों ने जो प्रयोग भाव, भाषा एवं शिल्प के स्तर पर अपनी कविताओं में किया था वह बाद के कवियों के यहाँ भी परिष्कृत रूप में परिलक्षित होता है। उनकी कविताओं के वैयक्तिक और यथार्थ रूप, कविता की छंद के बंधनों से मुक्ति, सामाजिक विषमता, व्यंग्यपरक पद्धति का परिष्कृत रूप प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता से होते हुए समकालीन कविता एवं आज के कवियों में भी देखे जा सकते हैं।

अतिथि प्रवक्ता
सत्यवती कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. राग-विराग, संपा. रामविलास शर्मा, पृ. 80
2. क्या भूलं क्या याद करूँ-हरिवंशराय बच्चन, पृ. 190
3. आँसू-जयशंकर प्रसाद, पृ. 15
4. पल्लव-सुमित्रानंदन पंत, पृ. 75
5. प्रणय-पत्रिका-हरिवंशराय बच्चन, पृ. 36
6. वीणा-ग्रंथि, सुमित्रानंदन पंत, पृ. 124
7. निशा निमंत्रण-हरिवंशराय बच्चन, पृ. 47
8. मधुकण-भगवती चरण वर्मा, पृ. 61
9. गुंजन, सुमित्रानंदन पंत, पृ. 16
10. कामायनी (श्रद्धा सर्ग)-जयशंकर प्रसाद, पृ. 54
11. चिदंबरा-सुमित्रानंदन पंत, पृ. 38
12. बेला-सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृ. 75
13. कुरुक्षेत्र-सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, पृ. 111
14. तोड़ती पत्थर-(राग विराग) संपादक रामविलास शर्मा, पृ. 119
15. भिक्षुक (राग विराल) संपादक रामविलास शर्मा, पृ. 67
16. हुंकार (विपथगा)-दिनकर, पृ. 83
17. हिल्लोल-शिवमंगल सिंह 'सुमन' पृ. 83
18. धूप के धान-गिरिजा कुमार माथुर, पृ. 31
19. तीसरा सप्तक, संपादक अज्ञेय, पृ. 150
20. तार सप्तक, संपादक अज्ञेय, (सत्यम शिवम सुन्दरम) रामविलास शर्मा, पृ. 204
21. हिंदी नवलेखन-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 32
22. रश्मि-महादेवी वर्मा, पृ. 43
23. समकालीन हिंदी कविता-ए. अरविंदाक्षन, पृ. 19
24. कल सुनना मुझे-सुदामा पांडे धूमिल, पृ. 6
25. नेपथ्य में हँसी (बच्चे काम पर जा रहे हैं) राजेश जोशी, पृ. 39-40

सिनेमा में किन्नर छवि

डॉ. अभय रंजन

स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त हमारे समाज में और एक लिंग के लोग रहते हैं। जिन्हें समाज में छक्का, हिजड़ा, किन्नर, थर्ड जेंडर, मामू, बकयक्का, तृतीय लिंग आदि नामों से जाना जाता है। यह तृतीय लिंग समाज मे हाशिये पर जीवन जीते हुए भी अपनी अस्मिता और जीवन दोनों को बचाने के लिए समाज में अपनों के बीच संघर्ष कर रहे हैं। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार तीसरी दुनिया का होना बेमतलब है। मानव जाति की पूर्वधारणा है कि लिंग के दो घटक हैं। वे हैं स्त्री और पुरुष। जब कोई बच्चा माँ की कोख से नवलोक में पांव रखता है तब उस पर लिंग व्यवस्था का अतिक्रमण हो जाता है। निरीह एवं बेसुध मन में चिंता उगती है कि वह पुरुष है या स्त्री। अगर कोई हमारे अस्तित्व पर उँगली उठाएँगे तो हमें कैसा लगेगा? जहाँ हमें कोई स्त्री और पुरुष के रूप में नहीं मानते तो हमारी मानसिक दशा कैसी होगी? यह एक अलग दुनिया की कहानी नहीं है। किन्नर सामाजिक यथार्थ और सच्चाई है। यह पुराण से लेकर वर्तमान तक का सच है। अगर पुरुष पहली श्रेणी है, स्त्री दूसरी है तो इनको लिंग व्यवस्था में तीसरी श्रेणी का दर्जा प्राप्त होना जरूरी है। किन्नर अलग दुनिया का प्राणी नहीं बल्कि इसी समाज का अटूट हिस्सा है। किन्नर विभाग की समस्या वर्तमान समय में स्त्री पुरुष वर्ग के सामने एक प्रश्न चिन्ह के रूप में खड़ा रहता है। फिल्म निर्माण नई विचारधारा और नवीन विषय को उजागर करके लोकप्रिय होने लगे। नारी समस्या, दलित समस्या, निम्न वर्ग की समस्याएँ एवं प्राकृतिक समस्याएँ फिल्म के केंद्र में आई। स्त्री, दलित, निर्वासित वर्ग, पिछड़े वर्ग आदि पर फिल्म निर्माताओं की नजर जल्दी पहुँच गयी। लेकिन सामाजिक रूढ़ियों से त्रस्त किन्नर या ट्रांसजेंडर को फिल्म निर्माताओं ने नजर-अंदाज किया। अगर नजर गयी भी तो गौण रूप में स्थान दिया जाता रहा।

विश्व फिल्म में किन्नर से संबंधित काफी फिल्में बनी हैं। इसकी तुलना में उसी समय भारतीय फिल्मों में किन्नर समस्या को जितना महत्व मिलना था वह न के बराबर रह गया। लेकिन समय के साथ-साथ फिल्म निर्माताओं की सोच में भी बदलाव आया और हाल में जितनी फिल्म निकली हैं उसमें किन्नर के प्रति सकारात्मक विचार देखने को मिला है। इनकी जीवन-गाथा को चित्रित करते हुए सामाजिक स्तर पर होने वाली समस्याओं का चित्रण गंभीरता के साथ होने लगा है। समाज की पूर्व परंपरा और अलिखित नियमों के प्रति उनका रोष, सामाजिक हक की लड़ाई का चित्रण फिल्मों में होने लगा। हमारे जीवन में सिनेमा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आज सिनेमा हमारी हर मानसिक परिस्थिति की पूर्ति करता है। साहित्य की तरह ही सिनेमा भी बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। स्क्रीन पर दिखाए जाने वाले हर किरदार को हम उसी रूप में स्वीकारते हैं जिस तरह वह दिखाये जाते हैं। सिनेमा के बदलते दौर में अनेकों विषयों को देखा गया। ''सिनेमा अपने विविध विषयों के चुनाव के लिए समाज पर आश्रित है। सिनेमा कितना भी व्यवसायिक हो पर उसमे अगर सामाजिकता का सरोकार न हो तो वह चल नही सकता''। हर सिनेमा में समाज के लिए कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होते हैं। साहित्य के इन बदलाव के कारण सिनेमा के कथानक में भी अपेक्षित बदलाव देखे गए हैं। इस पर देखा जाए तो साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के प्रतिबिंब हैं। आज की फिल्में नायक प्रधान न होकर

हाशिये के लोगों पर केन्द्रित हो गयी है। एक समय जब हिंदी सिनेमा में दिव्यांगों एवं तृतीय प्रकृति के लोगों अर्थात् किन्नरों को हंसी मजाक के लिए फिल्मों में दिखाया जाता था परंतु आज यह सिनेमा की मुख्य भूमिका के रूप में देखे जा रहे हैं जिसका एक कारण समाज के दृष्टिकोण में आये बदलाव को माना जा सकता है। 105 वर्ष के सिनेमा में आज समाज की अपेक्षायें सिनेमा के प्रति अधिक रुचिकर हो गयी है। सिनेमा सिर्फ मनोरंजन तक सीमित न रहकर बहुत ही उद्देश्यपूर्ण बनता जा रहा है। इससे हम समाज की समस्त सच्चाइयों से अवगत होते हैं। देखा जाए तो सिनेमा समाज का आईना है जिसमें आम आदमी से लेकर खास आदमी की छवि दिखती है उन्हीं में से एक जाति है थर्ड-जेंडर। जिसे समाज अन्य नामों से अवगत कराता है हिजड़ा, किन्नर, थर्ड-जेंडर आदि। पिछले कुछ सालों से इन्हें समाज में एक आम आदमी से खास आदमी का हिस्सा बनाया गया है इसलिए समाज, सहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक बन गए हैं। अमर-अकबर-एंथेनी, कुंआरा बाप, हम आपके हैं कौन, मैंने प्यार किया जैसी फिल्मों में यह केवल पुत्र जन्म पर बधाइयां गाते हैं। परंतु समाज में परिवर्तन के साथ-साथ सिनेमा में भी इनका स्थान परिवर्तन हुआ है। तम्मना, संघर्ष, वेलकम टू सज्जनपुर, सलाम बॉम्बे, रज्जो जैसी फिल्मों ने इस वर्ग की उपस्थिति प्रशंसनीय बनाई है।

वेलकम टू सज्जनपुर- श्याम बेनेगल ने निर्देशित की है। इसमें मुन्नी मुकरी जो एक हिजड़ा है वह सज्जनपुर गांव से सरपंची चुनाव लड़ता है क्योंकि गाँव में राम सिंह की दादागिरी है जिससे कोई उसके विपक्ष में चुनाव नहीं लड़ता। मुन्नी की जाति का गाँव में कोई नहीं फिर भी मुन्नी चुनाव लड़ती है और 347 मतों से विजयी होती है। मुन्नी कहती है ''भारत वर्ष को अब सोचना होगा। अब सोचने का समय आ गया है। हम हिजड़े भी इंसान होते हैं। हमारे सीने में भी दिल धड़कता है हमारी भी भावनायें होती हैं।''इस फिल्म का यह गीत ''आदमी आजाद है देश स्वतन्त्र है, राजा गए रानी गयी अब तो प्रजातंत्र है।'' फिल्म की मनोदशा को व्यक्त करता है।

तमन्ना - किन्नरों के हृदय की मार्मिकता प्रकट करने वाली फिल्म है तमन्ना। यह दिल्ली के एक सच्ची घटना पर आधारित फिल्म है जिसे महेश भट्ट द्वारा निर्देशित किया गया है। इसमें परेश रावल ने एक हिजड़े का किरदार निभाया है। रमजान के पवित्र महीने में ईद की पूर्व संध्या पर पुत्र की चाह रखने वाले एक परिवार में पुत्री ने जन्म क्या लिया मानो घर परिवार में पुत्री के जन्म पर उदासी छा गयी हो। बच्ची की माँ उसको एक कचरे के डिब्बे में डाल आती है। लेकिन हिजड़े की भूमिका निभाने वाले परेश रावल ने उस बच्ची को अपनी समझकर उठा लाता है और पालन-पोषण करता है। लेकिन जब वह लड़की बड़ी होती है तो उसे टिक्कू (हिजड़ा) को छूने में भी घिन आती है। टिक्कू ने उसकी पढ़ाई के लिए अपने सारे गहने और घर बेचकर उसका एडमिशन एक प्राइवेट स्कूल में कराया था। जिसने उसके लिए अपना सब कुछ कुर्बान किया वही लड़की उसे अब्बू कहने में शर्म महसूस करती है क्योंकि वह एक हिजड़ा है। लड़की कहती है -

कौन है यह आदमी सलीम चाचा
ये मेरे अब्बू नहीं हो सकते
मैं तुम्हारी बेटी नहीं हो सकती
मुझे ये सोचकर उल्टी आती है
कि इन हाथों ने मुझे कभी छुआ भी होगा
यह आदमी एक हिजड़ा है

यह कैसा संसार है। यहां आदमी-आदमी में भेद करता है। हिजड़ा जीवन को सार्थक करती है यह फिल्म। इस फिल्म में सलीम चाचा का कथन ''अगर यह हिजड़ा है तो लानत है हम दुनिया भर के मर्दों पर।''

बोल- ऐसे ही किन्नरों की मानसिकता को समाज में लाने वाली एक फिल्म बोल। इसे सोहिब मनसूर ने निर्देशित किया है। जहां लगातार चार बेटी होने के बाद बेटे की चाह रखने वाले परिवार में पांचवां हिजड़ा पैदा होता है। जिसे समाज में उस समय कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इस फिल्म को आतिफ अशलम के द्वारा एक नई भूमिका दी गयी है। यह फिल्म एक पाकिस्तानी परिवार की कहानी है। उसको यानी हिजड़े को परिवार पूरे समाज से छुपा कर रखना चाहता है। इसी चाह में उसे बेटा बनाने की कोशिश करते हैं। बेटे की तरह कपड़े पहनाते हैं, बेटे की तरह चाल-ढाल सिखाते हैं परन्तु उसके अपने अंदर के हॉर्मोउन्स को कोई परिवर्तित नहीं कर सकता। इसीलिए उसके पिता समाज के डर से उसे बचपन से ही मारना चाहते थे परंतु उसकी बहन और माँ हमेशा उसे बचा लेती है। पिता ने अपने परिवार में उसे जगह जरूर दी थी मगर कोई खास दर्जा नहीं दिया था। उसके लिए उसका कोई महत्व नहीं था। लाख कोशिशों के बावजूद भी उसके बर्ताव से समाज को पता चल गया कि वह एक हिजड़ा है और

कुछ लोग उसके साथ छेड़खानी भी करते हैं। परिवार उसे घर से बाहर नहीं निकलने देता इसी डर से लेकिन अंत वह अपने पिता के हाथों ही गला घोंटकर मार दिया जाता है। यह कैसा अनर्थ है कि समाज में ऐसे लोगों को कोई दर्जा प्राप्त नहीं दिया गया जो अपने परिवार के सदस्य के हाथों ही मारा जाता है। हिजड़ा के मन की ऐसी मार्मिक व्यथा को इस फिल्म में दिखाया गया है कि परिवार में चाहे कितने ही लोग उसे स्वीकार कर ले परन्तु एक लोग के स्वीकार न करने पर उसे अंत में मृत्यु अवश्य प्राप्त होती है।

रज्जो- यह विश्वास पाटेल द्वारा निर्देशित की गई है। रजत पटल ने इसमें हिजड़े की भूमिका निभाई है। रियल लाइफ से रील लाइफ तक पहुंचे हिजड़े को आज हिंदी सिनेमा में किसी न किसी प्रकार के किरदारों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते ही हैं। इस फिल्म में महेश मांजरेकर ने हिजड़े बेगम का किरदार निभाया है बेगम कोठा चलाने वाली है। जो गाँव से लाई गई लड़कियों की व्यापारी करती है परन्तु भावनात्मक रूप से वह लड़कियों के साथ है। इसलिए कोठे की तवायफ रज्जो जब चंदू से प्रेम करने लगती है तो वह उससे मिलने की आजादी दे देती है। इतना ही नहीं रज्जो को पैसों के बल पर खरीद कर बार चलाने की लालसा रखने वाला भांडे-भाऊ जब उनके प्यार के बीच आता है तो बेगम उसे रास्ता दिखा देती है और सामान्य मनुष्य से ऊपर उठकर उन दोनों को आजाद कर देती है। इस प्रकार इस फिल्म में भी किन्नर पुरुष समाज को राह दिखाती नजर आती है। एक तरफ रज्जो को सगी बहन और जीजा है जो मुंबई में फ्लैट खरीदने की लालसा में अपनी बहिन को बेगम को बेच देते हैं दूसरी ओर भांडे-भाऊ जो उससे बार में डान्स करवाकर पैसे कमाना चाहता है और तीसरी है बेगम जो अपने धंधे की परवाह किये बिना उसे आजाद कर देती है। बेगम से बढ़कर मानवीयता कहीं नजर नहीं आती।

शबनम मौसी - सन् 2005 में मध्यप्रदेश की साधारण किन्नर से विधायक बनने वाली शबनम मौसी पर इसी नाम से बनी फिल्म किन्नरों को पहली बार मजाक के विषय से हटाकर गंभीर और सोचने का विषय बनाती है। यों तो कहा जा सकता है कि किन्नरों के वास्तविक जीवन और सच्ची घटना पर आधारित यह पहली फिल्म है जो उनके दुख-दर्द की सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति की गई है। फिल्म मध्यप्रदेश के सुहागपुर के पूर्व विधायक किन्नर शबनम बानु के निजी और भौतिक जीवन पर आधारित है। शबनम बानु के जन्म से लेकर चुनाव तक की समस्याओं का चित्रण इसमें किया गया है। एक पात्र को केंद्र में रखकर अत्यंत गंभीरता एवं रोचकता के साथ कथा आगे बढ़ती है। फिल्म की शुरुआत में पच्चीस साल तक मुबंई में शबनम के जीवन और बाद के अनूपपुर के जीवन का विवेचनात्मक अध्ययन हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। जिस गर्भ से पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष का जन्म होता उसी गर्भ से किन्नर शबनम का भी जन्म हुआ। शहर के पुलिस अफसर के घर में जन्म शबनम की बधाई में आए किन्नर उसे जबरदस्ती लेकर जाते हैं क्योंकि हलीमा और संघ समझ गया था कि जिसके बधाई के लिए वह नाचने आए हैं वह एक किन्नर है। बच्चे को बिरादरी में ले जाने के बाद हलीमा बच्चे का पालन पोषण करती है। हलीमा उसको शबनम नाम रखती है। जब बच्चे को पालने का सौभाग्य मिल जाता है उसके अंदर छुपी मातृत्व की भावना धारा की तरह फूट निकलती है। हलीमा गुरु से कहती है-''हलीमा को आज तुमने वह दर्जा दिया, जो दर्जा खुदा भी देने में बेबस्ता है। माँ का दर्जा हलीमा माँ तेरे इज्जत के से खयामत तक शुक्र गुजारेगी अम्मा।'' शबनम की देख-रेख बिरादरी में अच्छी तरह हुई। शिक्षा, संगीत एवं नृत्य में तालीम दिया। तालीम की पूर्ति के बाद कहीं काम नहीं मिला क्योंकि वह किन्नर थी। जहाँ भी गया उनको यही जवाब मिला-''कभी हिजड़े को किसी ऑफिस में काम करते देखा है।''

भारतीय फिल्म में कितनी शबनम हैं?अगर किन्नर की कथा हो रही है तो उसमें कितने किन्नर भूमिका पेश करती है। हिंदी फिल्म में हाशिये समाज कभी-कभी स्थान पा रहा है। लेकिन स्थायित्व कहाँ है? समाज में किन्नर की समस्या को पेश करने में भरद्वाज जी ने जो प्रयास किया है वह सराहनीय है। हाशिये लोग की दशा को फिल्म में प्रस्तुत करने के साथ किन्नर का सान्निध्य भी पक्का करना है। फिल्म की बातों से परे इनकी जीवन क्या है इसे परखना जरूरी है। हिंदी फिल्म में किन्नर का चित्रण कम हुआ है। लेकिन समय के साथ बदलाव जरूर है। सशक्त रूप में इनकी जीवन पलों को फिल्म अंकित किया है। जो अंकन किन्नर को लेकर हुआ है इसकी वास्तविकता को भी परखना जरूरी है। आज हिंदी सिनेमा में हिजड़े रियल लाइफ से रील लाइफ तक पहुंच गए हैं। इनके जीवन पर बनी फिल्मों में महेश भट्ट की तमन्ना, कल्पना लाजमी को दरम्यां, श्री धर की रंगायन की गुलाबी आईना,

विश्वास पाटिल की रज्जो, योगेश भारद्वाज की शबनम मौसी जैसी कई फिल्म हैं जो समाज में किन्नरों की छवि को सिनेमा के माध्यम से दिखाते हैं और उनकी समस्त परिस्थिति से हमें अवगत कराते हैं। बहुत समय के पश्चात आज इनको आज इनको समाज में कुछ हद तक सम्मान प्राप्त हुआ है लेकिन आज भी इनका जीवन कठिनाइयों से घिरा है। डॉ. दयाशंकर कहते हैं–''साहित्य और सिनेमा कल्पना और व्यवसायिकता में विशेष आग्रह के बावजूद अपनी कच्ची सामग्री कमोवेश समाज मे लेता है यहां तक कि दोनों अपने प्रायोजनों में वह आनंद हो चाहे मनोरंजन, सामाजिक ही होते हैं।''

सह प्रोफेसर
हिन्दी-विभाग, हिंदू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल - abhayhindi@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. मिसाल - चंद्रकांत सिनेमा और साहित्य- पृ.-12
2. दयाशंकर, समाज, साहित्य और सिनेमा - स. पुनीत विशरीयब, राज नारायण शुक्ल भारतीय सिनेमा का सफरनामा, पृ.-72
3. कुमार, अरुण यहां से सिनेमा, साहित्य भंडार इलाहाबाद, पृ.-135
4. आधुनिक समाज में किन्नर छवि-मोनिका दुबे, स.- समाज और किन्नर- सुमन भाटी, पृ.-24

धनंजय दुबे

गुरु गोविन्द सिंह कृत चण्डी चरित्रः काव्यशास्त्रीय विश्लेषण

उत्तरमध्यकालीन काव्य रचनाओं में मुख्यतः रीतिपरक एवं शृंगारिकता का वर्चस्व दृष्टिगत होता है, परंतु इसके अपवादस्वरूप किंचित कवि ऐसे भी साहित्य पटल पर उदित हुये जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक अंतर्द्वन्द्वों एवं देशकाल के अनुरूप काव्य रचना की। इनमें भूषण का नाम मुख्यतया लिया जाता है, जिन्होंने प्रचलित परिपाटी से हट कर वीरता एवं औदात्यपूर्ण काव्य की रचना की, इसी श्रृंखला में सिखों के दशम् गुरु गोविन्द सिंह जी का नाम भी अग्रगण्य है, जिन्होंने न केवल अपनी लेखनी से सुप्त भारतीयों की चेतना जागृत की अपितु रणक्षेत्र में अपने शौर्य एवं रणकौशल से शत्रुओं को कड़ी टक्कर दी।

उनके इस योद्धा रूप से आज भारत का हर एक नागरिक भली-भाँति परिचित है, परंतु उनके कवि रूप एवं रचनाओं तक साहित्यान्वेषियों का ध्यान किंचित कम ही आकर्षित हुआ है। इस सन्दर्भ में 'धर्मपाल मैनी' का यह कथन दृष्टव्य है- ''गुरु गोविन्द सिंह का सर्वांगीण उज्ज्वल व्यक्तित्व इतना सशक्त और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ, कि उनमें अनायास ही भक्ति और शक्ति का अद्‌भुत मणि-कांचन संयोग देखने को मिलता है। उनकी भक्ति ने आडम्बरों का खण्डन कर न केवल उनको धार्मिक नेता ही बनाया, अपितु सिक्ख धर्म का उन्नायक भी सिद्ध किया और उनकी शक्ति ने उन्हें न केवल औरंगजेब के अत्याचारों का विरोध करने का शौर्य, साहस एवं अदम्य प्रेरणा प्रदान की, अपितु निष्प्राण, हत-प्रभ शौर्य, हीन, दीन, सुप्त हिन्दू जाति को अत्याचार का विरोध करने के लिये एक बार फिर से तलवार उठाने का क्रियात्मक पाठ भी पढ़ाया।''[1]

वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह जी के सम्पूर्ण साहित्यिक प्रदेय के पीछे उनका ये उद्देश्य निहित है। उन्होंने चंडी चरित्र (उक्ति विलास) की रचना भी इसी महनीय उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर की थी, एवं वे इसमें पूर्णतया सफल भी हुये। चंडी चरित्र की रचना के समय देश में विदेशी आक्रान्ताओं का अत्याचार अपने चरम पर था, अतएव गुरु जी ने हिन्दू पौराणिक दृष्टान्तों के माध्यम से सुप्त जनता को जागृत करना आरम्भ किया।

चंडी चरित्र की मूल कथावस्तु मार्कण्डेय पुराण में वर्णित भगवती दुर्गा के आख्यान पर आधारित है। डॉ॰ प्रसिन्नी सहगल के अनुसार-''चंडी चरित्र उक्ति विलास का आधार मार्कण्डेय पुराण का 'दुर्गा सप्तशती' भाग है। मूल के समान ही यह रचना अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय के अंत में 'इति श्री मारकंडे पुराणे श्री चंडी चरित्र उक्ति विलासे...' अंकित है।''[2]

चंडी चरित्र 'दशम् ग्रंथ' का सबसे समृद्ध एवं परिपूर्ण अंश है। डॉ॰ ओमप्रकाश का कथन दृष्टव्य है- ''चंडी चरित्र उक्ति विलास सबसे परिपक्व, सबसे महत्वपूर्ण रचना है तथा सबसे उपयोगी रचना है। काव्य परंपरा, भाषा लालित्य, अप्रस्तुत योजना, बिंब विधान सभी दृष्टियों से इसको उत्तर मध्य काल की शिरोमणि कृति मान सकते हैं।''[3]

चंडी चरित्र को काव्य सौष्ठव की दृष्टि से एक अनुपम एवं सौन्दर्य पूर्ण रचना मानना किंचित भी अत्युक्ति न होगी। सम्पूर्ण रचना में काव्यशास्त्रीय उपमानों का सधा हुआ एवं कौशलपूर्ण प्रयोग इसे अतुलनीय बनाते हैं। चंडी चरित्र में गुरु जी ने बिंबात्मक स्तर पर नवीन प्रवृत्तियों से सामंजस्य स्थापित करते हुये अपनी सृजनात्मक कौशलता से प्रत्येक बिंब को

सुरुचिपूर्ण लाघव से सुसज्जित किया है। डॉ. ममता सिंगला के अनुसार-''चण्डी चरित्र के रचयिता गुरु गोविंद सिंह स्वयं एक कुशल साहित्यकार योद्धा तथा सेनापति थे। यह तो स्पष्ट ही है कि चण्डी-चरित्र में युद्धों का वर्णन बहुत अधिक हुआ है तथा कवि ने युद्ध भूमि के प्रत्येक श्य एवं क्षेत्र के वीभत्स एवं भयानक तक के बिम्ब सफल रूप से व्यक्त किये हैं। इसका कारण यह है कि युद्ध प्रक्रिया से गुरु जी पूर्ण रूप से परिचित थे। प्रत्येक स्थिति से संबंधित विभिन्न चित्र उनके मानस पटल पर पूर्ण रूप से व्याप्त थे।''[4]

चंडी चरित्र एक वर्णन प्रधान काव्य है, अतएव इसमें चाक्षुष बिम्बों का प्राधान्य परिलक्षित होता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है-

''पुनि पेखि दसैं दिसि तैं बहु दानव
चंडि प्रचंड तची अंखियाँ।
तब लैकें पान जु काटि दये
अरि फूल गुलाब की ज्यों पखियाँ॥
बहु स्रोन की छींट परी तन चंडि
के सो उपमा कवि ने लखियाँ।
जनु कंचन मंदिर मैं जड़िया जड़ि
लालमनी जु बना रखियाँ॥''

चंडी चरित्र-164

चंडी चरित्र की भावाभिव्यक्ति में गुरु जी ने समस्त हिंदू जाति के गौरवपूर्ण आख्यानों में से देवी दुर्गा के चरित्र को उपजीव्य बनाया है। इसके पीछे उनकी महनीय अप्रस्तुत योजना निहित है। डॉ. ओमप्रकाश के शब्दों में-''जिस प्रकार संत तुलसीदास ने वाल्मीकि की रचना को आधार बनाकर स्वतंत्र 'रामचरितमानस' की रचना की, उसी प्रकार गुरु गोविन्द सिंह ने भी प्रयत्न किया और युग संदर्भ से पूरा लाभ उठा कर इस रचना को प्राणवती एवं स्फूर्तिप्रद बना दिया। इसी अर्थ में इस काव्य की 'चंडी चरित्र' मात्र न कहकर कवि ने 'चंडी चरित्र उक्ति विलास' नाम दिया है- इसमें चंडी के दिव्य चरित्र को आधार बनाकर राष्ट्रोत्साह वर्द्धक उक्तियों वर्णनों का विलास वैभव है।''[5]

स्वयं गुरु जी ने अपने काव्य प्रणयन के पीछे के उद्देश्य स्पष्टतरू बताया है यथा-

''चंडी चरित्र कवित्तन मैं बरन्यों सब ही रस भद्रमयी है।
एकतें एक रसाल भयौं नख तें सिख लौं उपमा सु नई है।
कौतुक हेतु करी कवि ने सतसै की कथा इह पूरी भई है।
जाहि निमित्त पढ़ें सुनिहै नर सो निसचौ करि ताहि दई है।''

चंडी चरित्र-232

और वो पावन उद्देश्य जिसकी मार्मिक एवं औदात्यपूर्ण अभिव्यंजना कवि ने निगूढ़ शब्दों में प्रस्तुत की है, जो आज भी भारतीय संस्कृति एवं क्षात्र धर्म का ध्वजवाहक बना हुआ है यथा-

''वर देहि सिवा नित मोहि इहै
सुभ कर्मन ते कबहूं न टरौं
न डरौं अरि सों जब जाई
लरौं निसचे करि आपनि जीत करों
सिखहौं सीख आपने मन कौं
इहि लालच हौं गुन तो उचरौं
जब आयु की औधि निदान बनैं
अंत ही रन मैं तब जूझि मरौं।'' **चंडी चरित्र-231**

इस सवैये में कवि के शौर्य एवं वीरता की पूर्ण झलक प्राप्त होती है, एवं उनकी विराट रचनाधर्मिता भी परिलक्षित होती है, जिसने उस समय की जनता की सुप्त मनोवृत्तियों को जागृत करने का पुनीत कार्य किया, और आज भी लाखों अनुयायियों की प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। वस्तुत: यही वो अप्रस्तुत योजना है जिसे आधार बनाकर कवि ने अपनी रचना को मूर्त रूप प्रदान किया।

यह रचना भाषा लालित्य एवं काव्य शिल्प के सौन्दर्यपूर्ण उपादानों पर भी पूर्णतया खरी उतरती है। चंडी चरित्र की भावात्मक अभिव्यंजना के सन्दर्भ में डॉ. ओमप्रकाश का ये कथन पूर्णतया समीचीन प्रतीत होता है-''कवि भावाभिव्यक्ति में अत्यंत कुशल है। उसके वर्णन जितने प्रभावशाली हैं, उतने ही सहज भी हैं। जो बिंब प्रस्तुत किये गये हैं वे पाठक के मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं।''[6]

चंडी चरित्र के उपमानों में सामाजिक यथार्थ एवं पौराणिक कथा का अद्भुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। कवि ने युद्ध वर्णनों में प्रयुक्त उपमानों में तत्कालीन समाज के जीवन की अविछिन्न झांकी प्रस्तुत की है। यथा-

''चंडी के खग्ग गदा लनि दानव रंचक
रंचक है तन आये।
मुग्गू लाई हलाई मनी तए
काछी ने पेड़ के तूत गिराये॥ **चंडी चरित्र-200**
''स्रोण पर्यो धरनी पर च्वै
रंरिज की रैनी ज्यों फूट के फैली।'' **चंडी चरित्र-157**

चंडी चरित्र की अलंकार योजना भी कवि के काव्य कौशल को पूर्णतया परिभाषित करती है। गुरु जी ने विभिन्न अलंकारों का समुचित प्रयोग कर पूर्ण लाघव का परिचय दिया है यथा–

अनुप्रास – लै सुरसंग, सवै सुरपाल सु कौपि के सत्रु की सैन पे धाये

यमक – नाम सुरय वेरव समेट समाधि समाधि लगाई।

मुंड को मुंड उतारि दयौ अब चंड को हाथ लगावत चंडी।

चंडी चरित्र कार को यदि उत्प्रेक्षा सम्राट कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्यों कि लगभग डेढ़ सौ पदों में युद्ध वर्णन को संश्लिष्ट रूप से वर्णित करने के लिये कवि ने उत्प्रेक्षा का सम्यक प्रयोग किया है यथा–

भाल भयानक देखि भवानी की
दानन याँ रन छौंड़ि पराने।
पौन के गौन के तेज प्रताप तें
पीपर के जिमि पात उड़ाने॥

चंडी चरित्र – 134

अन्य अलंकारों जैसे उपमा, रूपक एवं अन्योक्ति का भी कौशलपूर्ण निदर्शन कवि ने किया है। देवी के अंग सौष्ठव की व्यंजना करने के लिए कवि ने उपमा एवं अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा अन्योक्ति का सुन्दर प्रयोग किया है।

चंडी चरित्र के भाषा लालित्य के बारे में डॉ. ओमप्रकाश का यह कथन दृष्टव्य है– ''उक्ति विलास की भाषा नीति वही है, जो 'रामचरित मानस' की थी क्योंकि दोनों ग्रंथों का उद्देश्य समान है। तत्सम शब्दावली इसका मेएवंड है, आवश्यकतानुसार तद्भव शब्द अपनाये गये हैं, ब्रजभाषा की प्रकृति व्याकरण का नियमन करती है, पंजाब के कतिपय प्रचलित प्रयोग है।''[7]

चंडी चरित्र का छन्द विधान भी रीतिकालीन पद्धतियों के अनुरूप है। इसमें कवि ने मात्रिक एवं वर्णिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में दोहा प्रमुख है वहीं वार्णिक छंदों में सवैया का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्य है। डॉ. ओमप्रकाश के अनुसार – ''उक्ति विलास का मुख्य छंद सवैया है, जिसके मत्तगयंद, दुर्मिल तथा सुंदरी भेदों के उदाहरण इस रचना में उपलब्ध होते हैं। कवि ने भेद का उल्लेख नहीं किया, केवल सवैया नाम लिख दिया है। ये छंद वर्णन के लिये प्रयुक्त हुये हैं। परिणामत: इस कृति में जो सुंदरतम है, वह सवैया छंद में आबद्ध है।''[8]

उक्ति विलास का मूल रस वीर है, परंतु यथोचित स्थानों पर शान्त, श्रृंगार एवं वीभत्स रस सहायक रूप में प्राप्त होते हैं। डॉ. महीप सिंह के कथनानुसार– ''वे उन कवियों में नहीं हैं जो सुरक्षित स्थानों में बैठ कर वीर रस पूर्ण कृतियों की रचना दूसरों को युद्ध के लिये प्रेरित करने के लिये करते हैं। गुरु गोविन्द सिंह अपनी कृतियों से दूसरों को प्रेरित करते हैं और उनसे अधिक स्वयं प्रेरित होते हैं और प्रत्येक क्षण 'जब आयु की औधि निदान बनै अति ही रन मैं सब जूझि मरौं' आदि उदात्त भावनाओं का प्रगतीकरण करते हैं। और यही उदात्त भावना, अन्य काव्य गुणों के साथ संयुक्त होकर उन्हें हिन्दी वीर काव्य के उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित करती है।''[9]

उपरोक्त समस्त विवेचन के पश्चात् यह कहना ही समीचीन होगा कि गुरु गोविन्द की, यह रचना भाव विचार, कल्पना, शैली, भाषा, अलंकार, छंद विधान एवं रस आदि सभी दृष्टियों से भारतीय संस्कृति के पारम्परिक साहित्य का सशक्त एवं अविभाज्य अंग है। ये रचना गुरु गोविन्द सिंह की विराट एवं महनीय रचना धर्मिता को मूर्त रूप प्रदान करती है, एवं यही इसकी गौरवपूर्ण सार्थकता एवं प्रासंगिकता को परिलक्षित करती है।

पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल – dhananjaych0844@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. गुरु गोविन्द सिंह के साहित्य में भारतीय संस्कृति के तत्व–धर्म पाल मैनी, पृष्ठ 42
2. गुरु गोविंद और उनका काव्य– डॉ. प्रसिन्नी सहगल, पृष्ठ 124
3. चंडी चरित्र उक्ति विलास – डॉ. ओमप्रकाश, पृष्ठ 2
4. धर्मगाथा और गुरु गोविंद सिंह कृत चंडी चरित्र – डॉ. ममता सिंगला, पृष्ठ 150
5. चंडी चरित्र उक्ति विलास– डॉ. ओमप्रकाश, पृष्ठ 15
6. वही, पृष्ठ 24
7. वही, पृष्ठ 15
8. वही, पृष्ठ 28
9 गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता– डॉ. महीप सिंह, पृष्ठ 342

डॉ. जहाँ आरा

मृच्छकटिक में शोषित एवं उपेक्षित वर्ग : सामाजिक यथार्थ का अध्ययन

भारतीय समाज-व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों पर आधारित है जो भारतीय समाज में प्राचीनकाल से अब तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। इसी से जाति-व्यवस्था का उद्‌गम हुआ है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार यह व्यवस्था प्रमुखत: कर्म पर आधारित थी जिसमें ब्राह्मणों का कार्य समाज के लिये ज्ञानार्जन था। वह शिक्षण, पौरोहित्य, यज्ञादि अनुष्ठान का कार्य करता था। क्षत्रियों का कार्य अपने बाहुबल से समाज की रक्षा करना था। वैश्य अन्न उत्पादन एवं पशुपालन इत्यादि के कार्य करते थे और शूद्रों का कार्य इनकी सेवा करना था। किन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था में विकृतियाँ आ गईं। पहले कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन हो जाता था, किन्तु जबसे इसका आधार 'जन्म' बना, यह वर्ण-परिवर्तन असम्भव हो गया और यह बदली हुई व्यवस्था 'जाति' कहलाई। यही जाति-व्यवस्था भारतीय समाज के लिए घातक सिद्ध हो गई। श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ के भाव हावी होते चले गये और इनमें कोई अन्त्यज, नीच और कोई उच्च बन गया।

अंत्यज सर्वाधिक निकृष्ट और उपेक्षित वर्ग था। मनुस्मृति में इनकी स्थिति को और भी दयनीय और निकृष्ट बताया गया है-

न शूद्रराज्येनिवसेन्नाधार्मिकजनावृते।
न पाषण्डिगणाक्रान्तेनोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभि:॥[1]

पुरुष को चाहिए कि शूद्र के राज्य में और अधर्मी, बहुत से पाखंडी और अन्यज मनुष्यों से भरे या घिरे हुए गाँव में न रहे।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार-

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्‌बाहूराजन्य:कृत:।
ऊरूतदस्ययद्वैश्य:पद्‌मयाँशूद्रोअजायत॥[2]

अर्थात् ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्य की जंघा से और शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज-व्यवस्था में शूद्र सबसे निचले स्तर पर रहे हैं।

भारत के वैदिककाल, उत्तरवैदिककाल, रामायण एवं महाभारतकाल, बौद्ध एवं जैन कालों में लिखे गये विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरणों से निष्पेषित जातियों को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया गया। इनको शूद्र, अस्पृश्य, चांडाल एवं अद्विज के नाम से अभिहित करके तिरस्कृत, घृणित एवं हेय दृष्टि से देखा गया। वर्तमान समय में ऐसे ही लोगों के लिए 'दलित' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

निष्पेषित वर्ग का सामाजिक सन्दर्भों में अर्थ लिया जाए तो यह तथ्य उभरकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि जो जाति समुदाय से उपेक्षित, तिरस्कृत, शोषित, दमित, सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक-धार्मिक-सांस्कृतिक तथा अन्य मानवीय अधिकारों से जो वंचित रह गया हो और जिसे सामाजिक न्याय नहीं मिल सका हो, वही निष्पेषित है।

ये अस्पृश्य और निष्पेषित जातियाँ इतिहास के हर दौर में सामाजिक विषमताओं तथा सामाजिक बहिष्कार, अस्पृश्यता, जातिभेद, दासता आदि का शिकार रही हैं। मृच्छकटिक (शूद्रक रचित प्रकरण) संस्कृत साहित्य में अनोखा है, क्योंकि इसमें केवल राजाओं या देवताओं की कथा नहीं बल्कि सामान्य जन-जीवन, विशेषकर शूद्रों और निम्न वर्ग का भी यथार्थ चित्रण हुआ है। मृच्छकटिक प्रकरण पर आलोकपात करने पर यह ज्ञात होता है कि समाज की उन्नति में इनके बहुआयामी

योगदान की सशक्त भूमिका रही है, फिर भी उन्हें विभिन्न प्रकार की सामाजिक अशक्तताओं एवं शोषण का सामना करना पड़ता था। हम ऐसी ही कुछ परिस्थितियों का यहाँ उल्लेख करना चाहेंगे-

1. अतिनिम्न वर्ग की सामाजिक परिस्थिति

अनुसूचित जातियों की श्रेणी में आने वाली अधिकांश जातियाँ जाति संरचना में शूद्रों की श्रेणी में रही हैं। इस कारण जाति-स्तर में उनका स्थान सबसे निम्न रहा है। जाति संरचना में उनकी निम्न परिस्थिति को स्थायी एवं अपरिवर्तनशील समझा जाता है। मृच्छकटिक में निष्येषित वर्ग या शूद्र वर्ग में आने वाली प्रमुख जातियाँ, उपजातियाँ निम्नलिखित हैं-

नापित (नाई) : नापित का अर्थ है नाई। यह एक वर्णसंकर जाति है। उशनस् के अनुसार यह ब्राह्मण पुरुष तथा वैश्या स्त्री की सन्तान है।[3] अमरकोश में नापित को बताते हुए उनके पाँच नाम बताये गये हैं-धुरी, मुण्डी, दिवाकीर्ति, नापित और अन्तावसायी।[4] मृच्छकटिक के छठें अङ्क में इस जाति का उल्लेख हुआ है।[5]

चर्मकार (मोची) : जो चमड़े का काम करे उसे चर्मकार कहते हैं। लोकभाषा में उसे 'चमार' या 'मोची' कहा जाता है। मनु के अनुसार इनका प्रधान कार्य चर्म-सम्बन्धी था।[6] अमरकोश में चमार के पादुकृत् और चर्मकार ये दो नाम बताये गये हैं।[7]

मृच्छकटिककालीन समाज में जातिव्यवस्था कठोर दिखाई पड़ती है। जन्म से ही जाति मानने की प्रथा थी। जनता में जातिगत अभिमान उत्पन्न हो गया था। इसकी झलक वीरक और चन्दनक के विवाद में दिखाई देता है। चन्दनक चर्मकार है और वीरक नाई है। दोनों में जाति और कर्मसूचक शब्दों के प्रयोग से भरे हुए वाक् कलह की एक झलक द्रष्टव्य है-

शीर्णशिलातलहस्तःपुरुषाणांकूर्चग्रन्थिसंस्थापनः।
कर्तरीव्याप्तहस्तस्त्वमपिसेनापतिर्जातः॥[8]

टूटे पत्थर के टुकड़े को (उस्तरा तेज के लिए) हाथ में रखने वाला, पुरुषों की दाढ़ी बनाने वाला तथा कैंची (चलाने) में व्यस्त हाथ वाला (नाई) भी तू सेनापति हो गया! इस पर वीरक का प्रत्युत्तर है-

जातिस्तवविशुद्धा माता भेरीपितापितेपटहः।
दुर्मुख, करटकभ्रातात्वमपिसेनापतिर्जातः॥[9]

तुम्हारी जाति (सचमुच) में बड़ी पवित्र है। तेरी भेरी माता है, पटह पिता है, करटक (वाद्ययंत्र) भाई है। तू (चर्मकार होकर) भी सेनापति हो गया!

कुम्भकार : यह मिट्टी के विभिन्न प्रकार के बर्तन बनाता था। प्रारम्भ में मात्र यह एक व्यवसायी वर्ग था। लेकिन कालान्तर में इसे एक जाति का रूप दे दिया गया। हीनकर्मा होने के कारण ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसे पहले वर्णसंकर जाति में स्थान दिया, परन्तु बाद में शूद्र वर्ण में इसे स्थान दिया गया।[10] मृच्छकटिक में इस जाति का वर्णन मिलता है।[11]

गोप : यह ग्वाला जाति और शूद्र उपजाति से सम्बन्ध रखता है।[12] गोप जाति का वर्णन पंचरात्र, बालचरित तथा मृच्छकटिक में हुआ है।[13]

रजक : उशनस् के अनुसार यह पुल्कस पुरुष तथा वैश्या स्त्री की सन्तान है। इनका कार्य वस्त्रों की धुलाई करना है। अमरकोश में धोबी को निर्णेजक और रजक कहा गया है।[14] मृच्छकटिक के अष्टम अङ्क में इस जाति का उल्लेख हुआ है।[15]

कायस्थ : कायस्थ एक जातिविशेष है जिसका कार्य लेखन करना है। न्यायालय आदि में लिखाई का कार्य करने वाले को 'कायस्थ' कहा जाता था। व्यासस्मृति में कायस्थ बेचारे नाईयों कुम्हारों आदि के साथ परिगणित हुए हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में कायस्थों के विषय में कहा गया है-

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः।
पीडयमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः॥[16]

यही बात मृच्छकटिक के नवमअङ्क में 'चिन्तासक्त-निमग्नमन्त्रिसलिलम्' इत्यादि पद में व्यक्त की गई है। इसे माथुर भी कहा गया है। मृच्छकटिक में माथुर द्यूतसभा का संचालक है और उसे अपनी गुण्डई तथा धूर्तता पर अभिमान है।[17]

चेट : दास को चेट कहते हैं। साहित्यदर्पण में इनका वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है-शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याःस्युः॥[18]

संस्कृत के अन्य रूपकों में भी इनका वर्णन प्राप्त होता है। यह राजमहलों तथा धनिक सेवकों के यहाँ कार्यरत रहा करते थे।

चाण्डाल : मनुस्मृति में आया है कि चाण्डालों एवं श्वपचों को गाँव से बाहर रहना चाहिए। उनके बरतन तपाने पर भी प्रयोग में नहीं लाने चाहिए। उनकी सम्पत्ति कुएँ एवं गदहे थे और शवों के कपड़े ही उनके परिधान। उन्हें टूटे बर्तन में भोजन करना चाहिए। रात्रि में वे नगर या ग्राम के भीतर नहीं

आ सकते। उन्हें बिना सम्बन्धियों वाले शवों को ढोना चाहिए। वे राजाज्ञा से जल्लाद का भी काम करते हैं। वे फाँसी पाने वाले व्यक्तियों के परिधान, गहने एवं शय्या ले सकते हैं।[19] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार यह शूद्र द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है तथा इन्हें कुत्ते एवं कौओं की श्रेणी में रखा है।[20] मृच्छकटिक में इस जाति से सम्बन्धित लोगों का वर्णन आया है।

सामाजिक शोषण

समाज में बहुत नीचा स्थान होने के कारण शूद्र जातियों को विभिन्न सामाजिक शोषण और अत्याचार सहने पड़ते थे। लोग अपने उच्च पद का लाभ उठाकर निम्न वर्ग के लोगों को शोषित एवं पीड़ित करते थे। मृच्छकटिक प्रकरण में चेटशकार का सेवक है। यद्यपि वह जाति से निम्न है, किन्तु उसका चरित्र दया, करुणा, उदारता आदि दैवीय गुणों से युक्त है। यह शकार के अन्न पर पला-बढ़ा है, अत: वह उसकी सेवा में सदा तत्पर रहता है। वसन्तसेना के प्रति कोमलभाव रखते हुए भी वह चाहता है कि शकार की काम तृप्ति करे। परन्तु जब शकार वसन्तसेना को मारने के लिए उसे प्रलोभन देता है तो वह स्त्री हत्या जैसे गर्हित कार्य को करने के लिए मना कर देता है। जब शकार उसे खदेड़ता है, तब वह स्वामी की आज्ञा का पालन कर वहाँ से चला जाता है। किन्तु वसन्तसेना के समीप जाकर निवेदन भी करता है-

आर्येएतावान्मेविभव:।[21]

आर्य। तुम्हें बचाने के लिए मुझमें इतनी ही क्षमता है।

वसन्तसेना के कण्ठनिपीडन के बाद स्थावरक लौटकर उसे मूर्च्छित अवस्था में देखकर यह समझता है कि वह मर गई। वह गहरे अनुताप से भर जाता है कि गाड़ी से वसन्तसेना को वहाँ लाकर उसने उसकी हत्या कराई है। शकार पुन: वसन्तसेना के शरीर से आभूषण उतारकर उन आभूषणों का प्रलोभन उसे देता है कि वह सत्य का उद्घाटन न करे। किन्तु चरित्र से उत्तम कोटि वाला स्थावरक आभूषणों से प्रलोभित नहीं होता है। शकार उसके चरित्र की विशेषता से भाँप लेता है कि स्थावरक स्त्री हत्या जैसे गर्हित कृत्य को करने में असमर्थ है और समय आने पर वह उसका साथ नहीं दे सकता, अत: वह अपने महल की नवनिर्मित वीथी में उसे बन्दी बना देता है।[22] स्थावरक का साहस विस्मयजनक है। वह चाण्डालों की घोषणा सुनकर निर्दोष चारुदत्त को बचाने के लिए महल की खिड़कियों से अपनी बेड़ियों सहित नीचे कूद पड़ता है। उसे अपने मरने की तनिक भी चिन्ता नहीं है क्योंकि 'कुलपुत्ररूपी विहगों के आश्रयीभूतचारुदत्त की प्राणरक्षा के निमित्त मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी' ऐसा वह सोचता है। तत्कालीन समाज में शक्ति और अर्थ सम्पन्न लोगों का बोलबाला था। निर्धन निर्दोष होने पर भी कितने ही तर्क-वितर्क क्यों न दे, उसकी कोई नहीं सुनता था। स्थावरक नीचे कूदकर जब वसन्तसेना की हत्या का रहस्य विज्ञापित करता है, तब शकार वहाँ भी उसे स्वर्ण देकर सत्य को छुपाने के लिए बाध्य करना चाहता है। किन्तु स्थावरक शकार के उस उत्कोचप्रदान रूपी भ्रष्ट आचरण को भी प्रकट कर देता है। जब चाण्डाल उसकी बातों पर विश्वास नहीं करते तब उसे गहन पीड़ा होती है। उसे अपनी दासत्व की स्थिति पर तीव्र क्लेश होता है। वह सोचता है कि उसके दास होने के कारण उसके सत्य कथन पर भी विश्वास नहीं किया जा रहा। वह चारुदत्त के चरणों में गिरकर करुण स्वर में निवेदन करता है-एतावन्मेविभव:।[23] आर्य! तुम्हें बचाने के लिए मुझमें इतनी ही क्षमता है। यही कथन उसने वसन्तसेना से भी कहा था, जब शकार ने उसे डाँटकर किसी एकान्त स्थान में छिप जाने के लिए कहा था। यद्यपि स्थावरक शकार का एक दास है तथापि वसन्तसेना और चारुदत्त को बचाने के लिए जितना संभव हो सका उसने प्रयास किया। उसने अपने कर्तव्य-पालन के लिए प्राणों की बाजी तक लगा दी। वह सत्य का उद्घोषक तथा सज्जनता एवं शालीनता का पूजक है। परन्तु वहीं शकार को हम देखते हैं जो पूर्ण रूप से अपने दास को अपने पद का लाभ उठाकर कुकर्म में प्रवृत्त करना चाहता है, उसे तरह-तरह की पीड़ाएँ देता है।

अस्पृश्यता की समस्या

अस्पृश्यता शूद्र जातियों की सामाजिक समस्या एवं शोषण का एक ज्वलंत उदाहरण है। जाति-व्यवस्था में सामाजिक दूरी और पवित्रता पर विशेष जोर दिया जाता है। जाति जितनी ऊँची होती है उसके पवित्र होने की संभावना उतनी ही अधिक होती है। इसके विपरीत, जाति जितनी नीची होती है उसमें अपवित्र करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। इसी भावना ने जाति-व्यवस्था में अस्पृश्यता को जन्म दिया।समाज में चाण्डाल का स्थान सबसे निम्न था। उनको लोग दूषित तथा अस्पृश्य मानते थे। उनकी सबसे नीच वृत्ति या आजीविका थी। मृच्छकटिक के दशमअङ्क में गोह एवं आहोन्त दोनों चाण्डालों को हम ऐसी बातें करते हुए देखते हैं कि वे वध, शीर्षच्छेदन और शूलारोपण में दक्ष हैं।[24] दोषी के वध से पूर्व

चाण्डालों का कर्म था कि वे नगरवासियों के सामने घोषणा स्थल पर ढोल पीटकर अपराधी के अपराध की घोषणा करें जिससे मनुष्य उनके स्पर्श-मार्ग से हट जाएं।[25]

धार्मिक एवं सामाजिक समस्याएँ

अस्पृश्य होने के कारण ऊँची जाति के लोग इन्हें धार्मिक कृत्यों में भाग लेने नहीं देते थे। द्विज की सेवा करना ही उनका वास्तविक धर्म था। ब्राह्मणादि के सदृश उनके जातकर्मादि षोडश संस्कार नहीं होते थे। इन्हें वेदमन्त्रों के पठन-पाठन का अधिकार नहीं था। मृच्छकटिक में विदूषक के हृदय में ब्राह्मणत की जाग्रत हुई भावना देखने को मिलती है। चेट जब विदूषक से चारुदत्त के पैर धोने के लिए कहता है तब उसको क्रोध आ जाता है। वह उससे क्रोधपूर्वक कहता है-'यह चेट दासी का पुत्र होकर अब पानी ग्रहण करता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवाता है।[26] वेदों के अध्ययन का अधिकार भी केवल ब्राह्मणों को ही था। निम्नवर्ग से तो ब्राह्मण दान लेना भी उचित नहीं समझते थे। मृच्छकटिक के दशम अंक में चारुदत्त के द्वारा चाण्डालों से दान की चर्चा आने पर चाण्डाल आश्चर्यचकित होकर चारुदत्त से कहते हैं-

किमस्माकंहस्तात्प्रतिग्रहंकरोषि।[27]

क्या आप हमसे दान ले सकते हैं?

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि शूद्रक कालीन समाज में निष्पेषित एवं अस्पृश्य जातियाँ समाज में सामाजिक बहिष्कार, जातिभेद तथा दासता का शिकार थीं। समाज में इनका स्थान निम्न था। सभी उच्च जाति के लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन्हें धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था।

अतिथि प्राध्यापिका
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति /4/61
2. पुरुष सूक्त 10/09/12
3. साभार उद्धृत ,धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 133
4. अमरकोश 2/10/10
5. मृच्छकटिक 6/23
6. मनुस्मृति 4/218
7. अमरकोश 2/10/07
8. मृच्छकटिक 6/22
9. मृच्छकटिक /6/23
10. साभार उद्धृत, धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 129
11. मृच्छकटिक 8/पृष्ठ 220
12. साभार उद्धृत, धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 130
13. मृच्छकटिक 6/पृष्ठ 193
14. अमरकोश 2/10/10
15. मृच्छकटिक 8/पृष्ठ 220
16. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/336
17. मृच्छकटिक 2/पृष्ठ 64
18. साहित्यदर्पण 3/40
19. मनुस्मृति 10/51/56
20. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/13
21. मृच्छकटिक 8/पृष्ठ 242
22. मृच्छकटिक 10/पृष्ठ 314
23. मृच्छकटिक 10/पृष्ठ 314
24. मृच्छकटिक 10/1
25. मृच्छकटिक 10/पृष्ठ 304, 316
26. मृच्छकटिक 3/पृष्ठ 90
27. मृच्छकटिक 10/पृष्ठ 306

Prof. Girish Chandra Pant
(Project Director, ICSSR Major Research Project)
Dr. Ishrat Sultana *(Research Associate)*
Mukul Badola *(Research Assistant)*
Department of Sanskrit, Jamia Milia Islamia
Jamia Nagar, New Delhi-110025

संस्कृतपत्रकारिता का इतिहास एवं स्वतंत्रता संग्राम

शासक और प्रजा के राष्ट्रप्रेम से सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण होता है। जिसमें शासन की जनहितकारी नीतियाँ और समाज को प्राप्त शिक्षा का विशेष महत्त्व है। शासक अपनी नीतियों से समाज में व्याप्त राष्ट्रविद्रोहियों को दण्डित करता है वही शिक्षा से राष्ट्रवादी नागरिकों का निर्माण होता है। इन दोनों के ही समन्वय ने भारत को ज्ञान का उपासक, विविध कलाओं का जन्मदाता और श्रेष्ठ वीरों की भूमि के रूप में ख्यापित किया। जिससे इसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हुआ और इसकी कीर्तिपताका चतुर्दिक् प्रसारित हुई। जिसे सुनकर यहाँ अनेक बाह्या शासकों ने आक्रमण किया और कई वर्ष पर्यन्त शासन किया। फलत: यहाँ की मूल धार्मिक प्रवृत्तियों के नष्ट होने के साथ-साथ सामाजिक परम्पराओं का भी मूलत: विच्छेद हो गया और कुरीतियों तथा रूढ़िवादिता का साम्राज्य चारों ओर व्याप्त था। जिसका लाभ लेते हुए अनेक विदेशी धार्मिक प्रचारकों ने यहाँ के लोगों का धर्मपरिवर्तन करवाकर अपना शनै: शनै: विस्तार किया। औद्योगिक और धार्मिक विचारों को केन्द्र में रखकर सन् 1600 में यहाँ ब्रिटिश उपनिवेश ने प्रवेश किया। उसने सर्वप्रथम अपने उद्योग को स्थापित कर राजाओं के आपसी विवाद का लाभ लेते हुए स्वशासन को स्थापित किया और इसका आश्रय लेकर धर्मपरिवर्तन आदि कार्यों को भी आगे बढ़ाया।

भारतीय समाज हिन्दू और मुस्लिम दो धर्मों में विभाजित था। इन दोनों की भी अपनी विभिन्न शाखाएँ विद्यमान थीं। अत: इनमें शान्ति, एकता और समन्वय को स्थापित करने के लिए शासकों को यहाँ की न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करना आवश्यक था। जिसके लिए उन्होंने भारतीय पण्डितों से प्राचीन न्याय प्रणाली का अध्ययन किया और उसको क्रियान्वित करने हेतु ग्रन्थ निर्माण का आग्रह किया। इस अध्ययन के क्रम में उन्होंने भारतीय ज्ञान एवं वैभव को जाना। फलस्वरूप उनकी रुचि में वृद्धि हुई और अनेक पाण्डुलिपियों के अन्वेषण में तत्पर होकर विभिन्न शास्त्रों का गहन ज्ञान प्राप्त किया। जिसके फलस्वरूप तुलनात्मक साहित्य, दर्शन, अनुवाद और भाषाविज्ञान जैसी शाखाओं का भी विकास हुआ। इसका भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा उन्होंने विदेशी साहित्य और दर्शन को पढ़कर देश में व्याप्त रूढ़िवादित का खण्डन किया।

समाज में विचारों को विस्तार देने के लिए अनेक साधनों का प्रयोग होता रहा है। प्राचीनकाल में सार्थवाह, यायावर, राजपत्र और शिलालेख आदि इसके आधार थे। कालक्रम से ये सब साधन विस्तार को प्राप्त हुए इनका स्थान पत्र-पत्रिकाओं ने ग्रहण किया। जिसका प्रमुख कारण मुद्रणयन्त्रों का आविष्कार था। भारत में इसका प्रारम्भ अंग्रेजों के आगमन से हुआ। 'आगस्टस हिक्की' ने 20 जनवरी सन् 1780 में 'बंगाल बजट' साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। प्रारम्भ में इसमें ब्रिटिश शासकों के कार्यों की आलोचना आदि का उल्लेख होता था जिस कारण इसको प्रतिबन्धित कर दिया गया। किन्तु इससे प्रेरणा प्राप्त कर अनेक भारतीय भाषाओं में पत्रों का प्रकाशन हुआ। सन् 1817 को देशी भाषा का प्रथम पत्र 'दिग्दर्शन' बांग्ला में प्रकाशित हुआ। 30 मई 1826 ई. को हिन्दी का प्रथम साप्ताहिक पत्र उदन्त मार्तण्ड प्रकाशित हुआ।

मानव की नैसर्गिक प्रकृति है कि वह स्वयं को अन्यों से श्रेष्ठ के बोध से युक्त होता है। यही प्रवृत्ति अंग्रेजों में भी विद्यमान थी। उन्होंने भारतीय समाज और यहाँ के समग्र उत्सवों,

रीतियों और भाषाओं को हीन माना। इस हीनता के बोध से भारतीय समाज ग्रस्त हो चुका था। जिसका शमन करने के लिए अनेक उपक्रम विद्वानों द्वारा उपस्थापित किए गए। जिनमें मुख्य था पत्रिकाओं का प्रकाशन। संस्कृत भारत प्राचीनतम भाषा है जिसको पाश्चात्यों ने मृत घोषित कर दिया था। इसके प्रत्युत्तर में अनेक पत्रिकों का प्रकाशन हुआ जो शनैः शनैः सामाजिक सुधारों और राजनैतिक विरोध का भी हेतु बनी। संस्कृत का प्रथम मासिक पत्र 'काशीविद्यासुधानिधिः' सन् 1866 एक जून को प्रकाशित हुआ। जिसमें अप्राप्य ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों को प्रकाशित किया गया।

भारतीय समाज को व्यवस्थित जीवन शैली में आबद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों में विभाजित किया गया। संन्यासियों ने भारतीय दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों का निर्माण कर ही नहीं अपितु समाज के द्वार द्वार पर जाकर उसके उचित धर्म का भी मार्गदर्शन कर उपकृत किया। सन् 1857 की क्रान्ति से पूर्व अपने संन्यास जीवन का प्रारम्भ कर समाज में क्रान्ति का सञ्चार करने वाले महर्षि दयानन्द ने वैदिक धर्म की स्थापना और समाज में व्याप्त अंधविश्वासों को समाप्त करने के लिए 'आर्यसमाज' की स्थापना के साथ अनेक पाठशालाओं की भी आधारशिला रखी तथा मूर्तिपूजा का खण्डन कर तत्कालीन समाज को वैदिक मार्ग की ओर प्रशस्त किया।

स्वामी जी का दृष्टिकोण व्यापक था। उनके विचारानुसार मन्दिर निर्माण में लाखों का खर्च करने से अधिक उपयोगी है कारखाने खोलना। वें मूर्तिपूजा के भी विरोधी थे। अतः मूर्तिपूजकों पर कटाक्ष करने में भी कुशल थे। जब वे कानपुर में थे उन्हें ज्ञात हुआ कि पं. गुरुप्रसाद और प्रयागनारायण ने बहुत धन व्यय कर 'कैलास' और 'वैकुण्ठ' नामक दो मन्दिर बनाये थे तो उनके प्रति स्वामी जी प्रत्युत्तर था कि—

''आप लोगों ने लाखों रुपया व्यर्थ खो दिया जिसे चूहड़े, चमार और मुसलमान आदि खा गये। इससे तो अच्छा होता है कि आप कान्यकुब्ज कन्याओं का जो तीस-तीस वर्ष की कुमारी बैठी हैं, विवाह करा देते वा कोई कला-कौशल का कारखाना खोलते जिससे देश और जाति का भला होता।''[1]

ब्रिटिश शासकों और विचारकों ने देश को समग्रता से हीन भावना से भावित कर दिया था तो सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने भारतीयों को स्वदेशी की भावना के अभिसिञ्चित करते हुए कहा कि-

''कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय एवं दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।''[2]

उन्होंने देश के विभिन्न भागों में जाकर के शास्त्रार्थ कर समाज में शास्त्रों के सार्थक अर्थों का प्रतिपादन किया तथा अनेक रूढ़ियों को समाप्त करने हेतु उपदेश प्रदान किया। स्वामी जी स्त्रीशिक्षा, विधवा-विवाह के पक्षकार होने के साथ-साथ धर्मशुद्धि के भी प्रबल समर्थक थे तथा पर्दा-प्रथा के विरोधी थे। 4 फरवरी सन् 1877 सहारनपुर में मुन्शी चण्डीप्रसाद अम्बहटा निवासी ने स्वामीजी के प्रश्न किए उनके उत्तर में इन सबका दर्शन होता है—

''विधवा का पुनर्विवाह होना चाहिए और पुरुष को एक स्त्री के जीवित होते हुए दूसरा विवाह न करना चाहिये। विधुर पुरुष को अधिकार है कि दूसरा विवाह करे या न करे, ऐसे ही विधवा को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार है।... यदि कोई ब्राह्मण, वैश्य आदि धर्म से पतित होकर ईसाई मुसलमान हो जावे और फिर पश्चात्ताप करके वैदिक धर्म में वापस आना चाहे तो उसे अवश्य वापस ले लेना चाहिये। ... स्त्रियों को भी विद्या पढ़नी चाहिये क्योंकि बिना विद्या के मनुष्य पशु समान रहता है। स्त्रियों को पर्दे में रखना अनुचित है, यह नहीं है कि बिना पर्दे के स्त्रियाँ सदाचारिणी नहीं रह सकतीं, पर्दे में भी पाप होते हैं।''[3]

उनके इन विचारों को प्रसारित करने हेतु सन् 1896 में आर्यसमाज प्रयाग से 'आर्यसिद्धान्त' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। जिसके सम्पादक स्वामी के शिष्य भीमसेन शर्मा तथा सहसम्पादक ज्वालादत्त शास्त्री थे।[4] स्वामी दयानन्द के और वेदों के प्रसार हेतु जहाँ उत्तर में उक्त पत्रिका सम्पादन हो रहा था वहीं कलकत्ता में 'उषा' पत्रिका ने वेदों के प्रचार में मुख्य भूमिका का निर्वहन किया। इसका प्रकाशन सन् 1889 में 16/1, घोष लेन, सत्यप्रेस, कलकत्ता से हुआ। इसके सम्पादक 'सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य' थे।[5]

ब्रिटिश सरकार अपने शासन के माध्यम से भारतीयों को शोषित करने में दृढ़प्रतिज्ञा थी। क्योंकि उन्हें ब्रिटेन में स्थित अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल और मजदूरों की आवश्यकता पूर्ति यहाँ से करनी थी। फलस्वरूप यहाँ चारों ओर दरिद्रता

और सामाजिक विषमता व्याप्त थी। 'अन्नदाचरण तर्कचूडामणि' ने सन् 1895 में 'क्व सुखम्' तथा 'किमेष भेदः' नामक कविताओं के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न विषमताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया और एक विशाल जनान्दोलन की भूमिका तैयार की। 'किमेष भेदः' कविता के माध्यम से उन्होंने समाज के दो वर्गों का सूक्ष्म चित्रण किया है वे लिखते हैं कि एक वर्ग तो है जो चन्द्रमा की श्वेत किरणों के समान, शीतलता से युक्त महलों में निवास करता है, वहीं दूसरा पर्णकुटीर में निवास कर रहा है, समान सृष्टि में यह कैसा भेद। किसी के पास खूब सारे स्वादिष्ट खाने योग्य रसमय पदार्थ हैं लेकिन वह खाने में समर्थ नहीं है किसी के पास चूर्ण तक नहीं है खाने को। किसी के पास पहनने को वस्त्र है, शयन के लिए बिस्तर है किसी के पास सोने को भी नहीं है धरती भी शुष्क है –

''एको विलासो शशि-रश्मि-धौतप्रासादवातायन-वातसेवो।
अन्यश्चिरं पर्णकुटीरवासो किमेष भेदः समदर्शि-सर्गे? ॥1॥
एको रसश्चा-सुखदं सुभाज्यं प्राचुय्यतो भोक्तुमहो! न शक्तः।
न विन्दतेऽन्योऽपरसान्न-चूर्णं किमेष भेदः
समदर्शि-सर्गे? ॥2॥
एकः शिरीषाति कुमारवस्त्रावृतां सुशय्यामधिशेत एव।
न लभ्यतेऽन्येन धरापि शुष्का किमेष भेदः
समदर्शि-सर्गे? ॥3॥''[6]

किस प्रकार समाज का एक वर्ग सुख में निमग्न है। इसको 'क्व सुखम्' कविता के माध्यम से बताते हुए कवि लिख रहा है कि सुख कहाँ वाञ्छनीय है? देश में समाचार है कि नगर में अन्य देश का व्यापार चल रहा है। ग्राम और राज्य में रहने से क्या लाभ, समुद्र से पार से आए वस्त्रों से भूमि आच्छादित है। महलों में प्रणय गीत और प्रमोद हो रहे हैं। भूख लगने पर स्वादिष्ट और रसमय भोजन तैयार किए जाते हैं, बिस्तर कोमल फूलों जैसा होता है और उनके बिस्तर मनमोहक होता है। अतः सुख कहाँ प्राप्त नहीं हो रहा है? अर्थात् सब जगह है। सुख की पराकाष्ठा का कैसे भोग कर रहे हैं इसको विस्तार से वर्णित किया गया है –

''सुखं क्व काम्यं? चरतीति
वार्ता देशेऽन्यदेश नगरे विपण्याम्।
ग्रामेच राज्ये बहुना किमास्ते
पयोधिवस्त्रावृतभूमिमध्ये ॥1॥
सुखं क्व काम्यं? चरतीति वार्त्ता
विलासवस्तूपहिते सरामे।
सकानने सज्जित रञ्जितान्ते हर्म्ये
प्रमोदप्रणयाभिगीते ॥2॥
सुखं क्व काम्यं ? चरतीति वार्त्ता
प्रायः सुजीर्णे पृथिवी-शयाने।
पर्णे कुटीरेऽपतृणे विदीर्णे
ग्रहैः कराध्यसितमध्यभागे ॥3॥
सुखं क्व काम्यं? चरतीति वार्त्ता
प्रदीप्तकार्त्तस्वररम्यवप्र-प्रवेष्टितायां समितौ
महत्यां अनन्तविज्ञध्वनिनादितायाम् ॥4॥
सुखं क्व काम्यं चरतीति वार्त्ता?
प्रभातकाले स्मरणीय पुण्य –
पवित्रसाधु-प्रविभूषितेऽस्मिन् तीर्थे
सुपर्वप्रतिमूर्त्तिपूर्वे ॥5॥''[7]

उक्त दोनों ही कविताओं का प्रकाशन 'संस्कृतचन्द्रिका' में हुआ था। जिसका प्रकाशन सन् 1893 में कलकत्ता से प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक 'जयचन्द्र सिद्धान्तभूषण भट्टाचार्य' थे। जिन्होंने चार वर्षों तक इसका सम्पादन किया। पाँचवें वर्ष के प्रथम अङ्क से अप्पाशास्त्री के सम्पादकत्व में इसका प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका में इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य और समालोचना आदि से सम्बन्धित लेख प्रकाशित होते थे।[8]

भारतीय समाज में अपने इतिहास इत्यादि के विषय में गर्वानुभूति तथा एकता स्थापित करने के लिए ऐतिहासिक महापुरुषों को आश्रित कर संस्कृतरचनाओं को निबद्ध किया जा रहा था। जिसमें 'पं. अम्बिकादत्तव्यास' रचित 'शिवराजविजयम्' का अन्यतम स्थान है, क्योंकि शिवाजी के जीवन से भारतवर्ष को प्रभावित कर ऐक्य के बन्धन में बाँधना सरल था क्योंकि उनके कार्यों से उत्पन्न चेतना समग्र भारत में व्याप्त थी जिसको मात्र उद्दीप्त करना था। व्यास जी भारतीय समाज को इतिहास के अनेक दृष्टान्तों तथा शिवाजी के चरित द्वारा तत्कालीन शासकों की दुर्नीतियों से परिचित कराते हुए लिखते हैं कि धिक्कार है हमको, जो आज भी सुखपूर्वक सांस लेते हुए और विचरण करते हुए जीवन यापन कर रहे हैं तथा गर्व से अपने को आर्यवशंज बोल रहे हैं।[9] मुगलों की पराधीनता के पश्चात् पुनः बेड़ी में बन्दकर जीवन व्यतीत कर मिथ्या गर्व से गर्वित है। अर्थात् वर्षों मुगलों के दास रहकर सम्प्रति सरकार के अत्याचार का विरोध न कर शान्तिपूर्वक बैठे हैं। ज्ञात होकर भी अज्ञानी बनए हुए हैं।

जिन देवालयों में प्रतिष्ठापित देवताओं कीआराधना से

समाज में एकता स्थापित होती थी, विभिन्न शास्त्रों तथा कलाओं का विकास होता था, वेदध्वनि गुञ्जायमान होती थी, वे निनाद सम्प्रति शून्य हो गया है, वेद जो संस्कृत के मूल हैं, पुराण जिन्होंने वेदों के गूढ़ार्थ को उद्भासित किया, धर्मशास्त्र जिसने मनु और विभिन्न शान्तिप्रदायक और प्रजाप्रिय राजा प्रदान किए उन (ग्रन्थों) को फाड़कर, मन्दिरों को तोड़कर नष्ट कर दिया है –

''क्वाधुना मन्दिरे मन्दिरे जयध्वनिः क्व सम्प्रति तीर्थे-तीर्थे घण्टानादः क्वाद्यापि मठे मठे वेदाध्ययनम्। अद्य हि वेदा विच्छिद्य वीथीषु विक्षिप्यन्ते, धर्मशास्त्राण्युद्धृत्य धूमध्वजेषु ध्मायन्ते, पुराणानि पिष्ट्वा पानीयेषु पात्यन्ते, भाष्याणि भ्रंशयित्वा भ्राष्टेषु भर्ज्यन्ते। क्वचिन्मन्दराणि भिद्यन्ते..॥''[10]

धर्मशास्त्रों ने महिलाओं की रक्षा हेतु अनेक कठोर कानूनों का प्रतिपादन किया था। जिनकी म्लेच्छों के द्वारा उपेक्षा की गई और दाराओं का अपहरण किया गया, धनों को लूटा गया इस कारण चारों ओर आर्तनाद, रुधिरधारा प्रवाहित होती रही। अर्थात् चारों ओर युद्ध की परिस्थिति विद्यमान हो गई थी। जिससे समाज को व्यापक हानि हुई–

''क्वचिद्दारा अपह्रियन्ते, क्वचिद्धनानि लुण्ठ्यन्ते, क्वचिदार्तनादाः, क्वचिदुधिरधाराः, क्वचिदग्निदाहः, क्वचिद् गृहनिपात..॥''[11]

देश में कृषि वर्षा पर आधारित रही है। मानसून की वर्षा न होने पर अल्प उपज, व्यापक सङ्कट और खाद्यान्न की कमी का कारण बनता था। जिससे किसान और खेतिहर मजदूर भूख की असहय पीड़ा सहते हुए मृत्यु के ग्रास बन जाते थे। भोजन एवं नौकरी की तलाश में शहर की ओर पलायन करते थे। इन सबको देखते हुए उन्होंने केसरी में अनेक लेख लिखे और 'पूना सार्वजनिक सभा' के तत्वावधान में स्वयंसेवकों को ग्रामों में भेजकर सहायता प्रदान की। आधिकारिक रिपोर्टों के अनुसार सन् 1876 से 1900 तक की पच्चीस वर्षों की अवधि के दौरान भारत में अठारह अकाल पड़े। अकाल और इससे उत्पन्न बीमारी से 19,000,000 लोगों की जान गई।[12]

सन् 1898 में भारत के विभिन्न भागों में दुर्भिक्ष पड़ा। जिसके बीभत्स रूप का वर्णन करते हुए 'अन्नदाचरणचरण-तर्कचूडामणि''बङ्गाल' के 'नोयाखाली, सोमपाडा' से सराकर के विरुद्ध संस्कृतचन्द्रिका में 'क्व गच्छमि' कविता में लिखते हैं कि

''भयंकरी पापनिशाचरीयं
दिगङ्गनाङ्गे मलिनत्वहेतुः।
इतस्ततो भ्राम्यति सर्वदैव
हरे क्व गच्छामि बत क्व शान्तिः॥1॥
अत्तुं सुखेनेयमिहाशु दीना-
नस्मा शान्तसत्वग्माननं तत्,
प्रसारयामास सुभीषणाभा
हरे क्व गच्छामि बत क्व शान्तिः॥2॥
एकाप्यसौ किं बहुधा विभाति
यतोहि सर्वत्र सदैव वीक्षे।
मालिन्यभाजं प्रतिमूर्तिमस्या
हरे क्व गच्छामि ननु क्व शान्तिः॥3॥''[13]

लॉर्ड कर्जन सन् 1899 से 1905 तक भारत का वायसराय था। वह भारतीय विद्वानों से घृणा करता था। सन् 1904 में विश्वविद्यालय के समग्र कार्यों को औपनिवेशिक नौकरशाही के अधिकार में रख दिया और भारतीय बुद्धिजीवियों को मिथ्या, अश्रद्धेय तथा अतिशयोक्ति पूर्ण बातें करने वाला कपटी कहा। राष्ट्रिय कांग्रेस के प्रति अपने मत को वर्णित करते हुए कर्जन का कहना था कि वह उसकी शान्तिपूर्ण मृत्यु प्राप्त करने में सहायता देने का उद्देश्य रखता है। वह भारतीय संस्कृति के प्रति अपने द्वेष को छिपाता नहीं था। उपर्युक्त उद्धारण में निहित जो जनरोष जागा था, वह कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिया गया उसका एक भाषण था, जिसमें उसने महान् सांस्कृतिक विरासत के प्रति स्पष्ट तिरस्कार व्यक्त किया था। उसकी इस मानसिकता से भारतीयों में क्रान्ति की भावना जोर पकड़ रही थी और इस राष्ट्रवादी शक्ति पर प्रहार करने के लिए उसने 1905 में बंगाल के विभाजन का निर्णय लिया।

उपनिवेशवादियों के विभाजन की योजना से बंगाली समाज उद्वेलित हो उठा था। अप्पाशास्त्री को इस पूर्व नियोजित षड्यंत्र का बोध पूर्व में ही हो गया था और उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत करने का आह्वान किया था–

''संस्कृतपण्डिता अपीदानीं सुदूरमुज्झित्वाऽऽलस्य-मवश्यमेव कर्मणि प्रवत्तेरन् गोचरीकारयेयुश्चापरेषामात्मनः स्वदेशप्रणयातिशयमिति प्रार्थयामहे॥''[14]

सन् 1905 में बङ्गाल विभाजन के उपरान्त देश में स्वदेशी आन्दोलन की गूंज चारों ओर प्रतिध्वनित हो रही थी। 1907 में स्वदेशी आंदोलन जारी था। सूनृतवादिनी के सम्पादक के

अनुसार महाराष्ट्र का बाईक्षेत्र स्वदेशी आंदोलन का केन्द्र बन गया था।[15] इस वर्ष दुर्गोत्सव में पूरे देश में स्वदेशी वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया।[16] स्वदेशी आन्दोलन के साथ विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार अपने उत्कर्ष पर था। अप्पाशास्त्री ने 22 अप्रैल की सूनृतवादिनी में अपना उद्धार स्वयमेव करने की सलाह देते हुए लिखा–

'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' लेख में कहा था–''विपदि ह्यात्मैव केवलमात्मनोबन्धुर्भवति। न पुनरन्यः कश्चिदपि। एकान्ततः खलु विपन्नमिदानीं सर्वतो भारतं वर्षम्। एतद्धि सर्वथेदानीं आपन्नम्। न हि पराधीनताया अपेक्षयाऽपरापि नाम काचिद् विपद्भवति। मूर्त्तः खलु निरयः पराधीनता नाम। अत्रयं स्वत एव प्रश्नः समुद्भवति यत्कथं शक्यतेतावसरेऽस्मिन्नात्मनैवात्मा समुद्धर्तुम्। न खल्विदानीं शस्त्रा-शस्त्रि समभिलष्यतेऽस्माभिः। अत्र पुनरेकमत्येव भारतवर्षीयाणामपेक्षते। अपेक्षते चात्मतत्वमेतेषाम्॥''[17]

उनका स्वयं का यह अनुभूत किया कि 1907 में सम्पूर्ण देश में स्वदेशी की अनुगूंज थी और सारा देश जाग उठा था–

''सम्प्रति किल सर्वतोऽपि भारते वर्षे शाश्रूयते स्वदेशीयम् स्वदेशीयमिति सर्वतः संचारीभावः। यत्सत्यमति हि नामैतत्प्रमोदस्थानं यदिदानीं परित्यक्तगाढप्रस्वापं सर्वतः प्रबुद्धमिव संलक्ष्यते भारतं वर्षम्। अत्र खल्विदानीं बाला अपि वा युवानो वा स्थविरो अपि वा स्वदेशीयान्दोलने स्निह्यन्ति॥''[18]

सुनृतवादिनी का प्रकाशन सन् 1906 में कोल्हापुर से प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक 'अप्पाशास्त्री राशिवडेकर' थे। इसका प्रकाशन प्रत्येक शनिवार को होता था। समाचार प्रधान होने के साथ इसमें धार्मिक, सामाजिक और सम सामयिक निबन्ध प्रकाशित होते थे।[19]

महात्मा गाँधी के द्वारा भारत में अहिंसा मार्ग का अनुसरण करते हुए विभिन्न आन्दोलन के द्वारा समस्याओं का समाधान किया गया। उनके प्रभाव से समग्र देश आलोकित हो रहा था। 'पं. धर्मदेव विद्यावचस्पति' 'बंगलौर' से 'श्री' पत्रिका में गाँधी जी कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका वंदन करते हुए लिख रहे हैं कि जिन्होंने लोकहित में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है, जो सत्यव्रत के नेता हैं, अस्पृश्यता को नष्ट करने के लिए दत्तचित्त हैं, जो मनसावाचाकर्मणा अहिंसा व्रत का पालन करते हैं ऐसे उन लोकवन्द्य महात्मा को प्रणाम है –

महात्मा गान्धीमहोदयः श्री जुलाई 1933 खण्ड 2

(पं. धर्मदेवविद्यावाचस्पतिःबंगलौर)

सुनिर्मलं जीवितमेव सर्वं, समर्पितं लोकहिते हि येन।
सत्यव्रताग्रेसरधीरवर्यो,
गान्धी महात्मा सकलैः प्रणम्यः॥
अस्पृश्यतावारणदत्तचित्तः,
प्राणान् परित्यक्तुमपि प्रवृत्तः।
तदर्थमास्थाय मुदोपवासं,
योऽसौ महात्मा सकलैः प्रणम्यः॥
अहिंसकाग्र्यो मनसा च वाचा,
कामेन नित्यं विमलो नितान्तम्।
दैन्यव्रतं येन धृतं परार्थं,
गान्धी महात्मा सहि लोकवन्द्यः॥[20]

श्री पत्रिका का प्रकाशन सन् 1933 में श्रीनगर, कश्मीर से प्रकाशित हुई।यह पत्रिका बारह वर्ष तक प्रकाशित हुई। इसके प्रत्येक अङ्क में बत्तीस पृष्ठ होते थे। यह संस्कृत परिषद् से प्रकाशित होती थी। यह पत्रिका चैत्र, आषाढ़, अश्विन तथा पौष माह में प्रकाशित होती थी। इसके सम्पादक पण्डित नित्यानन्द शास्त्री तथा उपसम्पादक पण्डित कुलभूषण थे। इस पत्रिका का उद्देश्य संस्कृत विद्या का संवर्द्धन तथा संस्कृति का रक्षण था। इस पत्रिका के सम्पादक के अनुसार–

''यद्यपि गूढपाण्डित्याभावात् श्रियः पृष्ठेषु नानाविधाः साहित्यादर्शनेतिहासविषयकाः लेखाः बाहुल्येन प्रकाशनेऽक्षमा वयं तथापि यथाशवितं यथासम्भवं वेदस्मृतिपुराणेतिहासरूपा लेखाः प्रकाशयिष्यन्ते।''[21]

भारत की कीर्ति पताका विश्व में तरङ्गित होती थी। क्योंकि यहाँ अनेक उद्भट विद्वान् और बलवान वीरों का प्रदुर्भाव हुआ था। नारियों का सत्चारित्र्य अनुकरणीय था। किन्तु आज इसकी दशा देखकर दुःख होता है। इसका चित्रण करते हुए 'भोलानाथ द्विवेदी' 'सुप्रभातम्' सन् 1935 के 'आग्रहायणी' मास के अङ्क में 'उद्बोधनम्' नामक कविता में लिखते हैं कि भारत देश प्रसिद्ध मात्र नहीं था अपितु जगत में पूजित होने के साथ साक्षात् धरती पर स्वर्ग था। यह भगवान हरि की जन्मभूमि थी परन्तु आज इसकी क्या दशा हो गई है। जहाँ कणाद, कपिल और अगस्त्य जैसे सद्गुणी ऋषियों का वास था। भीष्म, द्रोण और अर्जुन जैसे तेजस्वी वीर थे। सावित्री जैसे सतीव्रता आर्य कूल की भूषण हुआ करती थी। हां! आज विधि के द्वारा इसकी कैसे दशा हो गई है। काल के प्रभाव से कोई भी घटना घटित हो सकती है किन्तु हे विद्वानों, प्रशंसनीय

बुद्धि युक्त भाइयों बहिनों और विद्यार्थियों आलस्य का त्याग करो और अपनी बुद्धि का पुरुषार्थ पूर्वक प्रयोग करके इस भारतवर्ष की रक्षा करो अन्यथा यह नष्ट हो जाएगा। अर्थात् विद्वान्, वीर और महिलाएँ यह समाज का स्तम्भ इनको दृढ़ कर कवि स्वातंत्र्य चेतना को प्रज्वलित कर रहा है

उद्बोधनम्
भोलानाथ द्विवेदी शास्त्री, ग. स. का. काशी।
इदं भारतं सर्वदेशप्रसिद्धं,
जगत्पूजितं भूचितस्वर्गकल्पम्।
यदासीत्कदाचिद्धरेर्जन्मभूमिस्तदा या
दशामीदृशीमद्य हन्त! ॥1॥
यत्रासन् ऋषयः कणादकपिलाऽगस्त्यादयस्सद्गुणाः,
भीमद्रोणयुधिष्ठिरार्जुनमुखा वीराश्चतेजस्विनः।
सावित्र्यादिसमास्सतीव्रतपरा नार्यः कुलाभूषणाः,
हा! तद्भारतवर्षमद्य विधिना नीतं दशां कीदृशीम्॥2॥
भो विद्वत्प्रवराः प्रशस्तमतयोऽप्यन्ये तथा भ्रातरश्छात्राः
कालविपर्ययान्न भुवने किं पश्यथेयम्परम्।
आलस्यं त्यजताशु पौरुषविधौ बुद्धिं विधत्ताधुना,
नोचेद्भारतवर्षमेतदखिलन्नाशत्वमेवेष्यति॥3॥[22]

सुप्रभातम् पत्रअखिल भारतवर्षीय साहित्य सम्मेलन का मुख पत्र था जिसका प्रकाशन सुप्रभात कार्यालय टेढीनीम काशी, वाराणसी से सन् 1923 में आरम्भ हुआ। वर्ष 1924 तक यह पाक्षिक रूप में प्रकाशित होता था किन्तु कुछ काल पश्चात् मासिक रूप से प्रकाशित होने लगा। इसके प्रथम सम्पादक श्री देवीप्रसाद शुक्ल थे किन्तु निधन पश्चात् उनके पुत्र गिरीश शर्मा ने इस कार्यभार का वहन किया। इसके प्रकाशक विन्ध्येश्वरी प्रसाद थे। केदारनाथ शर्मा ने सह-सम्पादक के रूप में कार्य किया। इस पत्र की भाषा साहित्यिक थी। इसमें समाचारों का प्रकाशन संक्षेप शैली में किया जाता था। इसके प्रमुख पृष्ठ पर निम्न श्लोक प्राप्त होता था जो इस प्रकार से है—

''तिमिरततिमुदस्यद् भेदतारा विलुम्पन्नयदधि-
सुरभाषा-भावि जागर्ति भावम्।
विबुध-विहग-वादैराह्वयद् भाग्य-भानुं विलसतु
भुवनेऽस्मिन् सर्वतः सुप्रभातम्॥''[23]

निष्कर्ष

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का बीज सामाजिक सुधार में निहित था। पश्चिम बंगाल से प्रारम्भ होकर समग्र भारतवर्ष में व्याप्त होकर इसने देश में गौरव का भाव उद्दीप्त किया। जिसने समाज में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भूमिका का निर्माण किया। जिसमें तिलक, अप्पाशास्त्री और महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे संस्कृत विद्वानों का योगदान रहा। इन क्रान्तिकारियों के विचारों को समाज तक पहुँचाने में संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। संस्कृत पत्रिकाओं में केवल संस्कृतज्ञों के विचारों की अभिव्यक्ति नहीं हुई किन्तु समाज में हो रही विभिन्न घटनाओं और परिवर्तनों का भी चित्रण हुआ। इन पत्रिकाओं में केवल विचारों का प्रस्फुटन ही नहीं अपितु समस्याओ के व्यावहारिक समाधानों की भी चर्चा की गई थी। जिसका परिणाम सन् 1905 के बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन में दिखाई दिया। गाँधी जी का सत्याग्रह हो, हिन्दू-मुस्लिम विभेद या द्वितीय विश्वयुद्ध सभी विषयों पर संस्कृतज्ञों तथा तत्कालीन छात्रों के हितकारी कार्यक्रम और उनके विचार भी जन सामान्य और उन पाश्चात्य विद्वानों तक भी पहुँचे जो संस्कृतभाषा या ग्रन्थों में शोध कर रहे थे। जीवन की समग्रता का समावेश हमें संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में दृष्टिगोचर होता है। अतः भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं के बिना अपूर्ण है।

सन्दर्भ सूची

1. म. द. जी. च., पृ. सं. 150
2. दयानन्द का राष्ट्रवाद, पृ. सं. 23
3. म. द. जी. च. द्वि., पृ. सं. 389-390
4. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, पृ. सं. 31
5. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, पृ. सं. 33
6. सं. च., आग्रहायणी, 1817, पृ. सं. 458-460
7. सं. च., आश्विन, 1817, पृ. सं. 412-414
8. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, पृ. सं. 36-37
9. येद्यापि जीवाम, श्वसिग, विचराम, आत्मन आर्य्यवश्याश्चाभिमन्यामहे॥ शि. वि., प्र. नि., पृ. सं. 39
10. संस्कृतचन्द्रिका, पृ. सं. 135
11. संस्कृतचन्द्रिका, पृ. सं. 135
12. Official reports admit that during the period of twenty&five years from 1876 to 1900, eighteen famines occurred in India, including the four most

terrible ever known there, and that Þduring this period, 19,000,000 lives were lost from famine and famine diseases. Lokmanya Tilak, father of Indian unrest and maker of modern India, P.no.68

13. सं. च., पृ. सं. 110-116
14. संस्कृतचन्द्रिका, सितम्बर 1905, पृ. 174
15. वाईक्षेत्रे स्वदेशीयान्दोलनम्, सूनृतवादिनी, 07 फरवरी 1907
16. दुर्गोत्सवे स्वदेशीयम्। 14 नवम्बर 1907
17. अ. जी. सं., पृ. सं. 147
18. सूनृतवादिनी, 28 मार्च 1907
19. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, पृ. सं. 58
20. श्री, पृ. सं. 19
21. श्रीः 1.1
22. सुप्रभातम्, आग्रहायणी पूर्णिमा, सं. 1992, पृ. सं. 165
23. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, पृ. सं. 82

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- दयानन्द, महर्षि. सत्यार्थप्रकाश. दिल्ली, नई सड़क चाँदनी चौक : गोविन्ददास हासानन्द आर्य साहित्य भवन, 1939
- डॉ. मिश्र, राम गोपाल. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास. दिल्ली, मॉडल टाउन : विवेक प्रकाशन, 1976
- पं. घासीराम. देवेन्द्रनाथ बाबू. महर्षि दयानन्द सरस्वती खण्ड 2 जीवन चरित. अजमेर : आर्ष साहित्य मण्डल लिमिटेड, 1933
- मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ बाबू. महर्षि दयानन्द सरस्वती खण्ड 1 जीवन चरित. अजमेर : आर्ष साहित्य मण्डल लिमिटेड, 1933
- विद्यालङ्कार, सत्यदेव. दयानन्द का राष्ट्रवाद. राजस्थान, हिण्डौन सिटी : हितकारी प्रकाशन समिति, 2019
- शुक्ल, हीरालाल. संस्कृत आजकल अद्यापि जीवति संस्कृतम्. दिल्ली : बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, 2017
- Tahmankar, D.V. Lokmanya tilak father of the unrest and maker of modern India. London: Wyman & sons Ltd, 1956
- श्रीः. श्रीनगर, कश्मीर : संस्कृत साहित्य परिषद, जुलाई 1933
- सुप्रभातम्. काशी, सुप्रभात कार्यालय, नवम्बर-दिसम्बर 1935
- संस्कृतचन्द्रिका. कलकत्ता : आग्रहायणी, 1817

शोध-पत्र

माध्यमिक शिक्षा के छात्राओं की समस्याओं का अध्ययन

डॉ. दिनेश कुमार

प्रस्तावना

कुछ लोगों का मानना है कि सिर्फ हायर सेकेंडरी शिक्षा ही माध्यमिक शिक्षा है। कुछ लोग हाई स्कूल की शिक्षा को ही सेकेंडरी शिक्षा समझते हैं। लेकिन यह गलत है सेकेंडरी शिक्षा प्राइमरी तथा हायर सेकेंडरी शिक्षा के बीच में दी जाती है शिक्षा दी जाने वाली शिक्षा है। अत: सेकेंडरी शिक्षा में मिडिल हाई स्कूल या हायर सेकेंडरी कक्षाएं सम्मिलित हैं। माध्यमिक शिक्षा के अंतर्गत 14 से 18 वर्ष के बालक और बालिकाएं कक्षा 9 से 12 तक की शिक्षा प्राप्त करते हैं। कक्षा 9 एवं 10 को उच्च माध्यमिक तथा 11 और 12 को उच्चतर माध्यमिक स्तर कहा जाता है। कार्टर वी. गु ने माध्यमिक शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा का वह समय है जो सामान्यतया 14 से 18 वर्ष की आयु के बालकों के लिए होता है। हुमायूं कबीर के अनुसार समाज की शिक्षा के किसी भी कार्यक्रम में माध्यमिक शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यहां से प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा तथा वयस्क शिक्षा के लिए अध्यापक मिलते हैं। डॉ. आत्मानंद मिश्र के शब्दों में, ''देश के भावी कर्णधार माध्यमिक शिक्षा के ही ढांचे में बनते और बिगड़ते हैं। सभी क्षेत्रों में नेतृत्व करने की क्षमता इसी स्तर पर उत्पन्न की जाती है, दुर्भाग्य बस शिक्षा की यह कड़ी जितनी महत्वपूर्ण और अनिवार्य होती है, उतनी ही निर्बल और उपेक्षित भी है।''

वैदिक कालीन शिक्षा

प्राचीन काल में भारत में शिक्षा स्वयं के लिए नहीं अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी। यह मुक्ति और आत्मबोध का साधन थी और जीवन का महान लक्ष्य मुक्त ही था। भारत का अतीत गौरव में रहा है, जिसमें आध्यात्मिकता का प्रभाव सर्वोपरि देखने को मिलता है। यहां पर मानव का जीवन दर्शन बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय रहा है। शिक्षा दर्शन से समाज सदैव परिवर्तनशील रहा है, इसलिए शिक्षा संबंधी विचारधाराएं भी युग तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही हैं। केवल भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अनेक देशों में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा बदलती रहती हैं, केवल भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अनेक देश में समय एवं परिस्थिति के अनुसार शैक्षिक विचारधारा में परिवर्तन होता रहा है। शिक्षा संबंधी विचारधारा दर्शनशास्त्र से विकसित हुई है।

भारत में बौद्ध कालीन शिक्षा

बौद्ध धर्म में साधारणतया स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। बौद्ध धर्म व्यवस्था के अनुसार भिक्षुओं को आजीवन ब्रह्मचारी रहना पड़ता था। इसलिए उनके चरित्र की रक्षा के लिए महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान नहीं की थी। परंतु कालांतर में अपने प्रिय शिष्य आनंद के आग्रह पर स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी थी। जिसके फलस्वरुप स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन मिला, स्त्रियों की शिक्षा के लिए अलग मठ एवं बिहारों की व्यवस्था की गई, जहां उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था। डॉ. आल्तेकर ने लिखा है, ''स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने की आज्ञा से स्त्री शिक्षा को विशेष रूप से समाज के कुलीन एवं व्यावसायिक वर्ग की स्त्रियों की शिक्षा को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है, किंतु साधारण परिवार में स्त्री शिक्षा का प्रयाप्त अभाव देखने को मिलता है, लड़कियों की

शिक्षा में कई तरह की समस्याएं हैं, जिसमें कुछ प्रमुख समस्याएं हैं—बाल विवाह और बल श्रम।

भारत में मध्यकालीन शिक्षा

उत्तर भारत के इतिहास के मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात लगभग 1000 वर्षों तक विभिन्न क्षेत्रों में कई सम्राट कई सम्राट एवं प्रतापी राजाओं के शासन का विवरण मिलता है। किंतु शिक्षाशास्त्रियों ने इस कल की शिक्षा व्यवस्था पर कोई विशेष विवरण नहीं लिखा है। भारत के इतिहास में गुप्त काल को भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है। सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य एवं कालिदास का नाम प्रत्येक विद्वान बड़े गर्व से याद करता है। उनके समय में भारत में शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। इस काल में धर्म का पतन हो गया था जिससे बौद्ध कालीन शिक्षा प्रणाली की भी सामान्यतया कमजोर पड़ गई थी, मध्यकालीन भारत में स्त्रियों की शिक्षा की स्थिति सीमित थी। उन्हें परिवार के सदस्यों या निजी शिक्षकों से पढ़ाई कराई जाती थी, उस समय महिलाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। समाज में उनको महत्व नहीं दिया जाता था उस समय शिक्षा केवल अमीर और शक्तिशाली लोगों तक की सीमित थी। किसानों और महिलाओं को अक्सर शिक्षा देने से वंचित कर दिया जाता था रूढ़िवादी संस्कृत दृष्टिकोण के कारण लड़कियों को अक्सर स्कूल जाने की अनुमति नहीं दी जाती थी। शिक्षा के क्षेत्र में वापस आना और उनकी शिक्षा को बढ़ाना आवश्यक था।अशिक्षा के कारण आई शिक्षकों तथा छात्रों में अनुशासन संयम के नियमों में आयी स्थिरता से शिक्षा और जीवन दोनों की प्रगति रुक सी गई।

अध्ययन की आवश्यकता

माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि यह छात्रों को आगे की पढ़ाई और करियर के लिए तैयार करती है। यह शिक्षा व्यवस्था की एक अहम् कड़ी है। माध्यमिक शिक्षा के जरिए छात्रों के बौद्धिक, सामाजिक और भावनात्मक कौशल का विकास होता है। माध्यमिक शिक्षा से छात्रों को विभिन्न विषयों और व्यवसायों से परिचय होता है। यह छात्रों को आलोचनात्मक एवं रचनात्मकता और आजादी के लिए प्रोत्साहित करती है। यह छात्रों को कुछ शिक्षा या कार्यबल के लिए तैयार करती है। यह छात्रों की रोजगार क्षमता को बढ़ाती है और बेहतर नौकरी की संभावनाएं खोलती है। यह छात्रों और उनके परिवार की आर्थिक सामाजिक स्थिति में सुधार करती है। राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान रमसा के जरिए माध्यमिक शिक्षा को सभी युवाओं के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया जा रहा है। अध्ययन की आवश्यकता मौजूदा सोच और अभ्यास के सिद्धांत में अंतराल से सूचित की जानी चाहिए। इसके लिए आपको अपने शोध के क्षेत्र में एक व्यापक लेकिन साहित्य समीक्षा करने की आवश्यकता है, प्रस्तुत शोध में व्यापक साहित्य समीक्षाएं शामिल हैं। माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा की एक कड़ी है। माध्यमिक शिक्षा पर हुए कुछ शोध अध्ययन इस प्रकार हैं। वर्मा (1972) में सभी छात्रों के सभी क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों की समस्याओं पर अध्ययन किया और पाया कि शिक्षक एवं छात्राओं के मध्य पारस्परिक संबंधों पर शिक्षकों के विभिन्न मूल्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। द्विवेदी (1970) ने शिक्षकों के व्यक्तित्व की संरचना तथा शिक्षकों के साथ छात्रों के संबंधों का अध्ययन की आवश्यकता पर कार्य किया और अपने शोध में पाया कि शिक्षक का प्रभावशाली व्यक्तित्व छात्रों के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है और उन्हें प्रभावशाली बनाता है।

शोध का उद्देश्य

1. उच्च माध्यमिक शिक्षा के शहरी क्षेत्र में पढ़ने वाली छात्राओं की समस्याओं का अध्ययन करना।
2. उच्च माध्यमिक शिक्षा के ग्रामीण क्षेत्र की में पढ़ने वाली छात्राओं की समस्याओं का अध्ययन करना।
3. ग्रामीण एवं शहरी छात्राओं की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करना।

शोध की परिकल्पना

उच्च माध्यमिक शिक्षा में पढ़ने वाली ग्रामीण एवं शहरी छात्राओं की समस्याओं में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

जनसंख्या

प्रस्तुत अध्ययन में बलिया जनपद के गुलाब देवी बालिका इण्टर कालेज के उच्च माध्यमिक स्तर के कक्षा 11व 12 में पढने वाली सभी छात्राओं को जनसंख्या के रूप में लिया गया है।

न्यादर्ष

आंकड़ों के संकलन के लिए न्यादर्ष के रूप में बलिया जनपद के गुलाब देवी बालिका इण्टर कालेज के उच्च माध्यमिक स्तर के कक्षा 11व 12 में पढ़ने वाली 25 छात्राओं को यादच्छिक विधि से चयनित किया गया है, जिसमें 12

ग्रामीण एवं 13 शहरी को न्यादर्ष के रूप लिया गया है। न्यादर्ष चयन प्रक्रिया को तालिका 3.1 में दर्षाया गया है।

शोध उपकरण

प्रस्तुत षोध में शोधकर्त्री द्वारा स्वनिर्मित प्रश्नावली उपकरण का प्रयोग किया गया है।

विश्वसनीयता एवं वैधता

इस उपकरण की विश्वसनीयता माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत छात्राओं के न्यादर्ष पर ज्ञात की गयी है जिसमें कुल 10 छात्राएं शामिल हैं। इस उपकरण की वैधता निम्न लिखित छः प्रकार से ज्ञात की गयी है-

1- विशयवस्तु वैधता, 2- कथन वैधता, 3- क्रास वैधता, 4- निकश सम्बन्धी वैधता 5- आंतरिक वैधता 6-मापनी की आन्तरिक स्थिरता।

उक्त प्रश्नावली की वैधता का मापन निम्न तीन विधियों द्वारा किया गया है।

1-सम्मुख वैधता

2-विषेशज्ञ वैधता

3-सांख्यिकीय वैधता।

प्रयुक्त सांख्यिकी

प्रस्तुत शोध अध्ययन में मध्यमान, प्रतिशतता नामक सांख्यिकीय विधियो का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष-

प्रस्तुत लघु शोध अध्ययन में शोधकर्त्री ने गुलाब देवी बालिका इण्टर कालेज बलिया के कक्षा 11 व 12 में पढ़ने वाली छात्राओं की समस्या का अध्ययन किया और पाया कि गाँव और शहर के विभिन्न क्षेत्रों से आकर पढ़ने वाली छात्राओं की प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं-

1. घर वाले आपकी पढ़ाई में सहयोग नहीं करते हैं,
2. कठिन विषय को समझने में समस्या होती है,
3. पढ़ाई में जरूरत की चीजों के लिए अभिभावक पूरा पैसा देते हैं,
4. कालेज में सभी विषय के अध्यापक अपनी क्लास समय से नहीं पढ़ाते हैं,
5. कालेज में चोट लगने पर फर्स्ट-एड की व्यवस्था नहीं है।

माध्यमिक स्तर के ग्रामीण छात्राओं की प्रमुख समस्याएं

1. घर वाले आपकी पढ़ाई में सहयोग नहीं करते हैं,
2. कठिन विषय को समझने में समस्या होती है,
3. पुस्तकालय से पुस्तक नहीं मिलती है,
4. अध्यापक द्वारा पढ़ाई गयी विषय-वस्तु को समझने में समस्या होती है,
5. कालेज में सभी विषय के अध्यापक अपनी क्लास समय से नहीं पढ़ाते हैं,
6. पढ़ाई में जरूरत की चीजों के लिए अभिभावक पूरा पैसा नही देते हैं,
7. कालेज में सभी विषय के अध्यापक नहीं होने से समस्या है,
8. कालेज में चोट लगने पर फर्स्ट-एड की व्यवस्था नहीं है।

माध्यमिक स्तर के षहरी छात्राओं की प्रमुख समस्याएं

1. घर वाले आपकी पढ़ाई में सहयोग करते नहीं हैं,
2. कठिन विषय को समझने में समस्या होती है,
3. अध्यापक द्वारा पढ़ाई गयी विषय-वस्तु को समझने में समस्या होती है,
4. पढ़ाई में जरूरत की चीजों के लिए अभिभावक पूरा पैसा नहीं देते हैं,
5. कालेज में सभी विषय के अध्यापक अपनी क्लास समय से नहीं पढ़ाते हैं,
6. कालेज में सभी विषय के अध्यापक नहीं होने से समस्या है,
7. कालेज में चोट लगने पर फर्स्ट-एड की व्यवस्था नहीं है।

एसोसिएट प्रोफेसर
गुलाब देवी म.पी.जी. कालेज,
बलिया

सन्दर्भ सूची

- ⋆ अल्तेकर, अनन्त सदाशिव (1980); प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, मनोहर प्रकाशन, जतनबर, वाराणसी।
- ⋆ गुप्ता, डी.पी. (1973); बलिया में सन् बयालीस की जनक्रांति, बलिया गौरव ग्रन्थ माला प्रकाशन, बलिया।
- ⋆ गुप्ता, एस.पी. (2003); आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- ⋆ चौहान, कल्पना (1992); किशोर छात्राओं की अध्ययन सम्बन्धी आदतों, अभिवृत्तियों का उनके व्यक्तित्व, समायोजन एवं दुश्चिताओं के सन्दर्भ में मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन, राजस्थान में शिक्षानुसंधान सम्प्राप्तियां एवं सम्भावनाएं।

- देवी, राजपति (1985); अनुसूचित जाति के छात्रों की प्राथमिक शिक्षा के कुछ शैक्षिक कारकों का अध्ययन, शोध प्रबन्ध (शिक्षा शास्त्र), बी.एच.यू., वाराणसी।
- पाठक, पी.डी. (2009); शिक्षा मनोविज्ञान, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
- पाण्डेय, के.पी. (2008); शैक्षिक अनुसंधान, तृतीय संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- प्रसाद, कमलेश (2009); विद्यालयों में अध्ययनरत अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की समस्याओं का अध्ययन, लघु शोध (शिक्षा शास्त्र), बी.एच.यू., वाराणसी।
- रामनन्दन (1992); पूर्वांचल के अनुसूचित जाति के छात्रों की समस्याओं का अध्ययन, शोध प्रबन्ध (शिक्षा शास्त्र), बी.एच.यू., वाराणसी।
- सरीन एवं सरीन (2001); शैक्षिक अनुसंधान विधियां, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। पृ.सं.-56
- त्रिपाठी, मंजूलता (2005); वाराणसी नगर स्थित उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के छात्र एवं अध्यापकों की संगणक शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति, शोध प्रबन्ध (शिक्षा शास्त्र) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- वर्मा, मधुलिका व अन्य (2010); ''देवास शहर के कक्षा 9 के किशोरों की समायोजन क्षमता का समस्या समाधान योग्यता के सन्दर्भ में अध्ययन'' विद्या मेद्य में प्रकाशित शोध प्रपत्र, मेरठ पृष्ठ 13-16।
- सरोज, संजय (2015); ''शहरी क्षेत्रों के उच्च माध्यमिक विद्याालयों के छात्रों में बढ़ते अपराधवृत्ति का कारण'', ज्ञानदायिनी समाज विज्ञान शोध पत्रिका में प्रकाशित शोध प्रपत्र, बलिया, पृष्ठ 136-138।
- श्रीवास्तव, मीनाक्षी (2011); ''उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् एवं केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् के प्रश्न पत्रों का विश्लेषणात्मक अध्ययन,'' रिसर्चेज एण्ड स्टडीज में प्रकाशित लघु शोध ग्रंथ, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, पृष्ठ 54।
- कुमार, आनन्द (2011); ''हाईस्कूल स्तर के विद्यार्थियों की हिन्दी भाषा लेखन में वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियों का अध्ययन,'' रिसर्चेज एण्ड स्टडीज में प्रकाशित लघु शोध ग्रंथ, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, पृष्ठ 76।
- सिंह, रूबी (2012); ''उच्चतर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की वैज्ञानिक रूचि एवं कक्षा वातावरण में सम्बन्ध का अध्ययन,'' रिसर्चेज एण्ड स्टडीज में प्रकाशित लघु शोध ग्रंथ, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलहाबाद, पृश्ठ 107- 110।
- कुमारी, प्रियंका (2024); ''गुलाब देवी इण्टर कालेज की छात्राओं की समस्याओं का अध्ययन,'' अप्रकाशित लघु शोध ग्रंथ, गुलाब देवी महिला पी.जी.कालेज बलिया।

दलित उपन्यासों में सामाजिक न्याय का स्वरूप

करण डेमरोत

सारांश

दलित उपन्यासों में सामाजिक न्याय की अवधारणा एक केंद्रीय और गतिशील तत्व के रूप में उभरकर सामने आती है। सामाजिक न्याय से तात्पर्य केवल कानूनी अधिकारों से ही नहीं, बल्कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मानवीय गरिमा, सम्मान, आर्थिक समानता और सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो। भारतीय समाज में सदियों से चली आ रही जातिगत पदानुक्रम और लैंगिक असमानता ने दलितों और स्त्रियों को इस न्याय से वंचित रखा है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा संविधान में प्रतिपादित स्वतंत्रता, समता और बंधुता के सिद्धांतों ने सामाजिक न्याय की इसी लड़ाई को एक संवैधानिक आधार प्रदान किया। दलित उपन्यास इसी संघर्ष का साहित्यिक दस्तावेजीकरण करते हैं, जहाँ न्याय की यह माँग केवल कानूनी नहीं, बल्कि मानवीय गरिमा और सामाजिक पहचान की माँग है। यह आलेख दलित उपन्यासों में चित्रित सामाजिक न्याय के विभिन्न आयामों - जातिगत भेदभाव, स्त्री-विमर्श, आरक्षण की नीति और शैक्षिक-आर्थिक सशक्तिकरण का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दलित उपन्यास एक न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए केवल आलोचना ही नहीं, बल्कि एक सक्रिय रचनात्मक प्रस्ताव भी प्रस्तुत करता है।

शोध आलेख :

भारतीय समाज की विषमतावादी व्यवस्था ने सामाजिक न्याय की संकल्पना को सदैव एक चुनौतीपूर्ण लक्ष्य बनाए रखा है। धर्म, वर्ण, वर्ग, अर्थ तथा जातीयता के आधार पर निर्मित सवर्ण-अवर्ण, स्पृश्य-अस्पृश्य, ऊँच-नीच, मालिक-मजदूर, स्त्री-पुरुष जैसे भेदों ने समाज के गरीब, शोषित, पीड़ित तथा दलित वर्ग के लोगों के साथ-साथ स्त्रियों को समान न्याय से वंचित रखा है। सामाजिक न्याय की यह संकल्पना मानवीय गरिमा, आर्थिक समानता, शैक्षिक अवसर और सामाजिक सम्मान के सम्मिलित स्वरूप को दर्शाती है। इसी सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान में स्वतंत्रता, समता, बंधुता के साथ-साथ 'सामाजिक न्याय' का प्रावधान रखा, जो दलित साहित्य, विशेषकर दलित उपन्यासों का केन्द्रीय स्वर बन गया। ये उपन्यास केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि सामाजिक यथार्थ के ऐसे दस्तावेज हैं जो वंचित तबके की आवाज को मुखर करते हुए एक न्यायसंगत समाज की रचना के लिए प्रयत्नशील हैं।

जयप्रकाश कर्दम कृत 'छप्पर' उपन्यास का नायक चंदन समाज में सामाजिक न्याय को प्रतिस्थापित करने का प्रतीक है। वह दलितों को मिलने वाले सामाजिक सम्मान पर बल देता हुआ कहता है—''हमें प्रत्येक क्षेत्र में आना चाहिए। केवल सामाजिक रूप से ही हमारी प्रतिस्थिति निम्न नहीं है, बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रत्येक क्षेत्र में हम पिछड़े हुए हैं। हमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है, लेकिन सबसे पहली जरूरत है सामाजिक सम्मान की।''[1] डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के अनुसार दलितों के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उनका आर्थिक गुलामी से मुक्त होना आवश्यक है। चंदन इसी विचार से प्रेरित है।[2]

'छप्पर' की कथावस्तु एक मजदूर परिवार के युवक चन्दन की शिक्षा के लिए जद्दोजहद की कहानी है, जिसमें

उसके पिता सुक्खा का मानना है कि ''शिक्षा ही दुनिया की हर समस्या का हल है। शिक्षा ही व्यक्ति को दासता (चाहे वह किसी भी प्रकार की हो) से मुक्त कर सकती है।''[3] सुक्खा का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है : ''तेरी मेरी चिन्ता लगी है। मुझे रात-दिन चन्दन की चिन्ता लगी रहती है। बस किसी तरह उसकी पढ़ाई-लिखाई पूरी हो जाये।''[4] जब उसकी पत्नी रमिया शिक्षा की उपयोगिता पर संदेह जताती है, तो सुक्खा का उत्तर जन्मना श्रेष्ठत्व पर सीधे प्रहार करता है : ''चुप रह पगली, कोई पेट से बड़ा बनकर आता है?''[5]

वर्ण व्यवस्था का आधार लेकर बनी सामाजिक संरचना में दलितों को मनुष्य नहीं समझा गया है और उनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाता रहा है। 'छप्पर' का लेखक इस विषमतावादी सामंती शोषणमूलक व्यवस्था पर 'रजनी' के माध्यम से एक मौलिक प्रश्न खड़ा करता है—''ब्राह्मण और भंगी क्या दोनों की शरीर रचना एक जैसी नहीं होती? क्या दोनों हाड़-मांस के बने हुए नहीं होते? क्या दोनों के शरीर में बहने वाले खून का रंग एक जैसा नहीं है? फिर दोनों समान क्यों नहीं हो सकते?''[6] यह प्रश्न जातिगत भेदभाव की नींव पर ही प्रहार करता है।

चंदन के शहर जाकर पढ़ने की घटना पर लेखक लिखते हैं : ''चन्दन जब शहर पढ़ने गया था तो जैसे भूचाल सा आ गया था, सारे गाँव में ब्राह्मण, ठाकुर सबके कान खड़े हो गये थे...एक अनहोनी ही नहीं बड़ा भयंकर अनर्थ हो गया है जैसे।''[7] पंडित और ठाकुर की प्रतिक्रिया दर्शाती है कि दलितों की प्रगति को वे अपना अपमान समझते हैं : पंडित : ''आशीर्वाद कहता है इसे, अनर्थ कर दिया तूने-अनर्थ।'' और ठाकुर हरनाम सिंह के सामने पंडित का कथन : ''यह दो कौड़ी का आदमी, यह चमार की औलाद, हम सबके मुँह पर कालिख पोतने चला है-बेटे को ऊँची तालीम के लिए शहर भेजकर। यह अपमान है ठाकुर साहब। हम सबके मुँह पर एक चाँटा है।''[8]

समाज में फैली इस विषमता को देखकर 'मुक्तिपर्व' का पात्र वंशी सोचता है—''आखिर उनके ही साथ यह सब क्यों होता है? आजादी के बाद भी क्यों लोग जातियों की बात करते हैं। एक-दूसरे को छोटा-बड़ा समझते हैं। जात-पांत, छुआ-छूत का आखिर अंत कब होगा?''[9] समाज में आज भी छुआ-छूत बड़े पैमाने पर व्याप्त है। विभिन्न संस्थाओं में भी जातीय मानसिकता स्पष्ट दिखाई देती है। 'मुक्तिपर्व' का ही एक अन्य पात्र सुनीत अपने अध्यापक से पूछता है—''आप तो हमें रोज पढ़ाते हैं हम सब एक हैं। हमारे देश में न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। तो मुझे तथा मेरे पिता को कल प्याऊ वाले नल से पानी क्यों नहीं पिलाया?''[10] ये प्रश्न शिक्षा और व्यवहार के बीच की खाई को उजागर करते हैं।

स्वतंत्रता पूर्व समाज में दलितों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी, किंतु आजादी के बाद भारतीय संविधान के कारण दलितों एवं स्त्रियों को बुनियादी अधिकार मिले तथा उन्हें हर क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर मिला। परंतु विडंबना यह है कि जिस संविधान ने इस देश के समस्त लोगों को समान हक एवं अधिकार दिए, उसी संविधान को सवर्ण मानसिकता वाले लोग स्वीकार नहीं करते। 'मुक्तिपर्व' में पंडित मास्टर का कथन इसी मानसिकता को दर्शाता है—''हैड मास्टर जी, कौन से संविधान की बात कर रहे हैं आप, जिस संविधान को एक अछूत ने बनाया है।''[11]

इसी प्रकार दलित स्त्री भी आत्मसम्मान, अस्मिता, समानता और स्वतंत्रता की बात करती है। वह भी एक मनुष्य की तरह जीना चाहती है और लोकतांत्रिक मूल्यों व मानवाधिकारों की प्रतिबद्धता रखती है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों को भी उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों को। स्त्री अपने स्वाभिमान, आत्मसम्मान तथा अपने अस्तित्व और अस्मिता की पहचान के लिए प्रतिपक्ष के रूप में पुरुष प्रधान सत्ता के वर्चस्व को चुनौती देती हुई सामाजिक न्याय की माँग करती है।[12] हालांकि, 'मानव की परख' की नायिका रानी, एक विधवा और गरीब दलित महिला, को तीन अभिशाप झेलने पड़ते हैं : अछूत होना, आर्थिक रूप से कमजोर होना, और विधवा होना। सेठ उससे कहता है कि ''यह सब भी हम पैसे वालों की ही है। जैसा पैसा चाहता है वहां होता है, जैसा तुम कहोगी वैसा नहीं।'' यह दर्शाता है कि सत्ता और न्याय आज भी पैसे वालों के हाथ में है।[13]

दलित उपन्यास समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व जैसे मूल्यों को स्वीकार करता है। उसका अंतिम लक्ष्य भारतीय समाज और राष्ट्र को अमानवीय व्यवस्था के शिकंजे से मुक्त कर प्रज्ञा, करुणा और शील के गुणों से युक्त समाज एवं संस्कृति का विकास करना है।[14] दलित उपन्यास रूढ़ एवं पारंपरिक समाज की पुनर्रचना की बात करता है। वह समाज की पुरानी इमारत को दुरुस्त करने के स्थान पर नई इमारत बाँधना चाहता है। वर्ण और जाति-व्यवस्था की नींव पर हिंदू समाज की

इमारत खड़ी हुई है। इस नींव को समाप्त कर समता, स्वतंत्रता, बंधुता और करुणा की नींव पर नई इमारत खड़ी करनी होगी, यही उनका दृढ़ विश्वास है।[15]

दलित उपन्यासों का केंद्रीय बिंदु 'मनुष्य' है। वे किसी विशिष्ट जाति, वर्ग या वर्ण का विरोध नहीं करते, बल्कि समग्र वर्ण और जाति व्यवस्था के विरोध में हैं। समाज में ब्राह्मण या सवर्ण का विरोध करना उनकी मानसिकता नहीं है। वे एक ऐसी समाज व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील हैं जहाँ मनुष्य, मनुष्य के प्रति आदर व सम्मान का भाव रखता हो, जहाँ मनुष्य, मनुष्य का शोषण न करे, और मनुष्य को उसके न्याय का अधिकार दिलाने के लिए संघर्षरत हों। वर्ण व्यवस्था की जड़ों पर ही आघात करने की आवश्यकता है। जब तक ये जड़ें नहीं तोड़ी जाएँगी, तब तक अस्पृश्यता की मानसिकता समाप्त नहीं हो सकती। शास्त्रों में जाति-धर्म की परंपरा को बनाए रखा गया है। शास्त्रों की हँसी उड़ाकर यह व्यवस्था समाप्त होने वाली नहीं है। इसके विरोध में प्रखर बुद्धिवादी एवं समतावादी होकर समाज रचना के प्रति प्रतिबद्धता की नितांत आवश्यकता है।[16]

'बंधन-मुक्त' जैसे उपन्यास भी शिक्षा के साथ-साथ रूढ़ियों के विरोध पर बल देते हैं। इसका नायक शिवराज अपने पिता की मृत्यु के बाद मृत्युभोज नहीं कराना चाहता क्योंकि वह जानता है कि कर्ज लेकर इन प्रथाओं पर खर्च करने से बेहतर शिक्षा पर खर्च करना है।[17] हालांकि, आरक्षण से समृद्ध हुए कुछ दलितों द्वारा अपनी ही जाति के गरीब और योग्य युवाओं से विवाह करने से कतराने की बात भी इस उपन्यास में सामने आती है, जिससे दलित समाज के भीतर ही एक नया वर्ग भेद पैदा हो रहा है।[18] यह स्थिति 'मानव की परख' उपन्यास में व्यक्त की गई चिंता को पुष्ट करती है कि ''प्रधानी और सरपंची तो हमें खाने को नहीं देगी। हमारे लिए तो पहले रोटी-कपड़ा और मकान का सवाल है। वह कैसे पूरा हो... ?''[19]

दलितों को अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था को ही है। पुरोहितवाद द्वारा दलित शोषण के ये सभी उपकरण हैं, इसलिए 'छप्पर' का नायक चन्दन यज्ञ के लिए चन्दा माँगने वालों को बतलाता है कि-''इसके सहारे कुछ लोगों की आजीविका चलती है और उनको मेहनत करके कमाने की जरूरत नहीं पड़ती है।''[20] इसके आगे वह अपनी बात को और विस्तार से कहता है कि ''उल्टी-पुल्टी बात नहीं साफ-सीधी बात कह रहा हूँ मैं। दुनिया में ऐसा कोई भगवान या परमात्मा नहीं है, जो सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है... ये मिथक हैं, काल्पनिक हैं तथा भोले-भाले लोगों को बेवकूफ बनाकर अपने स्वार्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से चालाक लोगों द्वारा ईजाद किये गये हैं।''[21]

डॉ. अम्बेडकर ने 'मूकनायक' के संपादकीय में लिखा था—''सत्ता, ज्ञान व अनुभव से वंचित रहने के कारण ही ब्राह्मणेतर जातियाँ पिछड़ी रहीं व उनकी उन्नति नहीं हुई, यह निर्विवाद है। किन्तु उनके दु:खों में कम से कम दरिद्रता सम्मिलित नहीं है... परन्तु इस सामाजिक विषमता का बहिष्कृत (दलित) समाज पर घोर परिणाम हुआ है। दौर्बल्य, दरिद्रता व अज्ञान रूपी त्रिवेणी संगम में यह विशाल बहिष्कृत वर्ग प्रवाहित हो गया है।''[22] सामाजिक न्याय को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में आरक्षण का प्रावधान किया गया है, ताकि सभी के साथ न्याय हो सके। लेकिन समाज के तथाकथित सवर्ण लोग इस आरक्षण नीति का विरोध करते हैं। 'जस तस भई सवेर' का प्रोफेसर दत्त इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता हुआ कहता है-''सेवाओं में भर्ती का आधार आरक्षण नहीं होना चाहिए। योग्य और दक्ष व्यक्ति को ही अवसर मिलना चाहिए।''[23]

इस जातिगत आरक्षण की समस्या का समाधान 'शिवदास' इन शब्दों में सुझाता है—''मेरा अटूट विश्वास है कि जब तक हम गली-सड़ी मानसिकता, आरक्षित वर्गों के प्रति पूर्वाग्रहों, दूराग्रहों, शोषक सामंतवादी एवं मनुवादी प्रवृत्तियों को त्याग न दें, तब तक आरक्षण बहुत ही आवश्यक है। जातिगत आरक्षण समाप्त करने का एक उपाय यह भी है कि जातिविहीन समाज की स्थापना की जाए। पहले हमें सच्चे भारतीय बनना होगा।''[24] सवर्ण मानसिकता को त्यागे बिना सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।

दलित समाज की वास्तविक मुक्ति और पहचान मानव समाज को धर्म से मुक्ति दिलाकर, तर्क-संगत सोच निर्मित कर, भाईचारे, बराबरी और आजादी पर आधारित जीवन पद्धति अपनाने की दिशा में ले जाने से ही संभव है। इसके लिए उन्हें अपने समाज को भी धर्म और उसके पहरेदारों - भगवान और भाग्य - से मुक्त करना होगा। इस व्यवस्था के संदर्भ में परिवर्तन की पहल डॉ. भीमराव अम्बेडकर से मानी जाती है। उन्होंने हिंदू धर्म की विकृतियों से मुक्ति पाने के लिए तीन मंत्र दिए—''शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित रहो।''[25] वे जानते थे कि हिंदू धर्म में रहते हुए दबे-कुचले गरीब दलित समाज, जो

इस धार्मिक, जातीय, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक अन्याय को अपनी नियति मानकर मस्त है, को पहले हिंदू धर्म व उनके शास्त्रों के पिंजरे से मुक्त कराना आवश्यक है। तभी वह एक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण जीवन जी सकेगा और मनुष्य होने का वास्तविक अहसास कर पाएगा। इसलिए उन्होंने दलित समाज के सामने बौद्ध धर्म का विकल्प रखा, लेकिन उसके वैज्ञानिक रूप को ही स्वीकार किया, अनुष्ठानिक या मिथकीय रूप को नहीं। बौद्ध धर्म में दलित समाज के सम्मान, समानता, भाईचारा और आजादी के लिए पूरा अवकाश है। लेकिन केवल धर्म परिवर्तन से दलित समाज का उद्धार संभव नहीं है। उसके साथ सामाजिक क्रांति लाना भी आवश्यक है, जो डॉ. अम्बेडकर के अनुसार शिक्षा, संघर्ष और संगठन से ही आ सकती है।[26]

जाति-भेद को खत्म करने के लिए 'अमर ज्योति' उपन्यास में अंतर्जातीय विवाह को एक महत्वपूर्ण समाधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नायक अमर, जो दलित है, और नायिका ज्योति, जो ब्राह्मण है, के बीच धार्मिक मान्यताओं पर तार्किक बहसें होती हैं। अमर, स्वामी प्रज्ञानंद के विचारों का हवाला देते हुए ज्योति को समझाता है कि ''इस दुनिया में ईश्वर ने कुछ नहीं बनाया है। सब मानव-निर्मित है। छोटी-बड़ी जातियां भी कुछ स्वार्थी लोगों ने अपने पूर्व जन्मों के सुख-आराम के लिए बनाई।''[27]

'उधर के लोग' जैसे उपन्यास स्वतंत्र भारत के संविधान में आरक्षण के प्रावधान के कारण ही सभी को समान न्याय मिलने की बात करते हैं। राना डोम जाति का होने के बावजूद अच्छी पढ़ाई कर वह शहर के सरकारी महकमे में अफसर बन जाता है। उसी प्रकार वाल्मीकि समाज का लड़का सुशील देश की सर्वोच्च सेवा में कलेक्टर के पद पर चुना जाता है। ''यह सिर्फ लोकतंत्र में संभव है कि मोची का बेटा राष्ट्रपति बने और सफाई कर्मचारी का बेटा सुशील कलेक्टर बने। लोकतंत्र बराबरी के मौके देता है।''[28] साधन और अवसर व्यक्ति की प्रगति में आवश्यक हैं, जो किसी को भी मिलने चाहिए। यही दलितों एवं स्त्रियों के लिए आवश्यक है।

भारतीय समाज में धर्म के नाम पर चलने वाले षड्यंत्र को दलित उपन्यास बार-बार उजागर करते हैं। 'छप्पर' में लेखक भारतीय समाज में ब्राह्मण की विशेष स्थिति पर कठोर व्यंग्य करता है—''धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि यहाँ ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता है। चाहे कितना भी अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो, लेकिन एक ब्राह्मण, पंडित, पुरोहिताई करके सुख और सम्मान से जी सकता है।''[29] 'मुक्तिपर्व' का वंशी सदैव सोचता है—''क्या हमारे हिस्से में देवी-देवता नहीं हैं? हमारे कौन-से देवी-देवता हैं? हम किनकी पूजा करें? न मंदिरों में उनके लिए प्रवेश है और न मस्जिदों में। क्या वे इंसान नहीं? उन्होंने आखिर कौन-सी गलती की है? उन्हें मंदिरों में प्रवेश की इजाजत क्यों नहीं है?''[30] 'जस तस भई सवेर' के भगत के शब्दों में इसका उत्तर मिलता है—''असल बात तो तुम भी जानते हो कि ये देवता वगैरह कुछ नहीं हैं भैया, सब खाली पड़े हैं। बिना कमाए मौज मारने का तरीका है... हाँ, मैं यह निश्चित जानता हूँ कि इनके छलावे और उनके डर में बड़ी ताकत है और लोगों का अज्ञान, अंधविश्वास और देवता एवं शैतान का छलावा ही हमारा आधार और ताकत है।''[31]

जाति व्यवस्था के संबंध में डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि यह कोई ईश्वरीय या शाश्वत नियम नहीं है। यह स्वार्थी तत्वों द्वारा, जो शक्तिशाली और अधिकार संपन्न थे और दूसरों पर अपनी दासता थोपने में समर्थ थे, बनाया गया नियम है। यह उच्च कहे जाने वाले लोगों के हाथ की तलवार है, जो बहुमत पर अपने राजनीतिक व प्रशासनिक वर्चस्व को बनाए रखती है। जाति सामाजिक संकीर्णता और मानसिक बीमारी की सूचक है। उनका मानना था कि दलितों का कल्याण इस व्यवस्था से मुक्त होने में ही है।

दलित लेखन ने दलित, शोषित, पीड़ित एवं अशिक्षित स्त्रियों में क्रांति की चेतना जगाई है। सदियों से सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखे गए इस वर्ग को उसकी अस्मिता से परिचित कराया है। दलित उपन्यासों में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की दृष्टि मिलती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत:, दलित उपन्यास सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए एक सजग और सक्रिय प्रयास हैं। ये केवल समस्याओं का विवरण ही नहीं देते, बल्कि एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज के निर्माण का मार्ग भी सुझाते हैं। 'मानव की परख' जैसे उपन्यास बताते हैं कि आजादी के बाद भी दलितों की असल समस्या उनकी मूलभूत जरूरतों से जुड़ी हुई है, जबकि कुछ नए उपन्यास अंतर्जातीय विवाह और धार्मिक पाखंडों के विरोध जैसे समाधानों पर जोर देते हैं। डॉ. आंबेडकर

के विचारों से प्रेरित ये उपन्यास जाति और वर्ग की संकीर्ण दीवारों को तोड़कर एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ मानवता का सूर्य अपनी पूरी रोशनी के साथ चमक सके। दलित उपन्यासों की यही संघर्षशील चेतना और न्याय के प्रति अटूट विश्वास उन्हें हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। दलित साहित्य की संवेदना मानवता की पुकार है, जो केवल यह चाहती है कि मनुष्य की पहचान उसके मनुष्य होने के आधार पर हो।

शोधार्थी
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. छप्पर, जय प्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 37–38
2. वही, पृ. 37–38
3. दलित साहित्य के प्रतिमान, डॉ. एन. सिंह, पृ. 168
4. वही, पृ. 169
5. वही, पृ. 169
6. छप्पर, जय प्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 83
7. दलित साहित्य के प्रतिमान, डॉ. एन. सिंह, पृ. 169
8. वही, पृ. 169
9. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 63
10. वही, पृ. 52
11. वही, पृ. 104
12. हिन्दी उपन्यास और दलित नारी, डॉ. कुसुम मेघवाल, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ. 16
13. हिंदी दलित कथा–साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, डॉ. रजत रानी 'मीनू', पृ. 71
14. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 63
15. वही, पृ. 63
16. वही, पृ. 63
17. हिंदी दलित कथा–साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, डॉ. रजत रानी 'मीनू', पृ. 72
18. वही, पृ. 72
19. वही, पृ. 72
20. दलित साहित्य के प्रतिमान, डॉ. एन. सिंह, पृ. 170
21. वही, पृ. 170
22. मूकनायक (संपादकीय), डॉ. भीमराव अम्बेडकर
23. जस तस भई सवेर, सत्य प्रकाश, सागर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 52
24. वही, पृ. 106
25. डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचार
26. वही
27. हिंदी दलित कथा–साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, डॉ. रजत रानी 'मीनू', पृ. 73
28. उधर के लोग, अजय नावरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 54
29. छप्पर, जय प्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृ. 31
30. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2013, पृ. 49–50
31. जस तस भई सवेर, सत्य प्रकाश, सागर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 144–115

शोध-पत्र

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिन्दी उपन्यास

अमित कुमार सिंह

शोध सार :

हिंदी उपन्यासों के बदलते परिदृश्य में भूमंडलीकरण के दौर में विस्थापन की समस्या विशेष रूप से प्रमुख होकर सामने आती है। नब्बे के दशक में जहाँ एक ओर भारत आर्थिक संकट और विपन्नता से जूझ रहा था, वहीं दूसरी ओर अमेरिका, चीन जैसे विकसित देश महाशक्ति के रूप में उभरकर विश्व को भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत 'वैश्विक ग्राम' में बदलने के प्रयास में संलग्न थे। भारत ने भी स्वयं को इस वैश्विक व्यवस्था के साथ जोड़ लिया। यद्यपि भूमंडलीकरण मानव इतिहास के लिए कोई नई परंपरा नहीं है, इसके ऐतिहासिक आधार पहले से ही मौजूद हैं। फिर भी समकालीन वैश्वीकरण अपनी कुछ विशेषताओं के कारण पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं से भिन्न है। भारत में इस प्रक्रिया ने जहाँ अनेक सकारात्मक परिवर्तन संभव किए हैं, वहीं इसके दुष्प्रभाव भी व्यापक रूप में अनुभव किए गए हैं।

बीज शब्द :

भूमंडलीकरण, औद्योगीकरण, सामंतवाद, पूँजीवाद, अस्तित्ववाद, साम्राज्यवाद, आदिवासी, उपन्यास।

आलेख :

साहित्यिक विधाओं के विकास एवं रूपांतरण में समाज की भूमिका सदैव निर्णायक रही है। साहित्य हमेशा जनसामान्य तक पहुँचकर विभिन्न विचारधाराओं का संचार करता रहा है। समाज जैसे-जैसे परिवर्तित होता है, साहित्यिक रूप और उनके साथ जुड़ी विचारधाराएँ भी बदलती रहती हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास इसी निरंतर प्रक्रिया का द्योतक है, जिसमें परिवर्तन के विविध आयाम अंतर्भूत हैं।

प्रारंभिक युग में महाकाव्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता को अभिव्यक्त करने का मुख्य माध्यम बने। इनका स्वरूप जनपदीय समाजों में आकार ले चुका था। महाकाव्यों की कथावस्तु प्राय: राष्ट्रीय इतिहास और जातीय मिथकों से ली जाती थी तथा इनके नायक वीर योद्धा या राजवंश से जुड़े धीरोदात्त पात्र होते थे। भारतीय परंपरा के रामायण और महाभारतन केवल युगों-युगों तक स्मरणीय रहे, बल्कि आगे की महाकाव्य परंपरा को भी दिशा प्रदान की। हिंदी का प्रारंभिक महाकाव्य चंदबरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो है, जिसमें पहली बार मानव जीवन के संघर्ष की गाथा अंकित हुई। इसके अतिरिक्त पद्मावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी और प्रियप्रवास जैसे ग्रंथ हिंदी साहित्य की महाकाव्य परंपरा के गौरवपूर्ण उदाहरण हैं। सामाजिक संरचना और राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही महाकाव्य लेखन की परंपरा भी क्षीण होती गई। इस प्रकार साहित्यिक विधाओं का प्रवाह समाज के साथ निरंतर गतिशील और परिवर्तनशील बना रहा।

21वीं सदी में भारतीय समाज एवं संस्कृति साहित्य की दुनिया में पूरे बदलाव के साथ अवतरित हो रहा है; जिसमें 1991 में उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण से पनपे बाजारवाद और उपभोक्तावाद इसके प्रमुख बिंदु हैं : जिसने पूरी दुनिया को अपने बाजार के रूप में परिवर्तित कर दिया। समकालीन शब्द का अंग्रेजी रूप ''Contemporary'' है, जिसका अर्थ है ''समकाल का'' या ''जो किसी समय के साथ-साथ हो।'' इसे इस तरह समझा जा सकता है कि समकालीन वह है जो अपने समय के अनुरूप

हो।यह भी सत्य है कि शब्दों के प्रयोग के साथ उनका अर्थ बदल सकता है। ''समकालीन'' विशेषण है, जबकि ''समकालीनता'' इसका भाववाचक संज्ञा रूप है।

वर्तमान में समकालीन शब्द का प्रयोग साहित्य की लगभग सभी विधाओं में किया जाता है, जैसे :

- ⋆ समकालीन उपन्यास
- ⋆ समकालीन कहानी
- ⋆ समकालीन नाटक
- ⋆ समकालीन काव्य

इस प्रकार, समकालीन साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जो अपने समय और समाज के अनुरूप लिखा गया हो। समकालीन हिन्दी कहानी यथार्थ के विविध आयाम में डॉ. ज्ञानवती अरोड़ा ने लिखा है ''समकालीन ही वह बिन्दु साहित्य जगत में है, जहाँ से साहित्यिक रचना अग्रसर होती है, क्योंकि समकालीन में परम्परा है, संस्कृति है, वह केवल आज नहीं है आज बीते 'कल' से ही निर्मित होती है। 'आज' और कल का जोड़ ही समकालीनता है।''[1] आज के मूल अर्थ में बहुत कम लेखकों ने इसे आधुनिकता से अलग माना है। समसामयिकता एक कलेवर की तरह होती है। आधुनिकता समसामयिकता, बिखराव और गतिशीलता की उस चेतना को समेटने का दृष्टिकोण है जो निरंतर चल रही होती है।

समकालीन शब्द का प्रयोग करते समय कला की धारणा पर ध्यान देना भी आवश्यक है। देश और काल का ज्ञान ही प्रमुख आधार है। प्रत्येक दार्शनिक इस दार्शनिकता या गुरु की देशकाल संबंधी अवधारणाओं को स्वीकार करते थे, लेकिन यह तत्ववाद आधुनिक साहित्य में उसी रूप में दिखाई नहीं देता। यहाँ देश और काल साहित्य में अनुभव के रूप में मौजूद रहते हैं। लेखक ने देश-काल में स्थित मनुष्य और उसकी परिस्थितियों पर विशेष ध्यान दिया है। किसी कालखंड में मानव के प्रवाहित होने का चित्रण यही दर्शाता है कि वह समय और परिवेश में स्थित है। लेखक की पद्धति और मानव केंद्रित दृष्टिकोण के कारण, देश और काल से प्रभावित मानव के माध्यम से हमें देश और काल का ज्ञान प्राप्त होता है, अन्य किसी रूप में नहीं। कालिदास और बाणभट्ट के साहित्य में देश, काल और ईश्वर के संदर्भ में निश्चित विचार रहे हैं, लेकिन वे व्यक्ति के अवलोकन में बाधक नहीं बने। उदाहरण स्वरूप, 'रघुवंश' में राजाओं का इतिहास एक कालक्रम में प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, वहां काल की धारणाएँ या राजाओं और प्रजाजनों के विविध रूपांकन में कोई विघ्न नहीं आता।

कालिदास हमारे सामने उस प्राचीन काल के मनुष्य, उसके समय और वातावरण का चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसे देखकर हम आज भी उस काल की विशिष्ट घटनाओं का अनुमान लगा सकते हैं। प्राय: आधुनिक लेखक देश और काल के विषय में किसी विशेष दर्शन या अवधारणा को थोपते नहीं हैं। वे देश और उसके समय-काल के संदर्भ में मनुष्य को देखते हैं और उसकी मानसिकता, मान्यताओं और क्रियाओं को मध्य में रखकर निष्कर्ष निकालते हैं। लेखक की दृष्टि से, 'समकालीन' शब्द यह बताता है कि किसी विशेष समयखंड या प्रवाह में मनुष्यों की वास्तविक स्थिति क्या है। मनुष्य की स्थिति का अध्ययन या उसे अंकित, चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं। शाश्वत काल भी इसी समकालीन रूप में अनुभव किया जा सकता है। काल अनंत है, जिसे दार्शनिक या साधक उसकी अमूर्तता और अनंतता में पकड़ते हैं। लेकिन लेखक मानव जीवन और प्रवृत्ति को वास्तविक रूप में ग्रहण करता है। जो कुछ भी किसी विशेष समय के वर्तमान में घटित होता है, वही समकालीन कहलाता है। इस अर्थ में पंत और अज्ञेय से लेकर आज के लेखक, कवि, सामान्य कथा लेखक और गजलकार भी हमारे समकालीन कहे जा सकते हैं। समकालीन साहित्य किसी काल की समस्याओं और चुनौतियों का सामना करता है और उस काल की यथार्थवादी तस्वीर जनता के सामने प्रस्तुत करता है।

भारत में सन् 1990 के बाद वैश्वीकरण की प्रक्रिया अपनाई गई। इसके बाद सन् 1995 में विश्व व्यापार संगठन (WTO) का गठन हुआ। वैश्वीकरण का एक और अर्थ अमेरिकीकरण से भी जुड़ा हुआ माना जाता है। समाजशास्त्री श्यामचरण दूबे का मानना है कि-''समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आंधियाँ कई दिशाओं से आ रही है-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है तो दूसरी ओर परम्परा का आग्रह है, पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन शैली और मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क अपना रहे हैं। इस अंधानुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है। अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिविहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की। हम

इस प्रवृति के असहाय दर्शक बनकर रह गए हैं।''[2] इस वैश्विक आर्थिक विचारधारा का प्रभाव साहित्यकारों पर भी पड़ा है। आज सभी बाजारवाद से त्रस्त हैं। बाजार अब केवल व्यापार का माध्यम नहीं रहा, बल्कि टेलीविजन और मोबाइल फोन के जरिए लोगों के घरों, यहां तक कि बेडरूम तक पहुँच गया है।

वैश्विक बाजार ने खासकर आम जनता की आकांक्षाओं को इतनी ऊँचाई दी है कि लोग उन्हें किसी भी कीमत पर प्राप्त करना चाहते हैं। इस पाने की लालसा में उन्होंने मानवीय मूल्यों को कहीं दफन कर दिया है। पहले भी गरीब लोग थे, लेकिन विषमता इतनी गहरी नहीं थी। आपसी ईर्ष्या और द्वेष नहीं था। आज अमीरी और गरीबी की खाई दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। जहाँ अमीरी पहाड़ की तरह खड़ी है, वहीं गरीबी का महासमुद्र हिलोरे मार रहा है।युवा शक्ति, जिस पर हमें गर्व है, वह अपनी लालसाओं को पूरा करने में लगी है। उसे न परिवार की चिंता है, न सगे-संबंधियों की, न ही नाते-रिश्तेदारों की। रिश्ते अब क्षणिक और पैसे पर आधारित हो गए हैं। प्यार केवल तब दिखाई देता है, जब हम अपने चाहने वालों को कुछ खरीदकर देते हैं। हमारे पर्व, त्योहार और सांस्कृतिक संबंध भी अब बाजार के अधीन हो गए हैं। वैश्वीकरण के इन दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देशों के साहित्यकार और संस्कृतिकर्मी गहरी चिंता में हैं। इस बारे में ज्योतिष जोशी लिखते हैं, ''उपन्यास अपने समय की नैतिकता से दूर नहीं हो सकता। उपन्यासकार अगर नैतिक समस्याओं से आँखें चुराता है तो मानना चाहिए कि वह अपने दायित्व से मुँह मोड़ रहा है।''[3]

वैश्वीकरण के नकारात्मक पक्ष से साहित्यकारों ने अपनी नजरें नहीं हटाईं, बल्कि वे समस्या की गहराई तक जाकर इसके समाधान के लिए उत्तर खोजने में लगे हैं।" हिन्दी साहित्य के संदर्भ में देखें तो कविता तथा कथा-साहित्य में वैश्वीकरण का प्रभाव विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। नए से नया और पुराने से पुराने कवि भी आज भूमण्डलीकृत स्थितियों से विचलित हो उठे हैं और अपनी कविताओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों आदि के माध्यम से चित्रित कर रहे हैं।''[4]

समकालीन हिन्दी उपन्यास ने अत्यंत सूक्ष्म संवेदन, गहराई और विस्तार के साथ देश, समाज और व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का कथात्मक रूप में अध्ययन किया है। भूमंडलीकरण के प्रभावों का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसे हिन्दी उपन्यास ने चित्रित न किया हो। इसका आशावादी पहलू यह है कि उपन्यासकार ने यथास्थिति का विरोध करने वाले पात्रों और परिस्थितियों का सृजन कर अपनी सार्थक भूमिका निभाई है। विगत 20-25 वर्षों में वैश्विक आर्थिक चेतना विविध रूपों में प्रकट हुई है। भारत के संदर्भ में यह एक सांस्कृतिक संक्रमण का काल माना जा सकता है। उपन्यासकारों ने इन वैश्विक प्रभावों का आकलन जिस रूप में किया है, वह अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण है। उदाहरण के रूप में अलका सरावगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' पूरी तरह से भूमंडलीय समस्याओं पर केन्द्रित है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में पिछले दस-पंद्रह वर्षों में हमारे जीवन-मूल्यों और जीवनाचार में आई तीव्र परिवर्तनशीलता के प्रति उपन्यास में चारों ओर गहरी संवेदना दिखाई देती है। 'जमाना हर समय बदलता है, पर पिछले दस सालों में जमाना एक बार छलांग लगाकर जैसे सौ साल आगे निकल गया है।' इससे पीढ़ियों का अंतराल भी तेजी से बढ़ा है। उपन्यास के एक प्रौढ़ पात्र के.बी. की पीढ़ी अब अपने को जमाने की नब्ज-पकड़ने में अक्षम पा रही है। अब वही सफल हो सकता है जो जमाने के साथ चलकर रोज अपनी समाज को अपडेट तरोताजा रख पाता हो। अलका सरावगी कृत उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' वैश्विक आर्थिक चेतना से युक्त उपन्यास है अलका जी ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए वर्तमान में उपयोग की जा रही शब्दावली को ही माध्यम बनाया है। उपन्यास का पात्र के.बी. एक सफल मैनेजर है। के.बी. शहर में सबसे ज्यादा पैसा पाने वाले ''मार्केटिंग कन्सल्टेंट है''[5] साठ साल होने के बाद भी के.बी. में जिजीविषा बची हुई। वे अपने बारे में बताते हुए कहते हैं, ''हम मार्केटिंग के आदमियों का एक पाँव इधर, तो दूसरा पाँव नारद मुनि की तरह कहीं और रहता है। नारद मुनि की तरह हम कहीं टिकते नहीं हैं और उन्हीं की तरह थोड़ी-सी बात इधर की उधर और इधर तो हो ही जाती है।'' जिन निजी कम्पनियों के पास अपने हवाई जहाज है उनके मालिक दूरदराज के द्वीपों पर छुट्टियाँ बिताने जाते हैं। उनके प्राइवेट शिप या थॉट होते हैं। उनके फार्म हाउस में उनके घोड़े पलते हैं और यह सब नहीं होता, तो इन सब चीजों के सपने होते हैं। जमाना ये दिल मांगे मोर का है। बस्तर के गाँव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी. वी. पर वाशिंग मशीन पर कपड़े धुलते देख रहा है और डबल डोर फ्रिज में जाने कम से रखी ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ

सपने देख रही है। फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे होते तो किसी के ज्यादा बड़े सपने है।''[6]

अलका सरावगी की पैनी नजर विश्व की आर्थिक व्यवस्था में हो रहे तेजी से बदलाव पर केंद्रित है। वे अपने उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में सन 2007 की शुरुआत की ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट का उल्लेख करती हैं, जिसमें कहा गया था कि देश में औद्योगिक उत्पादन आशा से कहीं अधिक हुआ है। बैंकों ने ब्याज पर धन देने का नया रिकॉर्ड बनाया है और तनख्वाहों में वृद्धि के कारण देश में खरीदारों की संख्या बहुत बढ़ गई है। के.बी. इस पर प्रसन्न हैं क्योंकि चोरडिया के पास खुश होने के और भी कारण बढ़ गए हैं। भारत के लोग दुनिया भर में फैक्ट्रियों खरीदते हुए नजर आ रहे हैं। टाटा ने इंग्लैंड में स्टील फैक्ट्री खरीद ली और बिड़ला ने अमेरिका में एल्युमिनियम के व्यवसाय में प्रवेश किया। के.बी. अपने अंदाज में हँसते हुए कहते हैं :

'चीन का ड्रैगन 2007 में 9 प्रतिशत की वृद्धि दिखाए, तो क्या इंडिया का हाथी उससे थोड़ा ऊपर, 9.1 प्रतिशत की वृद्धि के साथ, पीछे रहेगा?' इस समस्या पर विचार करते हुए अलका सरावगी ने 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में लिखा है, 'यह एक मानी हुई वास्तविकता है कि सभ्यता के विकास में जो पूँजीवाद सोच से संचालित होती है, मनुष्य को एक व्यय से जोड़ने वाले समरसता के तमाम जरूरी मूल्य सिद्धान्त, मनोभाव, विचार सब हाशिये पर सरका दिए जाते हैं। उस पाँचवें शख्स ने आगे कहा- 'मशीनों और सुख-सुविधाओं के लिए आविष्कृत संवेदन शून्य उपकरणों की सगत में इन्सान के लिए एकमात्र सचेतता व सक्रियता उपयोगी और अनुपयोगी का स्वीकार अस्वीकार हो गया है। जो कम्पनी काम की चीज थी अब काम की न रहकर फालतू हो गई है। इसे निकालो इसे हटाओ। मतलब इस पूँजीवादी युग में केवल पूँजी ही प्रधान है पूँजी नहीं तो सम्मान नहीं।'

वैश्वीकरण ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर तीव्र प्रभाव डाला है और उसे कई हद तक मूल्यविहीन कर दिया है। पहले घर में बड़े-बुजुर्गों को सम्मान और गर्व की निशानी माना जाता था, लेकिन अब उन्हें अनुत्पादक समझकर उपेक्षित किया जाने लगा है। इसके परिणामस्वरूप पुणे जैसे महानगरों में ऐसे माता-पिता ने वृद्धाश्रम जैसी संस्थाएँ ही बना दी हैं, जहाँ वे अपने सुख-दु:ख बाँटते हैं। कुछ माता-पिता अपने बच्चों से निराश होकर वृद्धाश्रम की ओर प्रस्थान कर जाते हैं।

भारतीय समाज में इस प्रकार के रवैये ने पारंपरिक सामाजिक संरचना के ताने-बाने को बिखेर दिया है। वैश्वीकरण से ओत-प्रोत ममता कालिया का चर्चित उपन्यास 'दौड़' इस बदलते समय का एक महत्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास वर्तमान समय की वास्तविकताओं से सीधे मुठभेड़ करता दिखाई देता है। जब तक भारत ने वैश्वीकरण में प्रवेश नहीं किया था, लोग एक-दूसरे के प्रति आभार और सेवा का भाव रखते थे। दूर-दराज के शहरों में आने वालों के साथ अजनबीपन का व्यवहार नहीं किया जाता था। लेकिन वैश्विक आर्थिक चेतना ने मानवीय संबंधों को काफी हद तक खत्म कर दिया है। अब केवल एक ही संबंध महत्वपूर्ण रह गया है पैसे का। व्यक्तिगत हैसियत और संपत्ति के आधार पर ही लोग मोलभाव करते हैं। उपन्यास में इस पर विचार करते हुए कहा है-''मैं कहता हूँ यह एकदम व्यापारी शहर है, सौ प्रतिशत। मैं चालीस घंटे के सफर के बाद यहाँ उत्तरा 'एक थी व्हीलर' वाले से पूछा I.I.M.K. चलोगे? किदर बोलने से उसने पूछा। मैंने कहा भाई वस्त्रापुर में जहाँ मैनेजरी की पढ़ाई होती है, उस जगह जाना है तो जानते हो साला क्या बोला, 'टू हण्ड्रेड लगेगा' मैंने कहा, 'तुम्हारा दिमाग तो ठीक है।' उसने कहा, 'साब आप उदर से पढ़कर बीस हजार की नौकरी पाओगे, मेरे को टू हण्ड्रेड देना आपको ज्यादा लगता है क्या?''[7]

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी इस कदर बदल गई है कि वह चाहकर भी इसे बचा नहीं सकते। अब हर चीज साल भर उपलब्ध है। पहले जो सब्जियाँ और फल केवल मौसमी होते थे, अब उन्हें आप किसी भी महीने या किसी भी मंडी में कभी भी खरीद सकते हैं। शर्त बस यह है कि इसके लिए आपको अपनी जेब ढीली करनी पड़ेगी। लोग इस बदलाव में पूरी तरह ढल चुके हैं और इसे अब फैशन भी मान लिया गया है। गरीब भी सब्जीवालों के यहाँ मोलभाव करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। ममता कालिया ने इस स्थिति पर तंज कसते हुए लिखा है, ''यही हाल तरकारियों का है। हर कालोनी के गेट पर सुबह तीन-चार घंटे एक ऊँचा-देला वाला तरकारियों से सजा खड़ा रहेगा। वह घर-घर घूमकर आवाज नहीं लगाता। स्त्रियों उसके पास जाएंगी और खरीददारी करेगी। उसके ठेले पर खास और आम तरकारियों का अम्बार लगा हुआ है हरी शिमला मिर्च तो लाल और पीली भी। गोभी है तो ब्रोकोली भी। सलाद की शक्ल का थाई कैपेज भी दिखाई दे जाता है। खास तरकारियों

में किसी की भी कीमत डेढ़ दो सौ देखने पर प्लास्टिक की गेंद लगते हैं। ये टमाटर क्यारी में नहीं प्रयोगशाला में उगाएह गए लगते हैं। कीमत दस रुपये पाव टमाटर का आकार इतना बड़ा है कि एक पाव में एक टमाटर ही चढ़ सकता है। दस रुपये का एक टमाटर। हे। भगवान क्या टमाटर भी N.R.K. हो गया? शिकागो में एक डॉलर का एक टमाटर मिलता है। भारत में टमाटर उसी दिशा में बढ़ रहा है। तरकारियों विश्व बाजार की जिस बनती जा रही है। इनका भूमण्डलीकरण हो रहा है। पवन को याद आता है उसके शहर में घूरे पर भी टमाटर उग जाता था। किसी ने पका टमाटर कूड़े करकट के ढेर पर फेंक दिया। वहीं पौधा लहलहा उठा। दो माह बीतते में फल लग जाते है।''[8]

औद्योगिकरण की आँधी में भारत में गाँवों की पूरी तरह उपेक्षा की गई है। वर्ल्ड बैंक की योजना यह दिखाती है कि भारत में अधिक से अधिक लोग गाँवों से शहरों की ओर पलायन करें। हमारी नीतियाँ गाँवों के लिए सबसे आखिरी प्राथमिकता बन गई हैं। अब गाँवों में अधिकतर बूढ़े, बेकार, बच्चे, विधवा और विकलांग ही दिखाई देते हैं। सारी अर्थव्यवस्था शहरों के इर्द-गिर्द घूम रही है। शहर अब आर्थिक केंद्र बन गए हैं। लोग मजबूर होकर गाँव छोड़कर शहरों की ओर बढ़ रहे हैं। वे शहरों में भी रहना नहीं चाहते, लेकिन उनके पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है। प्रभा खेतान ने 'पीली आंधी' उपन्यास में इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है :

''क्यों भइया कलकत्ता घूमने आए हो या व्यापार करने या रहने?''

''व्यापार करने'', किशन का सपाट उत्तर था।

''तब ठीक है। रुपया कमा लोगे लेकिन यहाँ कभी रहना नहीं। यह दोजख है दोजख। बड़ा बाजार में रहना भी कोई रहना है।

एक-एक कमरे में चार-चार, छः-छः। लोग बिटवा का ब्याह करेंगे तो उसी में पर्दा तानकर अलग कमरा बना लेंगे। सुबह पखाने के लिए लोटा लिए लाइन में खड़े हो। सड़ांध और बदबू आक थे।'' कहते हुए उसके ठीक किशन के बगल में थूक दिया, ''हरे राम... हरे राम। यहाँ खुली हवा के लिए तरस जाते हैं। गाँव में थे तो माना कि गरीब थे मगर।''

''तब भाई हलवाई जी आप यहाँ क्यों आए?''

''पेट के लिए यह पापी पेट जो न कराए सो अच्छा है। अपनी तोद पर हाथ फेरते हुए उसने कहा।''[9]

वैश्वीकरण में प्रवेश के बाद इस देश में पूँजी का प्रवाह बहुत बढ़ गया है। अब घरेलू वस्तुओं के दाम अंतर्राष्ट्रीय मूल्य तय कर रहे हैं। डॉलर के मुकाबले रूपया हमेशा से कमजोर रहा है। करोड़ों के भ्रष्टाचार की बातें आम हो गई हैं। हमारे शास्त्रों में कहा गया है : उत्तम खेती, मध्यम व्यापार, निकृष्ट चाकरी, भीख; लेकिन अब ईमानदारी और व्यापार की पुरानी परंपराएँ बीते जमाने की बात हो गई हैं। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रहा। व्यापारी के लिए व्यापार करने की पहली शर्त अब सीधापन नहीं, बल्कि चालाकी बन गई है। प्रभा खेतान के उपन्यास 'पीली आंधी' में इसे इस तरह दर्शाया गया है कि किसी का टेढ़ा-मेढ़ा होना अब कमजोरी माना जाने लगा है। प्रभा खेतान कहती हैं ''साहब कह रहे थे, तुम मारवाडी, बनिएँ हमें लूट रहे हो। मैंने बस इतना कहा-सर यह लूटना तो हमने अंग्रेजों से सीखा है। हमको व्यापार करना कहाँ आता था। कभी राजस्थान गये हैं? भूख और गरीबी देखी है? मेरा डुंगरगढ़ में साल में एक फसल होती है. ज्वार बाजारा, ज्वार की और वह भी बारिश हुई तो फसल होगी, नहीं तो अकाल। महामारी और भूख है। नंगी जलती हुई भूख। हम राजस्थानी स्वभाव से बहुत भावुक और सीधे होते हैं। जबान के पक्के। यह तो आपके बनाए टेढ़े-मेढ़ रास्ते पर चलने के लिए टेढ़ी-मेढी चाल सीखनी पड़ी है।''[10]

एक समय था जब स्वामी विवेकानन्द ने मैसूर के राजा को लिखे पत्र में कहा था कि अमेरिका में सर्वशक्तिमान डॉलर सब कुछ कर सकता है। आज वही स्थिति भारत पर भी लागू होती नजर आ रही है। देश में अमेरिका से डॉलर की बारिश हो रही है और इसके दुष्परिणाम भी दिखाई दे रहे हैं। कई युवा अमेरिका में बैठकर अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का स्वप्न संजोते हैं। आज देश का हर युवा अमेरिका जाना चाहता है। कुछ समय पहले युवाओं के बीच एक सर्वेक्षण किया गया, जिसमें उनसे पूछा गया कि यदि उन्हें अवसर मिले तो क्या वे अमेरिका जाना चाहेंगे? इसमें साठ प्रतिशत युवाओं ने हाँ में उत्तर दिया। रवींद्र वर्मा ने इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए अपने उपन्यास में लिखा है : ''भैया, नमन ने पूछा, 'क्या तुम्हारा अमरीका जाने का फैसला पक्का है? हाँ दादा उसने आँखें ऊपर उठाईं, बात सिर्फ अमरीका की नहीं है। असली बात काम और कमाई की है। कोई मुकाबला नहीं है। अब दुनिया एक है, दादा मदन ने ऊपर की छत की ओर देखा,

यह भूमण्डलीकरण का जमाना है।''[11]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि जब से भारत की अर्थव्यवस्था ने वैश्विक दौर में प्रवेश किया है, तब से समाज में एक विचित्र प्रकार की विषमता उत्पन्न हो गई है। एक ओर समृद्धि के ऊँचे पहाड़ दिखाई दे रहे हैं, तो दूसरी ओर गरीबी की खाईयाँ और भी बढ़ गई हैं। भारत के धनाढ्य विश्व के अमीरों की सूची में शामिल होने लगे हैं। आज ऐसा वातावरण निर्मित हो गया है कि व्यक्ति कुछ पाने की जिद में अपने सर्वस्व को लुटा रहा है। वह दूसरों के पीछे इस कदर डूब गया है कि उसने समस्त मानवीय और नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे दी है। बाजारवादी संस्कृति ने पैसे के महत्त्व को बढ़ा दिया है। भारतीय संस्कृति के पर्व और त्योहार अब बाजार के अधीन हो गए हैं और लोगों की भावनाओं का भरपूर दोहन किया जा रहा है।

आज सभी संबंधों की रक्षा का आधार केवल पैसे बन गया है। पति-पत्नी का रिश्ता तभी कायम रहता है जब वे एक-दूसरे को महँगे उपहार देते हैं। भाई-बहन का प्यार तभी जाहिर होता है जब महँगी वस्तु उपहार में दी जाए। कोई त्योहार तभी पूरी तरह मनाया जा सकता है जब बाजार से कोई वस्तु खरीदी जाए। इस प्रकार की उपभोक्तावादी संस्कृति ने आज समाज में अजीब किस्म की बेचैनी और तड़प पैदा कर दी है। हिन्दी उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से इस सच को बखूबी उजागर किया है। यह सब उस समाज में घटित हो रहा है, जिसकी नींव त्याग और तपस्या पर रखी गई थी। उपभोगवादी संस्कृति ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है और इसे बचाने का कोई स्पष्ट उपाय नजर नहीं आता।

हिंदी विभाग, पी-एच. डी. शोधार्थी
सिदो-कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका
Email : akswild@yahoo.com

सन्दर्भ सूची

1. समकालीन हिन्दी कहानी : यथार्थ के विविध आयाम, डॉ. ज्ञानवती अरोड़ा, हिन्दी बुक सेंटर, 1994, पृ. 6
2. समय और संस्कृति, श्यामचरण दूबे, वाणी प्रकाशन, 2018, पृ. 131
3. उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिश जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ, 2016, पृ. 15
4. भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016, पृ. 73
5. एक ब्रेक के बाद, अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, 2019, पृ. 8
6. वही, पृ. 11
7. दौड़, ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, 2023, पृ. 14
8. वही, पृ. 17-18
9. पीली आँधी, प्रभा खेतान, लोकभारती प्रकाशन, 2019, पृ. 34
10. वही, पृ. 290-91
11. दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2007, पृ. 63

बबिता सिंह

नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में मिथिला की लोक संस्कृति

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में नागार्जुन का नाम एक ऐसे साहित्यकार के रूप में अंकित है जिन्होंने 'आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से मिथिला की लोक संस्कृति को सजीवता प्रदान की।'[1] डॉ. प्रकाश चन्द्र भट्ट के अनुसार—''नागार्जुन प्रगतिशील चेतना के सफल कवि ही नहीं, एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार भी हैं जिन्होंने ग्रामीण जीवन की समस्याओं को मुखर स्वर दिया।''[2] उनकी रचनाधर्मिता उस युग की देन थी जब देश स्वाधीनता के संघर्ष से उबरकर एक नए सामाजिक ढाँचे की ओर बढ़ रहा था। इसी संक्रमण काल में नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन के उन पहलुओं को अपना विषय बनाया जो सदियों से उपेक्षित रहे थे। उनके उपन्यासों की कथावस्तु ग्रामीण क्षेत्र की जनसमस्याएँ, वहाँ के रीति-रिवाज और सामान्य लोगों के दु:ख-दर्द हैं, जिन्हें उन्होंने एक प्रभावशाली भाषा में अभिव्यक्त किया है।[3] यह आलेख नागार्जुन के प्रमुख उपन्यासों के माध्यम से मिथिला की लोक संस्कृति के उस यथार्थ, सघन और बहुआयामी चित्रण को समझने का प्रयास करता है।

शोध आलेख

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला का लोकजीवन केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि कथा का सक्रिय अंग है। वहाँ के रीति-रिवाज, त्यौहार, गीत, लोककथाएँ और पारिवारिक संबंध जीवन की धड़कनों के साथ जुड़े हुए दिखाई देते हैं। ग्रामीण समाज की बोली-बानी, उसकी आस्थाएँ और संघर्ष मिलकर एक ऐसा सांस्कृतिक परि श्य निर्मित करते हैं, जो पाठक को मिथिला की असली धरती से साक्षात्कार कराता है।

मिथिला के लोकजीवन का सांस्कृतिक चित्रण

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला की लोक संस्कृति के विविध पहलू सजीव हो उठे हैं। डॉ. सरोजनी त्रिपाठी के अनुसार—''नागार्जुन ग्रामीण जीवन से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं और उनके अधिकांश उपन्यासों की कथा का अंचल मिथिला प्रदेश ही है।''[4] रतिनाथ की चाची में मिथिला के लोकजीवन की अनेक छवियाँ मिलती हैं। जैसा कि उपन्यास में वर्णित है ''आम के पेड़ पर सबसे पहले पके हुए आम को भगवान पर भोग लगाते हैं।''[5] यह लोक-विश्वास मिथिला की सांस्कृतिक पहचान को दर्शाता है। इसी प्रकार विद्यारम्भ संस्कार के समय ''विद्यारम्भे गुरू: श्रेष्ठ'' के अनुसार रविवार को विद्यारम्भ न करने की परम्परा[6] लोकजीवन की गहरी पैठ को दर्शाती है।

मिथिला की सामाजिक संरचना का यथार्थ चित्रण नागार्जुन ने बड़ी कुशलता से किया है। उपन्यास में वर्णित है—''मिथिला ब्राह्मणों में एक-एक की दस-दस शादियाँ हो जाती हैं... लड़कियों को वर पक्ष से धन लेकर बेचा जाता है।''[7] इस प्रकार ''बिकौवा और असंगत विवाहों की कुरीतियों से मिथिला का ब्राह्मण समाज बुरी तरह आक्रान्त है।''[8] नागार्जुन ने इन सामाजिक कुरीतियों का वर्णन मात्र नहीं किया, बल्कि एक प्रगतिशील दृष्टिकोण से उनकी कटु आलोचना भी की है। वे लोक संस्कृति के माध्यम से समाज के आन्तरिक अन्तर्विरोधों, शोषण के तंत्र, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर करारी चोट करते हैं।

लोक-विश्वास और अलौकिक शक्तियों का संसार

नागार्जुन के साहित्य में मिथिला के लोक-विश्वासों का एक समृद्ध संसार मिलता है। लोकमानव भाग्यवादी है और

ईश्वर को ही अपना सबसे बड़ा सहारा मानता है।[9] बाबा बटेसरनाथ में वट वृक्ष में देवत्व का संयोग करके उसे 'बटेश्वरनाथ' कहा जाता है और सुहागिन स्त्रियाँ उसकी पूजा करती हैं।[10] जैसा कि उपन्यास में वर्णित है—''जेठ की अमावस्या के सुहागिन औरतें तने में हाँथ कते धागे के फेरे डालती हैं और आम आदि फलों से नैवेधपूर्वक पूजा करती हैं।''[11] इसी प्रकार, भुइयाँ महाराज, काली माई, सलहेस राजा जैसे देवी-देवताओं को बकरे की बलि दी जाती है। भूत-प्रेत, ब्रह्मराक्षसों और चुड़ैलों में विश्वास लोकमानस की मानसिकता का एक अभिन्न अंग है।[12]

नागार्जुन ने झाड़-फूँक और टोना-टोटका जैसी प्रथाओं का भी यथार्थ चित्रण किया है। बलचनमा में दामो ठाकुर द्वारा भूत झाड़ने का दृश्य[13] लोकसंस्कृति के उस पक्ष को सामने लाता है जहाँ अंधविश्वासों के शोषण पर टिका है, परन्तु साथ ही समाज के निम्न वर्गों की मानसिक जरूरतों को भी पूरा करता है। उपन्यास में वर्णित है—''चूहे के बिल की मिट्टी, पुराने बिनौले, तोड़े हुए कुश के तिनके, चार बूँद गंगाजल, पीपल के सूखे पत्ते इतनी चीज मिलाकर दामो ठाकुर भूत झाड़ते हैं।''[14] ये चित्रण अंधविश्वासों की आलोचना तो करते ही हैं, साथ ही लोक की निरीहता और अज्ञानता पर करुणा भी दर्शाते हैं।

लोकगीतों और लोककथाओं का सांस्कृतिक महत्व

नागार्जुन के उपन्यासों में लोक संस्कृति का एक और प्रमुख आयाम लोकगीत, लोककथाएँ और लोकभाषा का सुनियोजित प्रयोग है। मिथिला का लोकसमाज अपने खाली समय में मनोरंजन के लिए लोरिक, बिरहा, सलहेस या कबीर के भजन गुनगुनाता है। जैसा कि बलचनमा में वर्णित है—''मिथिला के लोग बेकारी में रात को सोने से पूर्व मनोरंजन के लिए लोरिक, बिरहा, सलहेस या कबीर के भजन गुनगुनाते हैं।''[15] धान काटते समय खेतों की मेड़ों पर सारंगीबाजों द्वारा 'भरथरी मिलाप' गाया जाना, या चरवाहों द्वारा वट वृक्ष की छाँह में गाए जाने वाले गीत जीवन के संघर्ष, प्रेम और उम्मीद की कहानी कहते हैं।[16]

नागार्जुन ने व्यंग्य गीतों का प्रयोग करके सामाजिक अन्याय करने वाले पात्रों का मजाक उड़ाया है। उपन्यास में वर्णित एक व्यंग्य गीत है—''खोखा पंडित बडे सयान दच्छिन पश्चिम गये कमाने बेटा रोया, बेटी रोयी करम न इनसे छूटा कोई...।''[17] इसी प्रकार, ''पाठक टुनइयाँ ! पाठक टुनइयाँ ! पुलिस तोहर नानी दरोगा तोर सइयाँ !''[18] जैसे गीत लोकसंस्कृति की उस परम्परा को दर्शाते हैं जहाँ गीत विरोध का एक माध्यम भी बनते हैं। लोककथाएँ—जैसे ताराबाबा के चमत्कारों की किंवदंतियाँ या बुजुर्ग महिलाओं द्वारा सुनाई जाने वाली भूत-प्रेत की कहानियाँ लोकमानस की कल्पनाशीलता और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन शैली को दर्शाती हैं।[19]

सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्कारों का चित्रण

नागार्जुन ने मिथिला के सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्कारों का बहुत ही यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। विवाह जैसे संस्कार को लें, तो वर और कन्या के मातृकुल और पितृकुल का 'लेखा-जोखा' होना, ब्राह्मणों में एक से अधिक विवाह का चलन होना जबकि स्त्रियों के लिए दूसरे विवाह का निषेध होना, और लड़कियों का वर पक्ष से धन लेकर 'बिकौवा' होना ये सभी प्रथाएँ एक कटु सामाजिक यथार्थ को उजागर करती हैं।[20] इसी प्रकार, अंत्येष्टि जैसे संस्कार की विस्तृत रीतियाँ मृतक को नहलाकर नया कपड़ा पहनाना, चिता की तीन परिक्रमाएँ कराना, अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करना, 'द्वादशाह' (बारहवें दिन का मृत्यु भोज) का आयोजन, और यह विश्वास कि पुत्र द्वारा किए गए तर्पण से ही पिता की सद्गति होती है ये सभी विधियाँ लोकजीवन में मृत्यु के प्रति दृष्टिकोण और सामाजिक बंधनों को दर्शाती हैं।[21]

मिथिला में त्योहारों और मेलों का भी विशेष महत्व है। जैसा कि उपन्यासों में वर्णित है—''मिथिला में विवाहार्थियों का सौराठ का मेला प्रसिद्ध और विशिष्ट प्रकार का मेला है।''[22] इसी प्रकार ''श्रावण शुक्ल तृतीय नव विवाहित वर-वधू के लिए त्यौहार की तिथि है। इसे मधु श्रावणी कहा जाता है।''[23] भाई दूज का त्यौहार, दीपावली, जन्माष्टमी और चउड-चन जैसे त्यौहार स्त्रियों के प्रिय त्यौहार हैं। इन त्योहारों और मेलों के माध्यम से नागार्जुन ने मिथिला की सांस्कृतिक समृद्धि को प्रदर्शित किया है।

मिथिला की लोक कला और शिल्प

मिथिला की लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पहलू यहाँ की लोक कला और शिल्प है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मधुबनी चित्रकला, गोदना कला और स्थानीय हस्तशिल्प का सुन्दर चित्रण किया है। जैसा कि बाबा बटेसरनाथ में वर्णित है—''स्त्रियाँ पुतीलिपी चर की टाटों पर हाथी घोड़ा आँकती हैं। तेल में सिन्दूर घोलकर कई जगह पेड़-पौधे बनाती हैं।''[24] यह नारी लोक कला का एक रूप है जो मिथिला की सांस्कृतिक

पहचान को दर्शाता है। इसी प्रकार, स्त्रियों में गोदना गुदवाने का शौक है—''जैकिसुन की परदादी की पीढ़ी की स्त्रियाँ बाँह, घुटने, हाथ, पेट आदि अंगों पर गुदवाती हैं। इस प्रकार उनका सारा शरीर ही गोदना की चित्रावलियों से अंकित रहता है।''[25] गोदना स्त्रियों के श्रृंगार और लोककला का ही एक रूप है।

मिथिला के लोक समाज में छोटे-छोटे धन्धे और उद्योग-धन्धे भी हैं। जैसा कि उपन्यास में वर्णित है—''गाँव में लोगों के छोटे-छोटे धन्धे हैं। इनसे दैनिक पूर्ति की जाती है। लोग धोती की चटाई बुनते हैं। छाँव वगैरह तैयार करते हैं। यही यहाँ के गरीबों के उद्योग-धन्धे हैं।''[26] कुछ लोग मजदूरी करते हैं तो कुछ थोड़ी बहुत जमीन के मालिक हैं। लोग पान, बीड़ी और सुँघनी के शौकीन हैं। कुछ लोक हुक्का भी पीते हैं।[27] इन विवरणों के माध्यम से नागार्जुन ने मिथिला के आर्थिक जीवन और लोक व्यवसायों का यथार्थ चित्रण किया है।

निष्कर्ष

नागार्जुन के उपन्यास मिथिला की लोक संस्कृति के जीवंत दस्तावेज हैं। जैसा कि डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव ने कहा है—''नागार्जुन के समस्त उपन्यासों में चित्रित जीवन खण्डों को यदि समग्र रूप में देखा जाय तो एक ऐसे अखण्ड जीवन के दर्शन होंगे जिसमें गरीबी, भुखमरी, दरिद्रता उत्पीड़न और विषाद के चित्र साकार हो उठेंगे।''[28] उनका साहित्य लोक संस्कृति के प्रति एक गहरी सहानुभूति और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा को व्यक्त करता है। नागार्जुन ने मिथिला की लोक संस्कृति के जिन तत्वों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है, वे न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं बल्कि सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में भी सक्षम हैं। उनके उपन्यासों में लोक संस्कृति का चित्रण केवल बाहरी दिखावे या रीति-रिवाजों का विवरण मात्र नहीं है, बल्कि यह एक सजग सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण है जो मिथिला अंचल की पहचान को साहित्य में अमर कर देता है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. नागार्जुन और जीवन साहित्य, डॉ. प्रकाश चन्द्र भट्ट, पृ. सं. 25
2. वही, पृ. सं. 25
3. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसमायिक संदर्भ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव
4. वही
5. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ. सं. 57
6. वही
7. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसमायिक संदर्भ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव
8. वही
9. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास बलचनमा, पृ. सं. 108
10. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास; वरूण के बेटे, पृ. सं. 215
11. वही
12. नागार्जुन, संपूर्ण इमरतिया, पृ. सं. 435
13. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास बलचनमा, पृ. सं. 108
14. वही
15. वही
16. नागार्जुन, संपूर्ण वरूण के बेटे, पृ. सं. 261
17. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास बलचनमा, पृ. सं. 108
18. वही
19. वही
20. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसमायिक संदर्भ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव
21. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास, पृ. सं. 180
22. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसमायिक संदर्भ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव
23. वही
24. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यासय वरूण के बेटे, पृ. सं. 215
25. वही
26. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास बलचनमा, पृ. सं. 108
27. वही
28. नागार्जुन का उपन्यास साहित्य समसमायिक संदर्भ, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव

बिंबों विधान और केदारनाथ सिंह की कविताएँ

डॉ. सुनीता दुरंगल

आदिम सभ्यता संस्कृति की जो कहानी सदियों पहले अपना इतिहास रच रही है, वही कहानी, जब भाषा लिपि की खोज में जंगल-जंगल आदि मानव के साथ भटकती है तो उसकी नजर अचानक जाती है। अपने ईद-गिर्द के अन्य प्राणियों, गुफाओं, पत्थरों- नदियों, पोखरों, झीलों, पहाड़ों, पर्वत, पगडंडियों की ओर, वह अजरज से उन्हें परखने लगता है कभी छुअन से, तो कभी नन्हें परिंदों के स्वरों में स्वर मिला - तलाशता है- एक लिपि, जब उसे स्वर मिलते हैं तो वह गाता है एक गीत जो बिंबों की उस दुनिया से जुड़ता है जो उसके संग साथी बने उसे एक पहचान दे रहे थे वहीं से शुरू होती है बिंबों की रचना की दांस्ताँ - जिसे आहिस्ता-आहिस्ता कभी वाल्मीकि ने महसूस किया तो कभी व्यास ने। कभी कालिदास अपने काव्यों में रच देते हैं बिंबों की वो दृश्य छवियाँ, जो उन्हें कभी प्रकृति के निकट ले जाती है तो कभी मानव की सूक्ष्म अनुभूतियों के पश्चिम की बात करें तो पूरा का पूरा एक आंदोलन अमेरिकन और ब्रिटिश लिटरेचर में अपनी भूमिका निभाता नजर आता है एक वाद के रूप में पनपा 'बिंबवाद जो शायद स्वछंदतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्य में अपनी एक अलग पहचान बना रहा था। एजरा पाउण्ड, टी. एस. इलियट, डी. एच. लोरेंस, टी.ई. हयूम (बिंबवाद के प्रवर्त्तक) रिचर्ड एलिंगटन, जैसे कई रचनाकार ने बिंबों की एक ऐसी दुनिया को रच दिया, जो सूक्ष्मता के रहस्यवादी दायरों से निकल कर साकारता व मूर्त सजीव से आ जुड़ी। जिसका असर उन देशों की सीमाओं से बाहर भारतीय साहित्य विशेषकर हिंदी कविता में प्रगतिवादी प्रयोगवादी, नयी कविता के दौर में अपनी पहचान बनने लगी। जब यह बिंब केदार जी की कविता का हिस्सा बने तो वे उन्हें अपने अलग ही लोक संस्कृति में तलाश लेते हैं।

रोजमर्रा की जिदंगी से जुड़े जाने कितने ही बिंबों को केदार जी की कविता अपनी हिस्सा बनाती है। हम जिस ओर देखने से बचना चाह रहे हो वे उसी ओर ध्यान खींच लेते हैं। जूते, मेज, कुर्सी, पेन, पेंसिल, चप्पल, मोजे, माचिस, सूई धागा, गमलें, दरवाजे, खिड़कियाँ, दीवार घड़ी, गिलास, चादर, साबुन की डिबिया, भीगा तौलिया, रोटियाँ कोरे कागज, शीशा, सिंदूर, चूड़ियाँ पायल, तंदूर - सब मौजूद हैं, बिंब रूप में - ये महज वस्तुएँ ही नहीं हैं। ये हैं रूप रस, गंध, स्पर्श, स्वाद से जुड़ी वे वस्तुएँ जो केदार जी की कविता को विस्तार दे रहा है एक नए अनुभव के साथ नए बिंबों की परिभाषा के साथ। 'जमीन पक रही है', 'अकाल में सारस', 'यहाँ से देखो' आँसू का वजन, ताल्सताय और साइकिल, 'उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ, 'बाघ', 'अभी बिल्कुल अभी, सृष्टि पर पहरा, सभी कविता संग्रहों में केदार जी बिंबों को परंपरागत रूप से विलग करके एक नये अनुभव संसार के साथ रच रहे हैं। जीवन के जाने कितने ही अनुभवों से होकर गुजरता कवि जब किसी बिंब को उसकी सारी की सारी गरिमा, सौन्दर्य व उपादेयता के साथ रचता है तो वह और अधिक अपने से लगने लगते हैं। जिंदगी के हरेक एहसास को वे न सिर्फ जीते हैं अपितु वहीं एहसास जब बिंबों की दुनिया में भीतर तक घुस जाते हैं तो वह बिंब रोजमर्रा की जिदंगी की सच्चाई को ही बेनकाब नहीं करता है अपितु वह हिस्सा हो जाता है।

एक ऐसी संस्कृति का जो केदार जी की कविता को

लोक-संस्कृति से भी जोड़ देते हैं। महसूसने की प्रणालियों में जो तब्दीलियाँ आई वे भी केदार जी के बिंबों के संसार में एक नए प्रयोग के साथ अपनी भूमिका निभाती नजर आती हैं। जहाँ प्रकृति अपने विलक्षण सौन्दर्य के साथ इनकी कविता के हर विषय में मौजूद हैं वहीं वे बारीकी से सौन्दर्य को भी पारिभाषित करते हैं। सुबह सवेरे झरते हुए परिजात के फूल अपने सफेद-नारंगी रंग के सौन्दर्य को श्य व गंध, दोनों ही बिंबों से जोड़ देते हैं। सारे माहौल में एक बेहद सुखद सी गंध जब इन पारिजात के फूलों से बिखरती है, अनायास ही वे पारिजात के फूल खुद को बटोर लेने का निमंत्रण सा देते महसूस होते हैं तो, झरते हुए नीम के पत्ते, सरसों के खेत कुछ इस तरह मन की कहानी गढ़ते हुए श्य बिंब को रच देते हैं- 'झरने लगे नीम के पत्ते / बढ़ने लगी उदासी मन की / उड़ने लगी बुझे खेतों से/ झुरझुर सरसों की रंगीनी / घूसर घूप हुई मन पर ज्यों, सुधियों की चादर अनवीनी दिन के सुनसान पहर में - ('दुपहरिया' - 'जमीन पक रही है', पृष्ठ 16)

सिर्फ इतना ही नहीं पकते हुए धान कवि के मन में एक अजब सा बिंब उकेर देते हैं- वे गाते है- धान कँपेगे कि प्रान कपँगे ध कँपेगे हमारे खेत में ध आना जी, बादल जरूर ध धूप ढरे तुलसी बन झरेंगे। सांझ घिरे पर कनेर ध पूजा की बेला में ज्वार झरेंगे - धानों का गीत यहाँ से देखा, पृष्ठ 20)

यहाँ न सिर्फ धान पकने की गँध माहौल में है अपितु गंध के साथ-साथ ध्वनि बिंब भी अजब सहज से गढ़ दिए गए हैं। खेतों का कांपना, कनेर के फूलों का झरना और संध्या की बेला में ज्वारों का झरना केदार जी की कविता में एक नए ध्वनि बिंब को गढ़ रहा है। अचानक ही जब केदार जी का ध्यान घास अपनी ओर खिंचती है तो वह घास उन्हें कभी दुनिया के शहरों से खदेड़ी हुई जिप्सी की तरह लगने लगती है। तो कभी—भीषण अकाल के बाद अपने अस्तित्व को बचा लेने वाली घास - जिस बिंब को साकार करती है वह न सिर्फ नया है अपितु मानवीय सभ्यता संस्कृति को उस संकट से अगाह कर रहा है जो आज का संकट बन कर उभर रहा है 'अकाल में दूब' कविता में जब पंछी उड़ गए हैं अपने ठिकानों से चीटें बिलों को छोड़कर चले गए हैं चीटियाँ देहरी और चौखटों को छोड़ गई है तब अचानक अपने पिता की ये बात उन्हें 'घास की महत्ता समझा देती है वे कहते हैं- कहते हैं पिता/ ऐसा अकाल कभी ऐसा अकाल कि बस्ती में / दूब तक झुलस जाए / सुना नहीं कभी / दूब मगर मरती नहीं / .. . है- अभी बहुत कुछ है / अगर बची है दूब / बुदबुदाते हैं वे (अकाल में दूब - अकाल में सारस, पृष्ठ 32)

मानवीय जीवन का एक ऐसा सच इस बिंब के जरिए केदार जी रच रहे हैं- यदि विनाश के कगार पर इंसान है तो उसके वजूद को बचा लेगी 'दूब- क्योंकि दूब नहीं सूखा करती झुलस जाती है पर अपने होने से संपूर्ण मानव-संस्कृति को बचा पाने की अदम्य क्षमता इस दूब के बिबं में युग की हर सच्चाई के साथ मौजूद है।

केदार जी की कविता में चाहे रूप से जुड़े बिंब हो, चाहे स्पर्श या गंध ध्वनियों से, अपने नाजुक से सौन्दर्य के साथ मौजूद नजर आते हैं।

सौन्दर्य के रूप में मौजूद - किसी की निगाह भागमभाग की जिंदगी में सूर्य की खूबसूरती की ओर शायद हो जाती हो पर केदार जी का कवि उस सूर्य को जब-जब देखता है वह उन्हें रोटी सा लगने लगता है, सूखे लाल एकदम पका हुआ, ऐसी रोटी जो तपी है तंदूर में जो तपने जलने में भी महक रही है।

सूर्य की आभा जब रोटी में अक्स तलाशती है तो यहीं रोटियाँ केदार जी की कविता में गंध के बिंब से आ जुड़ती हैं, वे ले जाते हैं चूल्हें तक जहाँ पक रही है गर्म-गर्म रोटियाँ, जो कवि को दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज लगने लगती है। वे कहते हैं - मैंने जब भी उसे तोड़ा है / मुझे हर बार वह पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगी है / पहले से ज्यादा गोल और खूबसूरत / पहले से ज्यादा सूर्ख और पकी हुई (रोटी, पृष्ठ 25, जमीन पक रही है) यहाँ रोटी का पकना जहाँ माहौल में गन्ध (घ्राण बिंब) को महसूस करवा रहा है वही अनुभव की जमी पर रच रहा है स्वाद को, जो एक नऐ बिंब के रूप में केदार जी को कविता में रचा है। गंध के रूप में मौजूद हरेक बिंब केदार जी की कविता में एक अलग ही महत्व रखता है चाहे वह धान के पकने की गंध हो चाहे भूसे की गंध या फिर गुंथे जाने से पहले आटे की गंध उन्हें आटे की गंध और छनने की प्रक्रिया में अपनी माँ की आवाज बेहद करीब लगने लगती है वे सुनते है और 'आटे की गंध से / धीरे-धीरे छन रही थी / माँ की आवाज... / सिर्फ चक्की चलती रही / और माँ की आवाज आती रही रात-भर (आवाज, जमीन पक रही है, पृष्ठ 14)

रोटियों की गंध जब नमक में घुलती है तो कुछ ऐसे एहसास वे रचते हैं वह रोटी में नमक की तरह प्रवेश करता

है / ताखे पर रखी हुई रात की रोटी / उसके आने की खुशी में जरा-सा / उछलती है / और एक मूर्ख आदमी की नींद में गिर / पड़ती है। (सूर्य, अभी बिल्कुल अभी, पृष्ठ 32) पुआल की गंध लकड़ी की गंध, भुनते हुए आलुओं की गंध, तम्बाकू की गंध, तुलसी चंदन, हल्दी की गंध, महुआ के पकने की गंध, चकवड़ घास की गंध, आम की मंजरियों की गंध, भीगती मिट्टी की गंध, कच्चे बाँसों की गंध, मकई के खेतों से आती मदहोश करती मक्के की गंध, चकवड घास की गंध, जलघासों की गंध, भूनते चूने की गंध, उपलों की गंध। सभी है केदार जी कविता में वे गाते हैं- 'आज शाम / सीधे घान की मंजरियों तक चले / हम सीधे वही पहुँचे / जहाँ चावल / दाना बनने से पहले / सुगंध की पीड़ा से छटपटा रहा हो (एक छोटा-सा अनुरोध, अकाल में सारस, पृष्ठ 12)

हर शहर हर गाँव की अपनी एक पहचान होती है वही एक अलग सी महक थी इन शहरों में समायी है जिसे केदार जी कभी बनारस में तो कभी पडरौना में कभी बलिया में तो कभी गोरखपुर, बस्ती की माहौल से बटोर लेता है। वे भूले नहीं भूलते उस बिंब को जो उन्हें अजीब सा सुकुन दे जाता है- अपनी गंध के साथ।

ध्वनि की तलाश करें तो बिंब का साक्ष्य बन जाने कितने बिंब केदार जी की कविता में समाए हुए नजर आते हैं, सुबह-सुबह जब झर-झर का स्वर करती झरती है, पत्तियाँ जो कभी आंगन में फैल जाती है फूलों की गंध में सराबोर, बरखा की बूँद गुनगुनाते हुए तो कभी अपनी बौछारों में समा लेती हैं सिप्-सिप्-सिप्-सिप् को जैसे सारा ब्रह्माण्ड ही इनमें स्वरित हो रहा हो। उड़ते बुगलों के पंखों की फरफराहट, बत्तखों के डैनों की छप-छप-छप, झुंडों में उड़ते सारसों की फ्रेंकार पूरे के पूरे शहर की चुप्पियों को अचानक भंग करती सुनाई पड़ती है- 'अकाल में सारस' कविता में ऐसा ही स्वर सारसों के आने पर दोपहर के तीन बजे सुनाई पड़ता है कवि यहाँ जिस बिंब को रच रहा है वह ऐसा लगता है बेहद नजदीक है-एक के बाद एक / वे झुंड के झुंड / धीरे-धीरे आए / धीरे-धीरे वे छा गए / सारे आसमान में / धीरे-धीरे उनके क्रेंकार से भर गया। सारा का सारा शहर अकाल में सारस, पृष्ठ 24 'अकाल में सारस' निर्जल कुओं की गूँजे, कहीं सन्नाटे को बेधनें वाला एक बिंब सन्नाटे के रूप में नजर आता है, तो कहीं आँकुसपुर से होकर गुजरने वाली ट्रेन की धड़धड़ाहट एक बिंब को नहीं रचती वरन् एक चिड़िया को वे सवाल पूछने पर विवश करती है - क्यों ? / आखिर क्यों, / फिर पृथ्वी पर क्यों है आँकुसपुर / जब रहा नहीं गया / तो तार पर बैठी एक चिड़ियाँ ने पूछा / दूसरी चिड़िया से (आँकुसपुर - अकाल में सारस, पृष्ठ 16) कुत्तों के भौंकने की आवाजें, स्यारों के रोने की आवाज, कौवों की काँय-काँय टिटिहरी की टी. टी. टी., मादा घड़ियाल की कराह, टप-टप -टप ध्वनि करती बरखा की बूँदें, दूध की धार की धीमी-धीमी स्यारों की फेकरने की आवाजें, झर-झर झरती झरबेरियाँ, फरफराती हवा, धूल के बवंडर, मंदिरों में बजती घंटियाँ, पानी पर तैरती लोगों के बोलने की तेज आवाजें, बिजली की कौंध, मछलियों की बेचैनियाँ, चुप रहती नदियाँ इन्ही ध्वनियों में केदार जी रच देते है, शहरों की उस सच्चाई को जो हर इंसान जी रहा है पर बोलता कोई नहीं है, नजर जाती है एक कौए पर कवि गाता है - शब्द सारे धूल / व्याकरण सारे ढोंगे / किस कदर खामोश है चलते हुए वे लोग ...। सिर्फ कौआ एक मंडराता हुआ-सा व्यर्थ / समूचे माहौल को कुछ दे रहा है अर्थ। (छोटे शहर की एक दोपहर, अकाल में सारस, पृष्ठ 52) छू लेते हैं वे उस गाँव को जहाँ वे बार-बार लौट आते हैं एक बिंब उकेरते हैं जो न सिर्फ छूआ जा सकता है बल्कि वे रूह से महसूस भी करते हैं जब शहर से अपने गाँव लौटते हैं- 'छू लूँ किसी को ? / लिपट जाऊँ किसी से? / मिलूँ / पर किस तरह मिलूँ / कि बस मैं ही मिलूँ / और दिल्ली न आये बीच में (गाँव आने पर, उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, पृष्ठ 8)

इसी स्पर्श को को वे बालू पर उकेर देते हैं। बेहद खूबसूरती से वे छू लेते हैं चीटियों के प्रजनन के समय को - वे गाते हैं / जड़े चमक रही हैं / ढेले खुश / घास को पता है / चीटिंयों के प्रजनन का समय / करीब आ रहा है। (जड़ें, उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, पृष्ठ) कभी वे नन्हीं फुदकती गौरैया का छू लेते हैं तो कभी दूर उड़ते धान के खेतों में पीछा करते हैं, बगुलों को स्पर्श करने की चाह को, कभी वे धूप के छू लेना चाहते हैं, तो कहीं जमी को छू लेते हैं और महसूस करते हैं- जमीन अपने कपड़े उतार रही थी / हवा में एक अजीब सी ठंड थी। जिसमें जमीन का कत्थईपन मिला हुआ था। (उसने कहा- जमीन पक रही है, पृष्ठ 10), वे हवा की सिरहन को छू लेते हैं कहीं तो कहीं। वे इसी स्पर्श बिंब को प्यार के क्षणों में कुछ इस तरह बयाँ करते हैं- रुको आँचल में तम्हारे / यह समीरन बाँध दूँ... 'प्यार' यह आवाज / पेड़ घाटियों में खो गई है / हाथ पर मन पर अधर पर पुकारों पर /... रुँधे गीतों में

तुम्हारे ध लपट हिलती बाँध दूँ / यह डूबता दिन बाँध दूँ (रुको आँचल में तुम्हारे यह समीरन बाँध दूँ, पृष्ठ 24, अभी बिल्कुल अभी)

केदार जी कविता का यह संसार जो बिंबों से बना और उनमें रचा-बसा है वह ऐसे एहसास है जो प्रकृति, रोजमर्रा की जिंदगी, शहरों की भागम-भाग, प्रतिस्पर्धा, बेचैनियों, बौखलाहटों के साथ-साथ गाँव की बेहद खूबसूरत अनुभूतियों का ऐसा संसार गढ़ रहा है, जो कभी नन्हीं गिलहरी की धड़कन में बस जाता है तो कभी किसी की धीमी गुनगुनाहटों में / फिर वह चाहे रूप सौन्दर्य से जुड़ा कोई बिंब हो या ध्वनि से केदार जी गढ़ते हैं बिंबों की एक ऐसी छवियाँ जो सौन्दर्य की बेहद खूबसूरत परिभाषा कहीं जा सकती है।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग,
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. 'जमीन पक रही हैं', केदारनाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण - 2012
2. 'अकाल में सारस', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण - 1990
3. यहाँ से देखो, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
4. 'अभी बिल्कुल अभी', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1960
5. 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', केदारनाथ सिंह, दूसरा संस्करण- 1999
6. 'आँसू का वजन', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन
7. ताल्सताप और सायकिल, केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2005
8. 'मेरे साक्षात्कार', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, संस्करण - 2004
9. मेरे समय के शब्द, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004
10. 'कवि ने कहा', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, 2014
11. आधुनिक कविता में बिंब - विधान, केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1980
12. 'कविता के नए प्रतिमान'- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण - 1990

भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति : संवेदनात्मक-आयाम

डॉ. प्रमिला

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार ''संवेदना का अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है। संवेदना हमारे मन की चेतना की वह कूटस्थ अवस्था है, जिसमें हमें विश्व की वस्तु विशेष का बोध न होकर उसके गुणों का बोध होता है। अंग्रेजी में इसे 'सिम्पैथी' या 'फैलोफिलिंग' कह सकते हैं। किन्तु मनोविज्ञान में 'सेन्सेशन' के रूप में ही इसका विशिष्ट प्रयोग होता है।''[1]

संवेदना व्यक्ति (लेखक) के स्वयं के जीवनानुभवों से भी विकसित होती है। यह संवेदना का आत्म-पक्ष है। लेखक के निजी व्यक्तित्त्व की छाप रचना पर अवश्य पड़ती है। अत: संक्षेप में संवेदना चार घटकों द्वारा निर्मित होती है रचना की वस्तु (कथ्य), रचनाकार, युग, युग एवं लेखक के परस्पर संबंध। लेखक अपनी कल्पना को यथार्थ से जोड़कर युगीन समस्याओं को उभारकर ऐसे प्रस्तुत करता है, कि हर पाठक को वहीं अनुभूति प्राप्त होती है, जो लेखक की है। नाटक में 'नाट्य संवेदना' ही नाटक की केन्द्रीय वस्तु होती है। नाट्यानुभूति ही नाटक का मूल या प्राण तत्त्व है, जिसके माध्यम से नाटककार पाठक और प्रेक्षक तक अपनी 'विचार दृष्टि' या 'सम्प्रेष्य' पहुँचा सकता है। नाट्य संवेदना वही हो सकती है, जिसका प्रेक्षकों पर गहरा प्रभाव पड़े। दर्शक का अन्त:करण उद्वेलित हो जाए। उसे कुछ शिक्षा मिले। समीक्षक नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में :

''नाटक श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब वह अन्य कलात्मक-सृजनात्मक अभिव्यक्तियों, किसी न किसी महत्त्वपूर्ण अनुभूति, विचार जीवनदृष्टि या परिस्थिति को प्रस्तुत करता हो। यदि वह कोई सार्थक, विशेष और मूलभूत बात नहीं कहता हो तो वह चाहे कितना अभिनेय हो या साहित्यिक हो, उसका कोई कलात्मक महत्त्व नहीं, इस मूलभूत विशेषता में नाटक-साहित्य ही नहीं अन्य सभी कलारूपों के समान है।''[2]

संवेदना युग की चेतना से जुड़ी है। लेखक अपने युग के परिवेश से बाहर नहीं, बल्कि युग की समस्याओं से अवगत रहता है, और उन्हीं से जूझता है। अपनी कल्पना को यथार्थ से जोड़कर, युगीन समस्याओं को उभारकर पाठक या दर्शक को भी उसी अनुभूति को सम्प्रेषित करता है जो उसकी स्वयं की है। भारतेन्दुकृत वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति प्रहसन की मूल संवेदना समाज-परिष्कार से जुड़ी है, जिसके विविध आयाम इस प्रकार हैं-

सामाजिक विकृतियाँ

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक विकृतियों को उजागर कर यथार्थ सामाजिक वातावरण को प्रस्तुत किया है। प्रहसन के माध्यम से समाज में कुरीतियों के बढ़ने से विकृतियाँ पनपकर चारों दिशाओं में निराशा का जो वातावरण फैला रही थी, उससे जन-सामान्य को अवगत कराने का प्रयास किया है। समाज में मदिरापान, माँस भक्षण की इतनी अधिकता थी कि उसका पतन, अवश्यंभावी था। देश के रक्षक ही इन कुव्यवसनों में लिप्त हैं, तो समाज के लोगों में दुर्व्यसन होना आश्चर्यजनक नहीं है। प्रथम अंक में राजा, मंत्री, पुरोहित आदि वार्तालाप के माध्यम से शास्त्रों की उक्ति देकर प्रमाणित करते हैं कि जुआ, मदिरा, माँस, मैथुन जीवन के लिए आवश्यक हैं -

''एहि असार संसार में चार वस्तु हैं सार।

जूआ, मदिरा, माँस, अरु नारि संग विहार॥''[3]

इस प्रकार माँस भक्षण को ही परम धर्म, परम-मोक्ष और माँस खाने वाले को परमयोगी, माँस प्राप्ति को परम तपस्या माना है। पूजा का उद्देश्य भी केवल माँस-प्राप्ति मानते हैं। कंठी-माला सब को छोड़कर केवल मदिरा और माँस भक्षण को ही प्राथमिकता बी। गीत में भी वर्णित है -

''कंठी तोड़ो माला तोड़ो गंगा देहु बहाई।

अरे मदिरा पीओ, खाइए के मछरी बकरा जाहु चबाई।''[4]

मदिरा और माँस ही उस समय का धर्म है। समाज के सभी वर्गों में ये बुराइयाँ थीं। इन्द्रिय जन्य भोग की आकांक्षा ने लोगों को विलासी व कर्महीन बना दिया था। समाज में विवाह-प्रथा के नियम भी विकृतियों के जन्मदाता सिद्ध हो रहे थे। बाल-विवाह के कारण अनेक विधवा स्त्रियाँ शोषण का शिकार होकर नारकीय जीवन व्यतीत कर रही थी। समाज-सुधार की दिशा में, अपने को समर्पित कहने वाले साधु भी इन विकारों से बचे नहीं बल्कि समाज को यही उपदेश दे रहे थे कि अब भगवद्भक्ति के माध्यम से नहीं बल्कि माँस खाने के लिए बलि और मदिरा की पूजा करके ही मनुष्य अपना उत्थान कर सकता है। समाज में जाति-प्रथा विद्यमान थी। ब्राह्मण वर्ग को श्रेष्ठ समझा जाता था। पर अब उसका कर्म भी टके पर आधारित था। शिक्षा-व्यवस्था में कोई योगदान नहीं देता बल्कि इन सामाजिक बुराइयों के प्रसार में प्रमुख भूमिका निभा रहा था। उसका कार्य केवल राजा के कथनानुसार स्वार्थी बनकर मनोवांछित व्यवस्था देना था। यज्ञादि के द्वारा जनता को सन्देश देने की बजाय वह माँस-मदिरा की बलि चढ़ाकर और वही दक्षिणा रूप में स्वीकारने का कार्य तन्मयता से करने में मग्न है स्वयं भी मदिरापान का समर्थक है-

''भगवान करे ऐसी पूजा नित्य हो, अहा! राजा धन्य है आज मेरा तो घर माँस, मदिरा से भर गया।''[5]

इस प्रकार 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ब्राह्मण वर्ग सत्कर्म की प्रेरणा व सत्य का उपदेश न देकर, जनता को सत्यमार्ग की ओर प्रवृत्त करने की अपेक्षा कुपथ पर अग्रसर करने में लगा है। वह स्वयं ही उसका आदर्श प्रस्तुत कर रहा है। उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक का कोई विचार वह नहीं कर रहा है।

मंत्री के चरित्र से भारतेन्दु ने स्वामी-सेवक सम्बन्ध के विकृत होने को भी प्रकट किया है। मंत्री के लिए केवल स्वार्थ में लगे रहना ही उसकी कर्त्तव्यपूर्ति है। अपने असली कर्त्तव्य को वह भूल गया है। मुँह पर स्तुति करना व पीछे से निन्दा करना, प्रजा की भलाई से मुख मोड़ना आदि विशेषताएँ उसे अपने कर्त्तव्य से विमुख सिद्ध करती हैं।

धर्माडम्बर

तद्युगीन समाज में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार के धर्माडम्बरों की ओर ध्यानाकर्षित किया है। 'वैदिकी हिंसा' अर्थात् धर्म के नाम पर बलि देर माँस भक्षण किया जाता था। धर्म के आधार पर ही बलिदान देकर उसको शास्त्रसम्मत दिखा कर अपनी हितपूर्ति की जाती थी। धर्मठग धर्म साधना का केवल ढोंग रचते हैं। दूसरों का परलोक सुधारने की व्यवस्था देकर अपनी लौकिक तृष्णा मिटाने का कार्य धर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत कर रहे है। अपने अनाचारों की स्थापना के लिए शास्त्रों की दुहाई देते हैं। नांदी में ही भगवान के लिए होने वाली नृशंस पशु-हिंसा पर व्यंग्य है -

''बहुबकरा बलि हित करें, जाके बिना प्रमान।

सो हरि की माया करै, सब जग को कल्याण॥''[6]

इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी बलि देकर माँस भक्षण को शास्त्र सम्मत बताते हैं-

महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण गोमांस खा गए पर पितरों को समर्पित था, उससे कुछ भी पाप न हुआ।[7]

पुरोहित के कथनों में यही भाव है -

''हाँ-हाँ हम कहते हैं और वेद, शास्त्र, पुराण, तन्त्र सब कहते हैं- जीवो जीवस्य जीवनम्।''[8]

''सच है और देवी पूजा नित्य करना, इसमें कुछ सन्देह नहीं और जब देवी की पूजा हुई तो माँस भक्षण आ ही गया। बलि बिना पूजा होगी नहीं और जब बलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिए। भागवत में बलि देना लिखा है जो वैष्णवों का परमपुरुषार्थ है।''[9]

विभिन्न धार्मिक-शास्त्रों से मांसाहार, मैथुन, मदिरा को धर्म सम्पन्न बताया है। पुरोहित के चरित्र से भारतेन्दु ने उस वर्ग की ओर दर्शक अथवा पाठक को आकृष्ट किया है. जो भोग के वशीभूत धर्म के विरुद्ध किसी भी भाँति वैदिक ग्रन्थों से उद्धरणों का दुरुपयोग कर, व्यवस्था करते हैं। यजमान को अन्धेरे में रखकर अपने मत की गलत ढंग से पुष्टि करते हैं। भोग और वैभव की लालसा ने उसको धर्म की गलत ढंग से

व्याख्या करने के लिए प्रेरित कर दिया है. जो कि वास्तव में धर्मग्रन्थों के अनुसार व्यवस्था नहीं, केवल दिखावा या आडम्बर है। धर्म की आड़ मात्र कर लेते हैं। मिथ्या-आचरणों और स्थूल माध्यमों से धर्म की तुष्टि की जा रही है। धर्म में अनेक आडम्बरों का समावेश हो गया है। धर्म शास्त्रों से खोज-खोजकर पाप कर्म को झूठी सम्मति देने का कार्य धर्माचार्य कर रहे हैं। अपने पापों के औचित्य को किस भाँति शास्त्रों के उद्धरण, जिनका दुरुपयोग करके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, इसके प्रत्यक्ष दर्शन वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में होते हैं।

गंडकीदास धर्मवंचक धर्म का ठेकेदार, जिसने मनमानी व्यवस्था देकर धार्मिक सम्प्रदायों को भोग-विलास के क्रीडा-केन्द्र बना रखा है, जो निरीह जनता को पथभ्रष्ट करने में लगे हैं। त्रिपुंडधारी साधु आडम्बर मात्र ही है, ऐसे आडम्बर युक्त व्यक्तियों ने समाज में धर्म के नाम पर दुराचार फैला रखा है। पवित्र स्थल, पूजा-स्थल मन्दिर आदि में भगवान सदृश इन पाखण्डियों की पूजा की जाने की बात को भारतेन्दु ने उजागर किया है :

''केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आई, उनको सर्वदा ताकते रहे।''[10]

यमराज के सम्मुख भी गंडकीदास अपने पापों के उत्तर में स्वयं ईश्वर को ही उत्तरदायी ठहराते हैं :

''पाप-पुण्य जो करता है, ईश्वर कराता है, इसमें मनुष्य का दोष क्या है।''[11]

पुरोहित भी अपने पाप-कर्मों को शास्त्रोचित सिद्ध करने का प्रयास करता है :

''यदि माँस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो माँस है और अन्न क्यों खाते हैं, अन्न में भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों लिखा है और महाराज मैंने जो बकरे खाए वह जगदम्बा के सामने बलि देकर खाए अपने हेतु कभी हत्या नहीं की।''[12] पुरोहित 'पाखण्ड' की साक्षात् मूर्ति है। अवसर के अनुकूल वह अपने को परिवर्तित कर धर्म की आड़ में भ्रम फैलाने का कार्य चतुराई से करता है। जनता-जनार्दन को सत् उपदेश देने की अपेक्षा आडम्बरों से भ्रमित करने के कार्य में लीन है।

गंडकीदास, राजा, पुरोहित जो धर्म से सम्बन्धित व्यवस्था प्रदान करने के लिए अधि त हैं, वहीं धर्म की व्यवस्था को जर्जर अवस्था में प्रवेश कराने के जिम्मेदार ठहरते हैं। सामाजिक-धार्मिक विकृतियों को बढ़ावा देने वाले मूल कारक हैं। इनके छद्म रूप को प्रहसन में प्रकट करके भारतेन्दु ने समाज को इनसे मुक्ति दिलाने की इच्छा व्यक्त की है।

नारी की दयनीय अवस्था

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में नारी को दीन-हीन अवस्था को चित्रित कर भारतेन्दु ने तद्युगीन नारी सम्बन्धी समस्याओं से मुक्त कराने की भावना व्यक्त की है। जरी की दयनीय शोचनीय अवस्था को पूर्णत: विश्लेषित कर उसके मूल कारणों को इस प्रहसन में चित्रित किया है। सामाजिक रूढ़ियों अन्धविश्वासों के बन्धनों में बँधकर वह केवल भोग्या बनी हुई थी। 'अबला' बनकर ही अपना समय बिता रही थी। वैश्यागमन, व्यभिचार व अनैतिक कार्यों के कर्त्ता पंडे, पुजारियों, धर्मगुरुओं को भी नारी को इस विवशतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए जिम्मेदार ठहराया है। पुनरुत्थान के समय नारी को चेतना प्रदान करने की महती इच्छा लक्षित होती है।

तत्कालीन समाज में पुनर्विवाह और विधवा-विवाह की अनुमति न होने से नारी इस नारकीय जीवन को प्राप्त करती थी। नारी उत्थान के लिए बंगाल में सर्वप्रथम 'समाज-सुधारों' की श्रृंखला में 'विधवा-विवाह' की समस्या को जोर-शोर से उठाया गया। भारतेन्दु ने भी इस प्रहसन में इसीलिए बंगाली के मुख से ही इस प्रश्न का उत्तर दिलवाया है :

''पुनर्विवाह अवश्य करना। सब शास्त्रों को यही आज्ञा है, और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती हैं, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर, देना, उसको नरक से निकाल लेना है। और शास्त्र की भी आज्ञा है-

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे चपतितेपतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणाम् पतिरन्यो विधीयते॥''[13]

अपने मत की पुष्टि हेतु बंगाली ने 'मनुस्मृति' और 'पाराशर स्मृति' की व्यवस्था संबंधी मान्यताओं को उद्धृत किया है। परन्तु पुरोहित जो कि 'नारी-शोपण' में सम्मिलित समाज के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वह इस मान्यता को आसानी से मानने के पक्ष में नहीं है। वह प्रत्युत्तर में भी व्यभिचार का समर्थक है-

''जो विधवा-विवाह करती हैं, उनको पाप तो नहीं होता

पर जो नहीं करती उन्हें पुण्य अवश्य होता है. और व्यभिचारिणी होने का जो कहो सो तो विवाह होने पर भी जिसको व्यभिचार करना होगा सो करेगी ही। परन्तु सच पूछिए तो स्त्री जो चाहे सो करे इनको तो दोष ही नहीं है।''[14]

उपरोक्त पंक्तियों से सिद्ध होता है समाज में एक ऐसा वर्ग भी था कि जो स्त्री-उद्धार का समर्थक नहीं था। दूसरे शब्दों में व्यभिचार को बढ़ावा देने के पक्ष में था।

बंगाली के मत से इस बात की पुष्टि कराई है कि विधवा का जीवन 'नरक' समान है। 'नरक' को व्यंग्यात्मक रूप में भारतेन्दु ने प्रयोग करके इसकी विशिष्टता व इसमें छिपे भावों को व्यक्त किया है। जिस भाँति 'नरक' में घोर कष्ट, यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं वैसे ही घोर कष्ट व यातनाओं से पूर्ण जीवन विधवाओं को व्यतीत करना पड़ता था। आजीवन पाखण्डियों के शोषण का शिकार होकर विवशता से जीवन व्यतीत करने की ओर संकेत भी किया है। 'नरक' के सम्बन्ध में मान्यता है कि अपनी इच्छा से उससे मुक्ति नहीं मिल सकती तथैव विधवाएँ भी अपनी इच्छा से अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकती थी। नारी की इस विवशता को भारतेन्दु ने प्रहसन में समाज की गंभीर समस्या के में चित्रित किया है।

भारतेन्दु ने इस प्रहसन के माध्यम से नारी की दीन हीनावस्था, शोषण मुक्ति का समर्थन किया है। उन्हें भी रूढ़ियों, बन्धनों से मुक्त होकर पुरुष के समान स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने देने की इच्छा से समाज की ज्वलन्त समस्या को प्रहसन में यथातथ्य स्थान दिया है और स्त्रियों की वास्तविक समाज में कैसी स्थिति थी इस पर भी प्रकाश डाला है। इसके पीछे भारतेन्दु की नारी उत्थान की व समाजोत्थान की भावना ही है, जो एक शिक्षित व स्वतंत्र-नारी के रूप में समाज के अभिन्न अंग का दर्जा दिलाने के लिए कटिबद्ध थे।

भोगोन्मुखी सत्ता पक्ष

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में सत्तापक्ष 'लोकोन्मुखी' न होकर 'भोगोन्मुखी' है। उनका कार्य जनता की भलाई के लिए नहीं बल्कि अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए हैं। पुरोहित, मंत्री, गंडकीदास भी राजा की दी गई व्यवस्थानुसार जनता के शोषक हैं। राजा के अन्धसमर्थक हैं। धर्म के नाम पर अनाचार करने वाले शासन-तंत्र के अंग है। 'गृध्रराज' के जीवन का लक्ष्य केवल माँस भक्षण, मदिरापान, मैथुन आदि है। इन सबको धर्म सम्पन्न बनाने के लिए धार्मिक ग्रन्थों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर वह अपने हितपूर्ति की बात केवल करता है। सत्तारूढ़ लोगों का मुख्य धर्म प्रजापालन होना चाहिए, परन्तु प्रहसन के द्वारा सामयिक शासन का खुलासा भारतेन्दु ने किया है। शासन को कल्याणकारी ढंग से चलाने की सत्ता पक्ष की इच्छा भी लक्षित नहीं होती। केवल अपने भोग-विलास की इच्छा, अपनी स्वार्थ पर्ति में ही राजा मंत्री, पुरोहित व्यस्त हैं। जनता को ठगकर अपना ही स्वार्थ पूरा करते हैं।

राजा किसी भी प्रकार से केवल प्रतिष्ठा प्राप्ति का इच्छुक है। मंत्री व पुरोहित को मदिरा व माँस का अंश देकर अपने अनुसार मनमानी व्यवस्था देने के लिए राजी कर अपने को दोषी भी नहीं मानता। इसके जीवन का उद्देश्य केवल पापकर्म करना व अधर्म को धर्म मानकर जो अनुकूल हो, वही प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए व स्वार्थ पूर्ति के लिए करना रह गया है। एक शासक या राजा के कोई गुण अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शान्ति और तप इसमें नहीं है। धर्म सम्मत प्रजा-कल्याण, के लिए सोचने का भी कष्ट वह नहीं करता। प्रजा के साथ पालक-पालित के सम्बन्ध न होकर शोषक-शोधित सम्बन्ध है। अपने अधिकारों के अनुचित प्रयोगों के बल पर अपने प्रजा के कल्याण के कर्त्तव्य को विस्मृत कर स्वार्थ सिद्धि में पूरी व्यवस्था को खराब कर लेता है। कर्त्तव्य विमुखता का दुर्गुण राजा को विनाश के कगार पर ले जा कर ही खड़ा करता है। 'गृध्रराज' केवल अपने अधिकार का प्रयोग प्रजा को दबाने के लिए करता है. कर्त्तव्य के सम्बन्ध में सोचता भी नहीं। इन्द्रिय जन्य भोग विलास की आकांक्षा ने इसे विवेकहीन बना दिया है। इन्द्रियों के स्वाद के लोभ में पड़कर अपने जीवन को विनाश की ओर धकेल दिया है।

राजा अधर्म का पक्षधर है। क्योंकि धर्म में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं मिली कि रक्षक ही भक्षक बनने लगे। शासन व सत्ता के अन्य सेवी मंत्री, पुरोहित भी प्रजा के उपकारक रूप में नहीं बल्कि शोषक बनकर शोषण ही करते हैं। मंत्री की व्यवस्था के विषय में चित्रगुप्त के शब्दों में -

''घूस लेते जन्म बीता, माँस और मद्य के बिना इससे न धर्म जाने न कर्म-यह मंत्री को व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो सम्मति पहले दी, पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।''[15]

राजनीति और धर्म का स्वार्थपूर्ण गठबंधन प्रहसन में भारतेन्दु ने दिखाया है। राजा, मंत्री की भोगोन्मुखी प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित

होती है। मंत्री भ्रष्ट राजव्यवस्था को भी बढ़ावा देने में मुख्य भूमिका अदा करता है, जिससे शासन व्यवस्था का पूरा भंडा-फोड़ हो जाता है कि वह घूस लेकर भी शासन में रहकर शासन विरुद्ध व प्रजा के अहित कार्य सुगमता से करता है। प्रजा पर कर लगाने का प्रस्ताव तो सबसे पहले प्रस्तावित कर उनका शोषण करने के लिए उद्यत है, परन्तु जनता की सुख-सुविधाओं का कोई ध्यान नहीं है। रिश्वत के रूप में अधर्म से एकत्रित सारे धन को यमराज को भी रिश्वत के रूप में देकर छूटना चाहता है :

''आप एक बार मुझे राज्य पर भेज दीजिए मैंने जितना ध न बड़ी-बड़ी कठिनाई और बड़े-बड़े अधर्म से एकत्र किया है सब आपको भेंट करूंगा और मैं निरपराधी कुटुम्बी हूँ मुझे छोड़ दीजिए।''[16]

प्रजा-शोषण के सजीव चित्र भारतेन्दु ने प्रहसन में प्रस्तुत कर समाज के लोगों के कष्टपूर्ण जीवन की ओर ध्यानाकर्षित करवाया है। मंत्री, राजा आदि प्रजा से भारी मात्रा में केवल कर वसूलने का कार्य करते हैं, उनकी भलाई के लिए कोई योजना नहीं। धन के बल पर समर्थ व्यक्ति केवल अपने कार्यों की पूर्ति कर सकता था, दुर्बल व धनहीन का जीवन दुष्कर ही था।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में अन्तिम अंक में भारतेन्दु ने राजा, मंत्री, पुरोहित व गंडकीदास को यमराज द्वारा दण्ड दिलाकर ये दिखाया है कि यदि सत्ता पक्ष प्रजा-कल्याण से विमुख है, स्वार्थी है, भोगविलास प्रिय है तो उसका अन्त निश्चित है। केवल उच्च वंश में होने से या उच्च पद पर बैठने से प्रतिष्ठा प्राप्ति का अधिकार नहीं है, यदि तद्नुरूप कर्त्तव्य का निर्वाह करने में सक्षम न हो तो उसकी प्रतिष्ठा की व पद की खिल्ली प्रहसन के राजा, मंत्री व पुरोहित आदि की भाँति उड़ेगी। वास्तव में भारतेन्दु उस समय के स्वार्थी सत्ता लोलुप चाटुकार शासकों को दर्शक के सम्मुख लाकर, उनसे सचेत रहने की भावना का निर्माण करते हैं।

कथानक की आबद्ध विभिन्न घटनाओं के माध्यम से सहृदय के मन में एक विश्वासात्मक संवेग उत्पन्न करने में नाटककार सफल रहे हैं कि इन्द्रियजन्य भोग की आकांक्षा तथा माँस, मद्य के प्रति आकर्षण मनुष्य को विलासी बनाकर विवेक भ्रष्ट कर देता है। इन्द्रियों को स्वादलोलुपता में फंसाकर वह अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन के पक्षों का विनाश कर बैठता है। व्यापक युग बोध के रूप में प्रकट हुई अनैतिकताएँ उसकी संवेदना को गहरे झनझनाती हैं। सहृदय उनके विरोध में ऐसी संवेगात्मक भावभूमि में अपने को पाता है कि उनका त्याग करने के लिए उनके विरोध में उसकी मानसिकता निर्मित होती है।

पाखण्डी और दुराचारी भी जब कर्मों के अनुसार फल भोगने की प्रक्रिया को साक्षात् देखते हैं, तो उनका हृदय सामाजिक तथा ढोंगी ठेकेदारों के प्रति घृणा से भर उठता है। मानव के दुर्बल मन को जो अपने दोष कभी भी स्वीकार नहीं कर पाता, उसे भी नाटक का घटना-व्यापार झकझोर कर रख देता है। सांसारिक विषय वासनाएँ मानव जीवन को विनाश की ओर प्रवृत्त करती हैं। सत्ता और धन के आने पर यदि कोई दुष्प्रवृत्तियाँ यदि दैनिक कार्यों में सम्मिलित हो जाएँ तो बहुत कठोर सजा को भोगना पड़ता है। राजा, मंत्री, पुरोहित का दुर्दान्त दिखाकर भारतेन्दु ने इसी सत्यता के दर्शन कराने चाहे हैं। समूल्यों की विजय को शैव और वैष्णव के माध्यम से साकार किया है। ऐसे समय में आशा की किरण के प्रकाश से सहृदय का मन परिष्कार कर, समाज का संस्कार करने की महती इच्छा दिखाई पड़ती है। विकृतियों के प्रति संवेदित करते हुए अंतत: हमारे इस बोध को प्रबल बनाते हैं कि समाज की प्रगति धर्म की मर्यादा के सही पालन, नीतिमय-आचरण, स्त्री को वैध उच्चतर सामाजिक स्तर प्रदान करने के उपरान्त ही संभव है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाटक के माध्यम से भारतेन्दु ने मानव समाज को अमूल्य 'सन्देश' दिया है कि इन्द्रिय-जन्य भोग की आकांक्षा तथा मांस-मद्य के प्रति आकर्षण मनुष्य को विलासी व अकर्मण्य बनाकर पथभ्रष्ट कर देता है। सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसकर मानव अपना विनाश कर बैठता है। भारतेन्दु का ये सन्देश केवल उसी समय प्रासंगिक नहीं था, बल्कि आज भी प्रांसगिक है जो कृति को किसी भी काल-विशेष की सीमाओं से मुक्त कर 'कालजयी' कृति की संज्ञा दिलाता है।

सह आचार्य, हिंदी विभाग
लक्ष्मीबाई कॉलेज, अशोक विहार
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E-Mail : pramila.lbc@gmail.com

संदर्भ सूची

1. सं. डा. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृष्ठ 707
2. श्री नेमिचन्द्र जैन, दृश्य-अदृश्य, पृष्ठ 68
3. श्री ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु-ग्रन्थावली, (प्रथम खण्ड), पृ. 72
4. वही, पृ. 83
5. वही, पृ. 80
6. वही, पृ. 69
7. वही, पृ. 71
8. वही, पृ. 70
9. वही, पृ. 71
10. वही, पृ. 90
11. वही, पृ. 94
12. वही, पृ. 92
13. वही, पृ. 73
14. वही, पृ. 74
15. वही, पृ. 90
16. वही, पृ. 93

अमरकांत की कहानियों में सामाजिक यथार्थ: वर्ग, जाति और भूख का त्रासद अंतर्संबंध

दीक्षा सैनी

अमरकांत स्वतंत्रोत्तर हिंदी कहानी के प्रमुख यथार्थवादी रचनाकारों में गिने जाते हैं। उन्होंने शहरी निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को अपनी कहानियों का केंद्र बनाकर उसके संघर्षों, विडंबनाओं और मानवीय सरोकारों को अत्यंत आत्मीयता और कलात्मक परिपक्वता के साथ अभिव्यक्त किया। उनकी कहानियों में किसी आदर्श समाज की कल्पना, क्रांति का उतावलापन अथवा पुनरुत्थान का मोह नहीं दिखाई देता, बल्कि वे सीधे अपने समय और समाज के यथार्थ से जुड़कर साधारण मनुष्य के जीवन-सत्य को उकेरती हैं। अमरकांत न तो इतिहास और पुराण के दबाव में आते हैं, न ही साहित्य को विचारधारा के प्रचार का माध्यम बनाते हैं। ''चुकी आज की कहानी सामायिक सीमाओं के अंतर्गत समय और परिवेश मूल्यांकित करने की प्रक्रिया है, जो यथार्थ को उचित संदर्भों में अधिक सप्रणता के साथ अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न है।''[1]

उनकी कथाएँ न हिंसा और गाली-गलौच से यथार्थ गढ़ती हैं और न ही जीवन की अश्लील नग्नता से; बल्कि वे जीवन के सहज और वास्तविक रूप को उसकी भीतरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि उनके साहित्य में निराशा और अंधकार की परतें उपस्थित हैं, तथापि उनके पात्र अवसाद और विखंडन का शिकार न होकर निरंतर संघर्षरत और जीवंत बने रहते हैं। इस संतुलित दृष्टि और यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ के कारण अमरकांत हिंदी कहानी की परंपरा में एक विशिष्ट और स्थायी स्थान प्राप्त करते हैं। यदुनाथ सिंह के शब्दों में- ''अमरकांत एक संपन्न ऐतिहासिक दृष्टि से अपने समय और परिवेश को उसकी वास्तविकताओं के माध्यम से मूर्त और परिभाषित करते रहे हैं।''[2]

किसान, कृषि मजदूर तथा जड़ और क्रूर जाति-संरचना के ग्रामीण यथार्थ की झलक उनकी कहानियों में मिलती है। यद्यपि कुछ कहानियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, फिर भी अमरकांत ग्राम-कथाकार नहीं कहे जा सकते। किसानों व मजदूरों की समस्याएँ उनकी कहानियों का केन्द्रीय विषय नहीं रहीं। सम्भवत: इसका कारण यह था कि उनके पास इनके जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव कम था और वे सिद्धांत-आधारित लेखन से दूर रहते थे। उन्होंने वही लिखा जो उनके जीवनानुभव और निकट पर्यवेक्षण में था छोटी नौकरियों वाले लोग, किराए के मकानों में रहनेवाले, कम आय वर्ग के शिक्षित व्यक्ति तथा शहरी निम्न-मध्यवर्ग की समस्याएँ। इसी वृत्त में भिखारी, घरेलू नौकर, बेघर मजदूर और मलिन बस्तियों के लोग भी उनकी कहानियों का हिस्सा बने। अमरकांत रचनाओं के विषय में कहते हैं ''जो अपने सामने घटित हो रहा है सिर्फ वही रचना नहीं है। बल्कि उसे देख कर अपने चारों ओर देखने के बाद जो आपके भीतर घटित हो रहा है वह रचना है।''[3]

इस निम्न-मध्यवर्गीय समाज को अमरकांत ने वर्गीय दृष्टि से देखा, पर जातिगत यथार्थ को भी अनदेखा नहीं किया। भारतीय समाज की जातीय संरचना की रूढ़ता और उसके प्रभाव को उन्होंने कई कहानियों में निर्ममता से उजागर किया है। उनका दृष्टिकोण अस्मितावादी नहीं बल्कि वर्गीय रहा, फिर भी जातीय वर्चस्व और सामाजिक जड़ता को वे रेखांकित करते हैं। प्रेमचंद से भिन्न उनकी शैली अधिक तरल है, जिसमें जाति-व्यवस्था के प्रति न कोई मोह है और न ही उसे न्यायोचित ठहराने की प्रवृत्ति। इसके विपरीत वे समय-समय

पर उसकी विद्रूपता को खोलते हैं। 'कलाप्रेमी' का पात्र सुबोध राय उच्च जाति का होते हुए भी उच्च जातियों की सत्ता-लालसा को सामाजिक गतिहीनता का कारण मानता है।

''जानते हो, सदियों से यहाँ समाज पर शासन कौन कर रहा है? बड़ी-बड़ी जातियों के सामंतवादी प्रवृत्तियों के लोग, आज भी इन्हीं जातियों का शासन है। क्या बात है, इन्हीं जातियों में ईश्वर के अवतार, धार्मिक संत, विद्वान, राजनीतिक नेता, लेखक-कलाकार आदि पैदा हुए?...ये परिवर्तन क्यों चाहेंगे?''[4]

अमरकांत जातीय वर्चस्व और उसके निम्नजातीय जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को अनदेखा नहीं करते, यद्यपि वे इसे बार-बार कार्य-कारण के रूप में प्रस्तुत भी नहीं करते। उनकी शैली में कथा को वैचारिक वाद-विवाद या तर्कपूर्ण विमर्श का मंच नहीं बनाया गया, इसलिए उनकी भाषा न तो कर्कश है और न ही शुष्क विमर्शी। उनके कई मध्यवर्गीय पात्र गरीब और फटेहाल लोगों से घृणा करते दिखाई देते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये समाज पर बोझ हैं और केवल कृपा पर जीवित रहते हैं। सतही तौर पर यह वर्गीय पूर्वग्रह प्रतीत होता है, किंतु अमरकांत इसमें छिपी जातीय श्रेष्ठता की मानसिकता को भी धैर्यपूर्वक उद्घाटित करते हैं। इस प्रकार वे भारतीय समाज की व्याख्या में जाति और वर्ग दोनों दृष्टियों की समान रूप से अपरिहार्यता पर बल देते हैं। इसी संदर्भ में उनकी कहानी 'दो चरित्र' उल्लेखनीय है, जिसमें जनार्दन जैसे सम्पन्न और शिक्षित पात्र की सोच भिखारियों के प्रति आधुनिक वर्गीय घृणा के साथ-साथ प्रच्छन्न जातीय दृष्टिकोण को भी सामने लाती है,

''आप इन्हें भिखमंगा समझते हैं? अरे भाई, ये पूरे ठग हैं। ये ऊपर से गरीब दिखाई देते हैं, इनके घर जाइये तो पता चले। इनकी हमसे आपसे अच्छी हालत है।''[5]

अमरकांत की कहानियों में वर्ग और जाति का संबंध केवल सतही सामाजिक यथार्थ तक सीमित नहीं रहता, बल्कि भारतीय समाज की गहरी संरचनाओं को उद्घाटित करता है। वे यह स्पष्ट करते हैं कि आर्थिक विषमता और सामाजिक हीनता प्रायः जातिगत विभाजन की पृष्ठभूमि में ही निर्मित होती है। उदाहरणार्थ, 'दो चरित्र' में जनार्दन का भिखारी लड़के के प्रति व्यवहार इस तथ्य को सामने लाता है कि मध्यवर्गीय दृष्टिकोण में गरीबों के प्रति तिरस्कार केवल वर्गीय श्रेष्ठताबोध से नहीं, बल्कि जातिगत पूर्वग्रह से भी संचालित होता है। भिखारी को पहले आलसी ठहराना और तत्पश्चात उसकी जाति के आधार पर उसे अपमानित कर भगा देना इस छिपे हुए जातिवादी मानस का उद्घाटन करता है। इसी प्रकार, 'शक्तिशाली' और 'कुहासा' जैसी कहानियाँ यह संकेत करती हैं कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का निर्धारण जातिगत नियति से गहरे जुड़ा हुआ है जहाँ नरेन जैसी उच्चवर्गीय और उच्चजातीय पृष्ठभूमि से आने वाले पात्र समृद्ध और सुरक्षित रहते हैं, वहीं दूबर जैसे निम्नजातीय पात्र अभाव और भूख से जूझते हुए अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

अमरकांत का दृष्टिकोण यांत्रिक या नियतिवादी नहीं है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में-''आज की कहानियों के पाठकों का जो बहुत बड़ा समूह तथाकथित निम्न मध्यवर्ग के परिवारों में रहता है, उसकी जिन्दगी की तहों में भी खोजने को बहुत कुछ पड़ा हुआ है। कितने ही प्राइवेट मजाक होते हैं, हाथ और मुंह के बीच में भी खोजने को बहुत बातें पैदा होती रहती हैं। अमरकांत ने अपनी कहानियां यहीं से उठाई हैं और इस तरह हमारी आंखों से हमारी ही जिन्दगी के जाने कितने पर्दे उठ गए हैं।''[6] वे केवल यह नहीं दिखाते कि वर्ग की संरचना जाति से नियंत्रित होती है, बल्कि यह भी रेखांकित करते हैं कि निम्नवर्गीय जीवन के भीतर भी जातिगत श्रेष्ठता-बोध और पूर्वग्रह जीवित रहते हैं। 'दलील' का रिक्शेवाला अपनी जातिगत पहचान को उच्च ठहराकर श्रम को हीन समझता है, जबकि 'प्रैक्टिस' में दयाल जैसे पात्र जनेऊ की कसम खाकर अपनी जाति-आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा पर गर्व प्रकट करते हैं। यह संकेत करता है कि जाति केवल शोषण का उपकरण नहीं है, बल्कि वंचित समूहों की मानसिकता को भी ढालने वाली शक्ति है।

इस प्रकार, अमरकांत की कथा-दृष्टि भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए वर्ग और जाति दोनों की अनिवार्यता को समान रूप से रेखांकित करती है। उनकी कहानियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि भारतीय सामाजिक यथार्थ को किसी एक आयाम में नहीं समझा जा सकता; इसके लिए जाति और वर्ग दोनों दृष्टियों का संयुक्त अध्ययन आवश्यक है। यही कारण है कि अमरकांत की कहानियाँ सामाजिक यथार्थ के गहन और बहुआयामी अध्ययन की आधारभूमि तैयार करती हैं।

अमरकांत की कहानियों में भूख जीवन की सबसे बड़ी और व्यापक समस्या के रूप में उभरती है। उनके पात्र मूलतः उस वर्ग से आते हैं जिसकी जिंदगी की लड़ाई रोटी, कपड़ा

और मकान तक सीमित है, किंतु अधिकतर पात्र अभी केवल पेट की आग से ही जूझ रहे हैं। 'दोपहर का भोजन' इस विषय पर कालजयी कहानी है, परंतु 'घर', 'तंदुरुस्ती का रोग', 'कुहासा', 'अमेरिका की यात्रा' और 'निर्वासित' जैसी कहानियाँ भी भूख के विरुद्ध आम आदमी की संघर्षगाथा कहती हैं।

यह स्पष्ट है कि भूख मूलत: वर्गीय समस्या है, किंतु स्वतंत्रता-उत्तर भारत में यह समूचे समाज की साझा त्रासदी थी। अमरकांत ने इसे केवल गरीब पात्रों के अनुभव तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे समूची मानवता के संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया।

'अमेरिका की यात्रा' इस दृष्टि से विशिष्ट है, क्योंकि इसका नायक भूख से नहीं, बल्कि महानता के मोह से प्रेरित होकर निकलता है। किंतु रोमानी स्वप्न वास्तविकता से टकराते ही टूट जाते हैं और अंतत: उसे भोजन और आश्रय के लिए संघर्ष करना पड़ता है। मिठाई की दुकान पर गिरे टुकड़े को उठाकर खाने की कोशिश उसका भूख से प्रत्यक्ष साक्षात्कार है जहाँ 'महानता' का स्वप्न भूख की यथार्थभरी आग में भस्म हो जाता है, इस दृश्य को अमरकांत ऐसे दिखाते हैं,

''खाने के समय सेव का एक लंबा टुकड़ा जमीन पर गिर गया था। न मालूम कैसे मेरे दिमाग में यह विचार आया कि मजदूर के चले जाने पर मैं सबकी आँखें बचाकर उस टुकड़े को सफाई से मुँह में डाल लूँगा। किंतु, मजदूर मुझसे अधिक चालाक था। दोने साफ करने के बाद उसने जमीन पर गिरे उस सेव के टुकड़े को उठाकर गले सरका लिया और फिर चलता बना।''[7]

अमरकांत की कहानियों में 'भूख' केवल जैविक आवश्यकता की पूर्ति से जुड़ी घटना नहीं है, बल्कि यह समाज की आर्थिक विषमता, वर्गीय अन्याय और राजनीतिक उदासीनता का गहन यथार्थ भी उद्घाटित करती है। 'घर' का एम.ए. पास बेरोजगार युवक विनय जब पिता के क्रोध में घर से निकाल दिए जाने के बाद भूख से तड़पता है, तो पानी पीकर पेट भरने की उसकी विवशता और उसके बाद होने वाला शारीरिक कष्ट, इस अनुभव की त्रासदी को अत्यंत मार्मिक रूप में सामने लाता है। इसी प्रकार 'दोपहर का भोजन' की सिद्धेश्वरी भी खाली पेट पानी पीने से उत्पन्न शारीरिक पीड़ा से गुजरती है, जो भूख को एक स्थायी और दैनंदिन यंत्रणा के रूप में उद्घाटित करती है।

वहीं, 'अमेरिका की यात्रा' का पात्र भूख से आकस्मिक रूप से टकराता है, परंतु उसका अनुभव यह स्पष्ट कर देता है कि भूख का एक क्षण भी मनुष्य की चेतना और अस्तित्व को हिला देने के लिए पर्याप्त है। इन तीनों कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि अमरकांत के लिए भूख जीवन का शाश्वत दार्शनिक अनुभव नहीं, बल्कि निर्धनता और साधनहीनता में फँसे मनुष्यों की सामाजिक वास्तविकता है। उनके यहाँ भूख भोजन मिलने में देरी मात्र नहीं, बल्कि निरंतर अभाव, असुरक्षा और राजनीतिक-प्रशासनिक विफलताओं का परिणाम है, जो व्यापक रूप से समाज पर छाई महामारी की तरह चित्रित होती है। इस प्रकार अमरकांत के कथा-संसार में भूख एक व्यक्तिगत घटना नहीं रह जाती, बल्कि सामूहिक त्रासदी और सामाजिक विषमता का सशक्त रूपक बनकर उभरती है।

अमरकांत की कहानियों में भूख से जूझते परिवारों में स्त्री के हिस्से सबसे अधिक कष्ट आते हैं। केवल भोजन की कमी ही नहीं, बल्कि उन्हें पुरुषवादी अहंकार और अविश्वास का भी बोझ उठाना पड़ता है। 'निर्वासित' में यह स्पष्ट है पत्नी घर के लिए श्रम करती है, पर पति को संदेह है कि ''हरामजादी, अपने तो वहाँ लुक-छिपकर अपना गड्ढा भर आती है और यहाँ आकर बहाना कर देती है...।''[8] यह आरोप पतिव्रता स्त्री के लिए गहरी चोट बन जाता है। अपराधबोध और भूख से जर्जर उसका शरीर अंतत: टूट जाता है, और कथा यह दिखाती है कि अकाल जैसी विभीषिका में भी पुरुष अहं और अविश्वास स्त्री को सर्वाधिक त्रस्त करते हैं।

अमरकांत यह भी दिखाते हैं कि भूख मनुष्य को गरिमा से वंचित कर देती है। 'कुहासा' का दूबर लेबर चौराहे पर भूखा खड़ा है; बाबू साहब पाँच घंटे उससे डटकर काम लेने के बाद उसे बासी भोज देते हैं ''लकड़ी की तरह कड़ी पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ, कोंहड़े की बासी महकती सब्जी, पुलाव की भूरकनी और ढेर सारी मीठी चटनी थी लेकिन दही-बड़े और बूँदियाँ नदारद। ले ससुर, डटकर खा ... दुबर खाने पर कुत्ते की तरह टूट पड़ा।''[9]

इसी तरह अकालग्रस्त गाँवों में स्थिति यह थी ''सबके चेहरे सूख गये... बच्चे इतने कमजोर कि रो भी न सकें... लोग घास-पात और पेड़ के पत्तों का काढ़ा पीकर जीते।'' कहीं भूख चोरी की ओर धकेलती है 'फर्क' का लड़का कहता है, ''जब भूख बर्दाश्त नहीं होती तो लोगों के घरों में घुसकर खा-पीकर निकल जाता हूँ।'' लेकिन जनता उसकी पीड़ा को

समझने के बजाय नैतिक आक्रोश से भर उठती है।

इसके विपरीत, 'काली छाया' में भूख का उल्लेख लोगों में करुणा जगाता है ''इस अंतिम वाक्य का सभी पर बहुत गहरा असर पड़ा और...उसकी रस्सी खोल दी।'' यहाँ भुखमरी सामूहिक मानवता को उभारती है, जबकि 'फर्क' संवेदनहीनता को।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अमरकांत के यहाँ भूख केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि संबंधों, नैतिकता और स्त्री-जीवन पर गहरे प्रहार की कथा है।

तत्कालीन उत्तर भारतीय निम्नवर्गीय शहरी जनसंख्या की आर्थिक बदहाली, नैतिक संकट और जिजीविषा का सबसे बड़ा संवेदी सूचकांक भूख थी। अमरकांत ने इसे केंद्रीय विषय बनाया, किन्तु रोटी के साथ कपड़ा और मकान भी उनके पात्रों के जीवन की मूल समस्याएँ हैं। 'कुहासा' का दूबर कपड़े की कमी से ठंड से मर जाता है। 'फर्क' का लड़का ''एक गन्दा खाकी पैंट... गंदी और फटी कमीज'' पहनता है, 'काली छाया' की लड़की ''मैली कुचैली साड़ी'' में है, जबकि उसका प्रेमी ''कत्थई लुंगी और फटी बनियान'' में मिलता है। वकील बिहारीलाल की ''झोल और सिकुड़नोंवाली वही शेरवानी'' उनकी आर्थिक दशा का सटीक संकेतक है। अमरकांत वस्त्रों के माध्यम से सामाजिक आर्थिक स्थिति स्पष्ट करते हैं।

इसी तरह मकान भी पात्रों की हैसियत बताते हैं। जर्जर बस्तियाँ, गंदी गलियाँ और ''नालियों की दुर्गंध, कूड़े-कचरे... और दोनों ओर खपड़ैल के जर्जर मकान'' उनकी कहानियों में बार-बार उभरते हैं। 'उनका आना और जाना' का गोपालदास अपने जीर्ण-शीर्ण मकान की ओर लौटने को व्याकुल है। आत्मानंद बदबूदार, अंधेरे मकान में रहते हैं जहाँ मकान मालिक किराया देर से मिलने पर बिजली काट देता है। रामलाल इस संकट से जूझ रहे लोगों को संगठित कर आन्दोलन चलाते हैं और 'बस्ती' जैसी काल्पनिक रचना में मकान को ''हमारी न्यायसंगत आकांक्षाओं की प्रतिमा'' कहा गया है। पर यथार्थ में किराये का मकान भी सपना ही लगता है। 'मकान' का मनोहर कहता है ''एक साधारण आदमी को मकान के बारे में सोचने का अधिकार नहीं है।''

अमरकांत मकान को जीवन की बुनियादी आवश्यकता बताते हैं ''मकान सर्दी-गर्मी... से रक्षा करता है, छाया देता है, गर्व और संतोष देता है।'' यथार्थ में यह आकांक्षा अक्सर अधूरी रह जाती है।

रोटी कपड़ा मकान से वंचित लोगों के चित्रण में अमरकांत की यथार्थवादी दृष्टि अद्वितीय है। विनोद कुमार शुक्ल लिखते हैं ''यह ऐसा गरीब समय है, जिसमें गरीबी मुद्दा नहीं... पेट भरना कोई मुद्दा नहीं बनता।'' लेकिन अमरकांत ने इसे मुद्दा बनाया और साहित्य को नैतिक चेतना का माध्यम बनाया।

उनकी कहानियों में बेरोजगारी एक राष्ट्रीय समस्या बनकर आती है। 'घर' का विनय ''एमए पास करके दो साल से बेरोजगार'' है और लेखक कहते हैं ''बेकारी कोई नई बात नहीं थी, वह इधर राष्ट्र की एक खास पहचान बन गई थी।''[10] 'दोपहर का भोजन' का मुंशी चंद्रिका प्रसाद नौकरी छूटने पर आधे-तीहे भोजन पर जीता है।

अमरकांत शिक्षा और रोजगार के अंतर्विरोध पर गहन प्रश्न उठाते हैं। शिक्षा रोजगार न दे तो उसका मूल्य क्या? यह उनकी सोच की नहीं, बल्कि औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था की विडम्बना है। कुछ पात्र ('रिश्ता' का नईम) शिक्षा से गरीबी से निकलते हैं, पर अधिकांश बेरोजगारी और अभाव में फंसे हैं। अमरकांत का संकेत है कि रोटी कपड़ा मकान की समस्या केवल शिक्षा से नहीं, बल्कि बड़े राजनीतिक सामाजिक परिवर्तन से ही हल हो सकती है।

अमरकांत की कहानियाँ स्वतंत्रोत्तर हिंदी साहित्य में यथार्थ की गहरी पड़ताल करती हैं। उन्होंने भूख, बेरोजगारी, मकान और स्त्री-जीवन जैसी समस्याओं को जाति और वर्ग के संदर्भ में अत्यंत संवेदनशील ढंग से चित्रित किया। उनकी दृष्टि यह स्पष्ट करती है कि भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ग और जाति दोनों की संयुक्त व्याख्या आवश्यक है। इसी कारण उनकी रचनाएँ हिंदी कहानी को सामाजिक चेतना और मानवीय सरोकारों का प्रामाणिक दस्तावेज बना देती हैं।

पीएचडी, शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय
Saini.deeksha.107@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. सुरेन्द्र उपाध्याय, कहानी : प्रवृत्ति और विश्लेषण, पृष्ठ- 288
2. यदुनाथ सिंह, अमरकांत वर्ष- 1, संपादक- रवींद्र कालिया,

ममता कालिया, नरेश सक्सेना, पृष्ठ–239

3. रामनिहाल गुंजन सिंह, शब्द शिखर (पत्रिका), संपादक– आनंद प्रकाश त्रिपाठी, पृष्ठ–200
4. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड, पृष्ठ–423
5. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड, पृष्ठ–109
6. नामवर सिंह, कहानी नई कहानी, पृष्ठ–50
7. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड, पृष्ठ 159–160
8. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड, पृष्ठ–359
9. रवींद्र कालिया, अमरकांत संचयन, पृष्ठ–1148
10. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड, पृष्ठ–520

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. डॉ. सुरेन्द्र उपाध्याय, कहानी : प्रवृत्ति और विश्लेषण, नेशनल पब्लिक हाउस, संस्करण, 1996
2. संपादक– रवींद्र कालिया, ममता कालिया, नरेश सक्सेना, अमरकांत वर्ष–1, इलाहाबाद प्रेस, संस्करण–1997
3. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियां पहला खंड
4. नामवर सिंह, कहानी नई कहानी
5. रवीन्द्र कालिया, अमरकांत संचयन

पत्रिका–

⋆ शब्द शिखर, अंक 9, संपादक आनंद प्रकाश त्रिपाठी, भोपाल, अगस्त–2009

आंबेडकर की वैचारिकी और दलित साहित्य

डॉ. राजकुमार राजन* डॉ. सायमा इकबाल**

भारतीय के संविधान के शिल्पकार, लोकतंत्र के संरक्षक, समानता, स्वतंत्रता के हिमायती डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर आधुनिक भारत के निर्माता हैं। दलित साहित्य डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर से प्रेरणा ग्रहण करता है। आंबेडकर का चिंतन दलित साहित्य के केंद्र में है। है। आधुनिक समाज के शिल्पकार आंबेडकर को बिना जाने-समझे, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को जानना-समझना आधा-अधूरा है। उनकी दृष्टि किसी एक समाज या वर्ग के लिए ही नहीं है। उनकी सहानुभूति हर एक उस इंसान से है, जो सदियों से अपने ही समाज में गैर-बराबरी का शिकार रहा है। दुनियाँ का वह समाज कभी विकास नहीं कर सकता, जो अपने ही सामाजिक अन्तर्विरोध का शिकार हो। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का यह अन्तर्विरोध हमें आगे नहीं पीछे ढकेलता है। भारतीय सामाजिक संरचनाओं में जाति का स्तरीकरण हमारे सामाजिक व्यवस्था में अभिशाप के समान है। मनुष्य का अपने जन्म पर वश नहीं है लेकिन मनुष्य जब जन्म लेता है, वह विभिन्न जातियों, धर्मों, वर्गों में विभाजित हो जाता है। यह नियम शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है और सम्पूर्ण जीवन जाति के उसी खांचे में रहना पड़ेगा, जहाँ उसका जन्म हुआ है। यह एक ऐसा कानून है, जो व्यावहारिक रूप से संचालित है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे एक घर के चार मंजिल हैं, उस चार मंजिल में सभी परिवार रहते हैं लेकिन उन चारों मंजिल की दुनियाँ अलग-अलग है। यह वर्ण विभाजित भारतीय समाज जातियों की समस्याओं के केंद्र में है। यह मानव विरोधी और गैर बराबरी का सिद्धांत है। इन सबके अलावा एक पंचम वर्ग है, जो अछूत के श्रेणी में है, उस वर्ग के साथ सदियों से अत्याचार होते रहे हैं। यहाँ तक की इस वर्ग को मनुष्य के श्रेणी में भी नहीं माना जाता था। हमारे समाज का यह एक ऐसा अभिशाप था, जो आज भी किसी ना किसी रूप में हमारे सामने आ जाता है। सदियों से दलित समाज अपने ऊपर होने वाले अत्याचार का प्रतिरोध नहीं कर सके। सामाजिक व्यवस्था में अपनी पीड़ा को नियति मान लेना, उसकी विवशता थी। उनके साथ किया गया बर्बरता, अमानवीयता के श्रेणी में आता है। बाबा साहेब आंबेडकर स्वयं इस पीड़ा के शिकार थे। वे बचपन से सामाजिक भेदभाव पूर्ण-व्यवस्था के शिकार रहे थे। उन्हें बचपन से ही यह भेदभाव अन्यायपूर्ण और अमानवीय लगता था। यह अनुभव उनके लिए पीड़ा का ऐसा कारण बना, जिन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव से इस वर्ग को मुक्ति का रास्ता दिखाया।

दरअसल दलित शब्द अछूतों के लिए व्यवहृत होता है, जो भारतीय सभ्यता में सबसे निचले पायदान पर स्थित है। हिंदू धर्म के वर्णक्रम से इसे बाहर रखा गया, जिसे पंचम वर्ण भी कहा जाता है। दलितों पर होने वाले अत्याचार की लम्बी फेहरिस्त है। भारत में यह सदियों से चला आ रहा है। छूआधूत इसका वीभत्स रूप है। प्राचीन काल में दलितों को बहिष्कृत समाज का हिस्सा माना जाता था। यहाँ तक कि इसे अपवित्र कहकर अपमानित किया जाता था। इनके साथ जो अत्याचार हुआ है, वह मनुष्यता विरोधी है। उच्च वर्ण के लोग इनके छाया से अपने को अपवित्र समझते थे। इनके ऊपर जो पेशा थोपा गया था, वह तो और भी घृणित था। वे चमड़े से सम्बन्धित कार्य करते थे और मृत जानवरों से जुड़े कार्य इनके हिस्से था। सबसे वीभत्स कार्य तो गंदगी और मैला ढोना इनके हिस्सा था। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ने अस्पृश्यता के नाम पर सदियों

से इनका शोषण करता रहा है। इनके शोषण में उच्च वर्ग को श्रेष्ठता का बोध होता है। दलितों के लिए अतीत अंधकारमय रहा है। प्राचीन काल से दलितों पर अमानवीय अत्याचार होते रहें हैं, उनके साथ एक तरह से सामूहिक सामाजिक बहिष्कार होता था। वे जहाँ रहते थे, उनका गाँव जरूर होता था लेकिन वह गाँव उनके लिए एक तरह से यातना गृह था। उनके साथ व्यावहारिक जीवन में जिस तरह का भेदभाव होता था, वह क्रूरता था। दलितों की परछाई भी अभिशाप माना जाता था।

दलित भूमि का मालिक नहीं हो सकता था। प्राचीन युग में दलितों को जो पेशा निर्धारित की गई थी। वह उनके लिए मानो एक अभिशाप की तरह था। मरे हुए जानवरों का कार्य व्यापार और मैला उठाना तो एक उदाहरण मात्र है। उनके लिए जो सामाजिक नैतिकताओं का मापदंड था, वह किसी भी समाज के लिए बर्बरता का एक बड़ा उदाहरण हो सकता है। दलितों के आर्थिक शोषण के कई स्तरीकरण थे, जिनमें उसे सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित रखा गया था। शिक्षा ग्रहण करने का भी अधिकार उनके पास नहीं था। हमारे सामाजिक मान्यताओं में दलितों के पास पूर्व जन्मों का फल के कारण ऐसा भोगना पड़ रहा है, यही सोच उनका स्थाई भाव बन चुका था। उनको मानसिक रूप से जो यातनाएं दी जाती थीं, वह पीड़ा उनके मानसिक असंतुलन को बिगाड़ देता था।

दलितों के पास जीवन जीने की निर्भरता उनके जमींदारों के पास होती थी क्योंकि वे भूमिहीन थे। जमींदार उनको अपना दास समझता था। जो कार्य उसे करने का आदेश मिलता था, वह करना उसकी मजबूरी होती थी। आदेश और उसका अनुपालन उसकी नैतिकता का मापदंड होता था। मध्यकाल से पूर्व उनको मंदिरों में जाना वर्जित माना जाता था। मंदिर उनके लिए दूर से दिखाई जाने वाली वह मिथ था, जो उसे मनुष्य नहीं होने के लिए मानो परिभाषित करता था। ''सामाजिक स्तरीकरण का सबसे पहला उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ पुरुष सूक्त में समाज को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हालाँकि विद्वान इस बात पर बहस करते हैं कि यह निर्देशात्मक था या वर्णनात्मक, समय के साथ ये श्रेणियाँ एक कठोर जाति व्यवस्था में बदल गई और अंतत: समाज के बड़े हिस्से को 'अछूत' मानकर उससे बाहर कर दिया गया।''[1] दलितों के प्रति भेदभाव प्राचीन काल से होता आ रहा है। वर्ण-व्यवस्था से जैसे ही उन्हें बाहर किया गया, वैसे ही निम्नतम व्यवसाय के लिए उनको मजबूर किया गया। अंतत: इस वर्ग को पंचम श्रेणी में बाँट दिया गया।

मध्ययुग में खासकर भक्तिकाल में भक्ति के लिए सभी वर्णों के लिए रास्ते खोल दिए गए लेकिन सामाजिक व्यवस्था में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया भक्तिकाल में निर्गुण पंथ के संत काव्य धारा में कबीर, रैदास, रविदास और चोखामेला जैसे कवियों का उदय हुआ। जिनके काव्यों में शास्त्रीयता का विरोध, जातीयता, रूढ़िवाद, अंधविश्वास का विरोध दर्ज हुआ है। कबीर के यहाँ तो हर धर्मों के पाखंडवाद का विरोध है। कबीर ने अपने काव्यों में मनुष्य-मनुष्य के बीच विभक्त करने वाले सभी कारकों का विरोध किया है। कबीर मनुष्यता को सर्वोपरि मानते हैं। कबीरदास घट घट में राम को देखते हैं। राम परम शक्ति हैं, उनके अंश सभी जीवों में है। मनुष्य ईश्वर को ढूँढ़ने तीर्थाटन करने जाते हैं लेकिन ईश्वर तो उनके पास है।

''कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसे घटि घटि रॉम हैं, दुनियाँ देखै नॉहि।।''[2]

कबीर के लिए इस ब्रह्मांड में सभी मनुष्य एक समान है। ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा सब मनुष्यों द्वारा सृजित है। ईश्वर के लिए सब एक समान है। पराधीनता के दौर में ब्रिटिशर्स ने 1871 में भारतीय जातियों का जणगणना करवाया था। जनगणना के बाद भारतीय जातियों का एक उभार आया, जिसमें खासकर दलितों के ऊपर अत्याचार पर ब्रिटिशर्स ने कुछ नये सुधार के लिए दलितों से सुझाव मांगे गए थे। उस समय से कुछ सुधार प्रारंभ होने शुरू हुए। 'गोपाल बाबा वलंगकर' ऐसे ही उस समय के दलित चिंतक थे। वे दलितों के अधिकार के लिए जाति उत्पीड़न का खुले तौर पर विरोध दर्ज करते हुए, सामाजिक सुधार की वकालत करते थे। इसी समय 'अयोति थास' जो तमिल बुद्धिजीवी और चिंतक थे, उन्होंने जाति के आधार पर जो असमानता हो रही थी, उसका विरोध दर्ज किए। कोल्हापुर राज्य के राजा 'शाहू महाराज' ने सामाजिक असमानताओं को देखते हुए अपने राज्यों में कई तरह के सुधार किए। 'शाहू महाराज' ने अपने राज्य में गैर बराबरी सरकारी कर्मचारी के लिए विशेष आरक्षण की व्यवस्था स्थापित की। इसलिए 'शाहू महाराज' को आरक्षण का जनक माना जाता है। दलितों के उद्धार में ईसाई मिशनरियों का योगदान है। यद्यपि वे अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए दलितों में शिक्षा का प्रसार कर रहे थे लेकिन उससे दलितों में शिक्षा प्राप्त करने की ललक जग रही थी। यह उनके लिए प्रारंभिक सुधार था।

भारतीय सभ्यता में 'गोविंदराव फुले' का अभ्युदय

सामाजिक न्याय के लिए ''मील का पत्थर'' साबित हुआ। 'गोविंदराव फुले' को 'महात्मा फुले' और 'ज्योतिबा फुले' के नाम से भी जाना जाता है। 'महात्मा फुले' बहुत बड़े तर्कवादी और वैज्ञानिकता के समर्थक चिंतक थे। उनके चिंतन का प्रमुख स्रोत शिक्षा का प्रचार-प्रसार था। 'ज्योतिबा फूले' समाज के हर वर्ग को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष सभी के लिए शिक्षा को समान महत्त्व देते थे। शिक्षा उनके लिए वह हथियार था, जो सामाजिक असमानता को दूर करने का सबसे बड़ा हथियार था। उनका सम्पूर्ण जीवन समाज के हाशिए पर जीवन जी रहे, ऐसे लोगों के साथ सहानुभूति रही थी, जो सदियों से असमानता का शिकार था। वे पुरुषों के साथ स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार प्रदान करना चाहते थे। वे सभी मानव विरोधी परम्पराएँ, कुप्रथाएँ, अंधविश्वास, रूढ़ियों का विरोध करते थे। उनका सम्पूर्ण चिंतन मनुष्यता के पक्ष में है।

बाबा साहेब आंबेडकर 'दलित साहित्य' के केंद्र में है। उनका सामाजिक, राजनीतिक चिंतन दलित साहित्य का प्राण तत्त्व है। ''दलित साहित्य का मूल आधार तो अंबेडकर का चिंतन है, अब सवाल यह है कि अंबेडकर के चिंतन का आधार क्या है? उनका वह चिंतन कहीं से प्रेरणा लेता है। जाहिर है कि अंबेडकर बुद्ध के पास जाते हैं, अंबेडकर कबीर के पास जाते हैं, अंबेडकर ज्योतिबा फूले के पास जाते हैं तो ये जो अंबेडकर से पहले सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन चल रहे थे, उनसे प्रेरणा लेकर अंबेडकर अपनी विचारधारा को बड़े व्यवस्थित रूप से प्रतिस्थापित करते हैं।''[3] बाबा साहेब का जीवन दर्शन 'सामाजिक न्याय' का आधारशिला है। उनकी जनपक्षधरता समाज के उन हिस्सों के साथ था, जो सदियों से शोषित था। बाबा साहेब की दृष्टि बहुत स्पष्ट थी, वे मानते थे किसी भी सामाजिक व्यवस्था में राजनीतिक के बिना सामाजिक मुक्ति संभव नहीं है। वे जाति व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के बिना दलितों की संभव नहीं मानते थे। भारतीय जातीय व्यवस्था में सुधार के लिए उन्होंने बहुत संयम और धैर्य के साथ 'जाति का विनाश' नामक पुस्तक का सृजन किया। जिसमें उन्होंने जाति को एक राक्षस की तरह माना है। ''जाति एक ऐसा राक्षस है, जो आपका रास्ता रोकेगा ही नहीं, बल्कि काटेगा भी। जब तक आप इस दैत्य का वध नहीं करते, आप न राजनीतिक सुधार कर सकते हैं और न ही आर्थिक सुधार।''[4] अंतत: बाबा साहेब जातिविहीन समाज के लिए बौद्ध धर्म में दलितों की मुक्ति स्वीकार की। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, ''मैं हिन्दू के रूप में पैदा हुआ, इस पर तो मेरा वश नहीं था, मगर मैं हिन्दू के रूप में मरूँगा नहीं।''

बाबा साहेब जाति-प्रथा के विरोध में खड़े थे। उनका व्यक्तिगत जीवन अनुभव जातीय अपमान का भोगा हुआ यथार्थ था। वे मानते थे, तमाम सामाजिक बुराईयों छुआ-छूत जैसे जघन्य अपराध जाति व्यवस्था की देन है। जब तक जाति व्यवस्था ध्वस्त नहीं होगी, तब तक दलितों की मुक्ति संभव नहीं है। दलित साहित्य अपनी मुक्ति का दर्शन बाबा साहेब के विचारों में ढूँढ़ता है। बाबा साहेब के बिना दलित साहित्य अकल्पनीय है।

19वीं शताब्दी का भारतीय सामाजिक सुधार आंदोलन का प्रभाव दलितों के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार में भी पड़ा है। किसी भी सभ्य समाज में जब बुनियादी तौर पर सुधार की बात होती है तो उसका प्रभाव नीचे तक जाता है। 19वीं शताब्दी का भारतीय सामाजिक सुधार आंदोलन मुख्यत: भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों और अंधविश्वास के प्रति विद्रोह था। उस समय खासकर हिंदू सामाजिक व्यवस्था कई प्रकार के सामाजिक असमानताओं से गुजर रहा था। इसलिए देश में सामाजिक सुधार और धार्मिक पुनरुत्थान की जरूरत महसूस की जा रही थी। 19वीं शताब्दी का वह दौर महिलाओं के लिए बड़ी चुनौतीपूर्ण थी। महिलाओं के माथ असमानता का व्यवहार किया जा रहा था। उन समस्याओं में कन्या भ्रूण हत्या, बाल-विवाह, बहुविवाह और सती प्रथा जैसी अमानवीयता और अत्याचार महिलाओं के साथ हो रहा था। यह स्थिति भारतीय महिला के हर वर्ग में हो रहा था। चाहे किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदाय विशेष की क्यों नहीं हो। इसके विरुद्ध उस समय एक बड़ा सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलन की शुरुआत हुई। उन आंदोलनों में 'आर्य समाज' की स्थापना भी है। आर्य समाज हिंदू धर्म में व्याप्त उन कुरीतियों के विरुद्ध खड़े हुए, जो भारतीय समाज को खंडित कर रहा था। यह संगठन मूर्ति पूजा, पशु बलि, पुरोहितवाद आदि का विरोध करते हुए, महिला शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, बाल विवाह उन्मूलन जैसे कार्य के लिए भारतीय सामाज को जागरूक बनाया।

राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। ब्रह्म समाज ने अवतारों में विश्वास को नकारा एवं भारतीय जातीय व्यवस्था के विलाफ एक आंदोलन की शुरुआत की। 19वीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलनों में 'प्रार्थना समाज' की भूमिका भी अग्रणीय है। 'प्रार्थना समाज'

का चार सूत्रीय सामाजिक सुधार का पफार्मूला सामाजिक बदलाव में बड़ी भूमिका थी। वह चार फार्मूला 'जाति व्यवस्था की अस्वीकृति', 'विधवा पुनर्विवाह', 'महिला शिक्षा' और 'विवाह का आयु को ज्यादा करना' था।

ज्योतिबा फूले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। ज्योतिबा फूले ने हाशिए के समाज को मुख्यधारा में लाने के लिए बहुत कार्य किए हैं। उनके आत्मसम्मान को ऊपर उठाने के लिए मानवता दृष्टि से किया है। ज्योतिबा फूले ने अपने आंदोलनों में सबसे ज्यादा शिक्षा पर जोर दिया क्योंकि शिक्षा उनके लिए वह हथियार था, जो मनुष्य को तर्कवादी और वैज्ञानिक बनाता है। वे मानते थे, शिक्षा के माध्यम से ही सदियों से शोषित समाज को मुक्ति का रास्ता मिल सकता है। उन्होंने जाति व्यवस्था के तमाम षड्यन्त्रों को खारिज करते हुए 'मानवतावादी समाज' की स्थापना की। भारतीय समाज के दबे कुचले व्यक्ति का वे आवाज बने और समाज के हर वर्ग की महिलाओं के उद्धार के लिए महिला शिक्षा पर विशेष जोड़ दिया। इस सामाजिक महिला सुधार आंदोलनों में जो तत्परता के साथ उनका साथ दे रही थी, वह उनकी जीवन संगिणी 'सावित्रीबाई फूले' भी थीं। सावित्रीबाई फूले के द्वारा लिखी गई कविता यहाँ प्रासंगिक हैं।

''ज्योतिबा को सलाम
हृदय से करते हैं
उनसे भी ज्ञान का अमृत
हम पुनर्जीवित हो जाते हैं
हे ज्योतिबा महान
दीन दलित, शूद्र-अतिशूद्र
तुम्हें पुकारते हैं
चाहे ज्ञान की लालसा
मन ज्ञान से भर दीजिये
ज्ञान से ही हमें मिलेगी
हमें मुक्ति।''[5]

ज्योतिबा पफूले को बाबा साहेब आंबेडकर अपना गुरु मानते थे। फूले वास्तव में 19वीं शताब्दी के सामाजिक सुधार के बहुत बड़े चिंतक प्रणेता थे, जिनके प्रयासों से दलितों में एक नई चेतना पैदा हुई और आगे चलकर उनका दर्शन 'मील का पत्थर' साबित हुआ।

19वीं शताब्दी का सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों से हाशिए समाज में भी सुधार के प्रति जागरूकता आई। यह आंदोलन प्रत्यक्ष रूप से समाज के सभी वर्गों के प्रति सामाजिक सुधार का आंदोलन था लेकिन इसका प्रभाव समाज के हाशिए पर बैठे लोगों में भी हुआ।

दलित साहित्य 'आंबेडकर की वैचारिकी' को आधार मानकर अपने अनुभव संसार से 'दलित विमर्श' के लिए सृजन कर रहा है। यह सृजन उनके जीवन का यथार्थ है। भोगा हुआ सत्य के साथ-साथ जीवन को विचलित करने वाला यथार्थ भी है। हिन्दी साहित्य में दलितों से संवेदना रखने वाले रचनाकार दलितों के अनुभव संसार का सृजन अवश्य करते थे लेकिन उनकी रचनाओं में सहानुभूति मात्र थी। 'दलित विमर्श' में दलितों के द्वारा सृजित रचनाएं हैं, उनके जीवन का भोगा हुआ अनुभव का यथार्थ है। यह अनुभव किसी से उधार नहीं लिया है बल्कि यह अनुभव स्वयं उनका है। आंबेडकर जीवन के बुनियादी सरोकार के परिवर्तन में राजनीति को विशेष महत्त्व देते थे। दलित साहित्य राजनैतिक मूल्यों को अपने साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। ''भारतीय समाज में दलित राजनीति की शुरुआत 1930 से होती है, जब डॉ. आंबेडकर ने दलित वर्गों के राजनीतिक अधिकारों का सवाल उठाया था। अस्पृश्यता और जातीय भेदभाव के खिलाफ सामाजिक आंदोलनों की असफलताओं ने राजनीतिक आंदोलन की आधारशिला रखी थी।''[6] परम्परा से चली आ रही रचनाएं या तो कलावादी साहित्य था या अभिजन का साहित्य। लेकिन दलित साहित्य ने इन दोनों की परम्पराओं को तोड़कर जीवनवादी साहित्य की रचना की। दलित विमर्श मानवतावादी साहित्य का नया अभ्युदय है। दलित साहित्य अस्मिताओं के संघर्ष का भी साहित्य है। यह साहित्य अस्मिताओं की खोज कर, हजारों साल से जो दलित अनजान था, उनकी पहचान खोई हुई थी, उस खोई हुई अस्मिता की पहचान 'दलित साहित्य' करता है। दलित साहित्य दलितों की अस्मिता और अधिकारों के लिए संघर्षशील है। दलित साहित्य विभिन्न विद्याओं में अभिव्यक्त हो रहा है, कविता, कहानी, नाटक, आत्मकथा, उपन्यास आदि विद्याओं में। दलित साहित्य में दलित जीवन की वास्तविकता का उल्लेख करता है। उनके जीवन की अपनी वेदना, संघर्ष, कष्ट, दु:ख, पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए जाति व्यवस्था के खिलाफ मुखर आवाज को पहचान देता है। दलित साहित्य दलितों के आत्मसम्मान को बढ़ाता है और साथ ही उनके आत्मगौरव के बोध को भी जगाता है। दलित साहित्य आज के समकालीन साहित्य में अपना एक अलग पहचाना बनाया है

और साथ ही दलित समुदाय के अनुभव को वैश्विक पहचान दिलाया है।

दलित रचनाकारों में 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' एक अद्वितीय रचनाकार हैं। उनकी कहानियों में दलितों की वेदना को पढ़ा जा सकता है, बिना अनुभव किए अनुभव भी किया जा सकता है। उनका साहित्य दलित जीवन का सजीव दस्तावेज है। सलाम, घुसपैठिए और छतरी जैसी कहानियाँ दलित जीवन का संपूर्ण कथा कहती है। उनकी कविताओं में दलितों की वेदना और उनका यथार्थ व्यक्त हुआ है। 'सदियों का संताप' और 'बस! बहुत हो चुका' उनकी शानदार दलित कविता है। जिसमें सदियों से भोगा हुआ अनुभव, उनका यथार्थ और जीवन की पीड़ा का वर्णन है। अब संघर्ष की पीड़ा का अन्त होना चाहिए, ऐसी आशा और आंकाक्षाओं के साथ कविताएँ लिखी गई है।

'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की आत्मकथा 'जूठन' दलितों के अनुभव संसार का जीवंत उदाहरण है। 'जूठन' में 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' का अनुभव सिर्फ उनका अनुभव नहीं रह जाता है बल्कि यह अनुभव संपूर्ण भारतीय दलित समुदायों का अनुभव हो जाता है। ''ओमप्रकाश जी ने दलित जीवन के उन तमाम कष्टदायक, यातनामय, अपमानजनक शोषित किए जाने के अनुभवों को 'जूठन' के पहले खंड में प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य जगत् में हलचल मचा दी थी।''[7] ओमप्रकाश वाल्मीकि का अनुभव संसार बहुरंगी है। एक तरफ जो उन्होंने गाँव में रहते हुए पीड़ा का जो अनुभव किया दूसरी तरपफ नौकरी करते हुए शहरी जीवन में उत्पीड़न का जो यथार्थ बोध उनका है। यह दोनों अनुभव संसार उनके साहित्य की अभिव्यक्ति है।

''चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों।''[8]

यह कविता मनुष्य-मनुष्य के बीच विभेद करने काली उन षड्यंत्रों का पर्दाफाश करती है, जो समाज को जोड़ने नहीं तोड़ने का काम करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य जीवन के उन मूल्यों की स्थापना करता है, जो समाज में असमानता है, वह किसी प्राकृतिक या ब्रह्म प्रदत्त नहीं है, यह सब कुछ मनुष्य 'जनित' है।

दलित साहित्य की 'आत्मकथा' साहित्य का धरोहर है। साहित्य की अन्य विधाओं में जहाँ यथार्थ और कल्पनाशीलता का सामंजस्य होता है, वहाँ 'आत्मकथा' में यथार्थ का बोध होता है। दलित साहित्यकारों द्वारा लिखी गई आत्मकथा सिर्फ उनकी नहीं है बल्कि वह आत्मकथा उन करोड़ों दलितों का है, जो अछूत और असमानता का शिकार है। इसलिए दलित लेखक के द्वारा उनकी आत्मकथा का समाज शास्त्रीय अध्ययन होना चाहिए। डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' उन करोड़ों दलित, जो जातिगत भेदभाव झेल रहे हैं और विभिन्न तरह के सामाजिक विसंगतियों का आज भी शिकार हो रहे हैं। यह उनकी अभिव्यक्ति है। यह आत्मकथा दलित जीवन का संघर्ष और उनके साथ हो रहे अत्याचार का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। 'मुर्दहिया' में जो दलितों के प्रति व्यवहार है, वह कितना अमानवीय और बर्बरतापूर्ण है, ''हर दापित हरवाहा अपने मालिक की आवाज सुनकर जोर से चिल्लाकर उत्तर देता: 'आपत हई मालिक'। जमींदारों द्वारा बुलाए जाने वाले शब्द प्राय: बड़े ही निरादरपूर्ण होते थे। पहली आवाज पर कुछ उत्तर न मिलने पर वे गालियां देते हुए दोबारा आवाज लगाते थे।''[9] मुर्दहिया के माध्यम से दलितों की करूण गाथा पाठक के सामने है, जो कभी सामने नहीं आते थे, वह डॉ. तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा में अभिव्यक्त किया है। यह सब कुछ प्राय: साहित्य की मुख्यधारा में कभी शामिल नहीं किए जाते थे।

''मेरा बचपन मेरे कंधों पर'' श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा है। यह आत्मकथा उन दलित बच्चों की अपमान, अभाव, बेसहारा, गरीबी, जातिगत भेदभाव की कहानी है, जो आज का यथार्थ है। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की यह आत्मकथा उनके अभाव और गरीबी की कहानी है लेकिन दुखद है आज भी दलित का बचपन इन अभावों से ही होकर गुजर रहा है। ''मौसा जी पूछते थे। तुम अण्डे बेचने के लिए कैसे बोलते हो। तब मैं उन्हें बताता कि मैं नींबू का गाना बना कर बेचता था और उसी तरह अण्डे भी गा-गा कर बेचता हूँ। मैंने खुद ही अपने काम के तुक्के जोड़ लिए हैं।''[10] यह आत्मकथा लेखक का नींबू बेचने से जो जीवन प्रारंभ हुआ था, वह हिन्दी-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय के अध्यक्ष बनने तक की यात्रा का यथार्थ चित्रण है।

यह पुस्तक भारतीय समाज में दलितों की स्थिति, उनके संघर्ष और जाति व्यवस्था में उनकी स्थिति के सच्चाई का उल्लेख करता है। यह सिर्फ लेखक का अपना आत्मसंघर्ष नहीं है, उनके आत्मसंघर्ष के साथ-साथ उन लाखों दलितों की

कहानी भी है, जो बहुत ज्यादा संघर्ष करके इस मुकाम तक पहुँचते हैं। यह आत्मकथा 'एक उम्मीद भरे हाथ' का भी संदेश देती है, विभिन्न तरह के अभावों और संघर्ष के बावजूद यदि आपके अंदर शिक्षा प्राप्त करने की अभिलाषा हो तो आपको मंजिल अवश्य मिलेगी।

दलित साहित्य और साहित्यकारों की बहुत लम्बी फेहरिस्त, है, उनमें से मोहनदास नैमिशराय की कहानी अपना गाँव, ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 'ठाकुर का कुआं', मलखान सिंह की कविता 'सुनो ब्राह्मण', जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'नो बार', सुशीला टाँकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द', कौशल्या वैसन्त्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' आदि है।

'आंबेडकर की वैचारिकी और दलित साहित्य' एक समकालीन चिंतन है। बाबा साहेब आंबेडकर केवल दलितों के मसीहा नहीं थे बल्कि हाशिए पर पड़े उस हर व्यक्ति के साथ थे, जो सदियों से समाज के मुख्यधारा के हिस्से नहीं थे। भारतीय समाज में दलितों के प्रति जो सदियों से भेदभाव और जातीय उत्पीड़न हो रहा है, ऐसे में दलित साहित्य की भूमिका और भी प्रासंगिक हो जाता है। 'आंबेडकर की वैचारिकी और दलित साहित्य' में आंबेडकर की वैचारिकी ने दलित साहित्य को प्रेरणा दिया और दलित साहित्य ने आंबेडकर की वैचारिकी को आगे बढ़ाया।

★एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

★★एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. दलित साहित्य, विकिपीडिया, पृ. 2.
2. कबीर ग्रन्थावली, सं. श्यामसुन्दर दास, पृ. 11.
3. सावित्रीबाई फुले, रजनी तिलक, पृ. 49.
4. बात कहूँ मैं खरी-खरी, सं. धर्मवीर यादव गगन, पृ. 117.
5. जाति का विनाश, अनुवाद राजकिशोर, पृ. 57.
6. दलित राजनीति की समस्याएँ, सं. राजकिशोर, पृ. 9.
7. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 6.
8. दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 25.
9. मुर्दहिया, डॉ. तुलसीराम, पृ. 65.
10. मेरा बचपन मेरे कंधो पर, श्यौराज सिंह 'बेचैन', पृ. 230.

निरस्त्रीकरण : एक राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य

मान्या कांबले

लगभग 50 वर्षों से अधिक समय से Mutual Assured Destruction (MAD) वैश्विक स्तर पर एक बड़ी वास्तविकता है। हेडली बुल ने अपनी पुस्तक 'द कंट्रोल ऑफ आर्म्स रेस' (1961) में लिखा है कि ''Armaments, or particular kinds or levels of armaments races are a cause of war, which disarmaments, or arms control will remove " (Bull, 1961, पृ. 3)। दूसरी ओर, कार्लटन का कहना है कि निरस्त्रीकरण को इस तरह के व्यापक ढांचे के रूप में देखना अपनी सटीकता और बारीकियों को खोना है (कार्लटन, 2017)। वैश्विक सुरक्षा की संरचना तेजी से तकनीकी रूप से उन्नत होने के साथ, आंतरिक रूप से विषम और बहुत अधिक घातक भी हो रही है। अत: बाह्य और आंतरिक सुरक्षा दोनों के लिए निरस्त्रीकरण की आवश्यकता एक अनिवार्यता बन गई है।

हालांकि, जोहान गल्तुंग ने कहा है कि ''A basic and well-known factor in contemporary international politics is the lack of correspondence between steps towards disarmament and the number of disarmament conferences. The latter is increasing, sometimes quickly, sometimes slowly; but disarmament is not increasing." (गैलटुंग, 1967, पृ. 1) वह इसके कई कारणों को मानते हैं, जैसे दूसरों के बीच 'निष्ठाहीनता सिद्धांत', 'असहमति सिद्धांत', और 'शक्तिहीन सिद्धांत'। (गल्तुंग, 1967)

अत: निरस्त्रीकरण असफल क्यों हुआ, यह समझने के लिए इन सिद्धांतों का विश्लेषण आवश्यक है। किसी उपयोगी विश्लेषण और समाधान पर पहुंचने के लिए एक संपूर्ण विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इस तरह के विश्लेषण को एकआयामी दृष्टिकोण अपनाकर नहीं देखा जा सकता है। इसे संपूर्णता में देखना होगा। निरस्त्रीकरण का विश्लेषण करने के लिए राजनीतिक-आर्थिक ढांचे का उपयोग करने का प्रयास किया जाना चाहिए। यह एक ऐसी दुनिया में जहां कई देश परमाणु हथियारों की शक्ति से सम्पन्न हैं साथ ही साथ वैश्विक स्तर पर कई भयावह और तनावपूर्ण संघर्षों की खबरों की एक निरंतर धारा, एक वास्तविकता है, यह एक बहुत बड़ी आवश्यकता बन गई है।

प्रस्तुत शोध आलेख में चार प्रमुख राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोणों के लेंस के माध्यम से निरस्त्रीकरण के मुद्दे का विश्लेषण किया जाएगा - व्यापारिकवाद, उदारवाद, संरचनावाद और नारीवाद। यह निरस्त्रीकरण का एक बहुआयामी विश्लेषण तैयार करने में सहयोगी होगा। जिसमें इसकी कार्य-कारण से लेकर वैश्विक शक्ति गतिशीलता पर इसके प्रभाव, निरस्त्रीकरण वार्ता में इसके अनुप्रयोग और साथ ही साथ वे संभावित रूप से अनिष्पादित क्यों रहते हैं, इस पर भी विचार किया जाएगा। प्रारम्भ में निरस्त्रीकरण के अर्थ को समझा जाएगा। इसके विकास के प्रमुख चरणों पर विचार किया जाएगा। इसके बाद राजनीतिक-आर्थिक के दृष्टिकोण से इसका विश्लेषण किया जाएगा।

निरस्त्रीकरण का विकास

हंस जे. मॉर्गेंथौ के अनुसार, "Disarmament, no less than the armaments race is the reflection among the nations concerned." (मॉर्गेंथौ, 1993, पृ. 403)। वर्साय की संधि के तहत, निरस्त्रीकरण को परिभाषित करते हुए कहा

गया है कि "any plan or system for the elimination, reduction , or abolition of armed forces, including their arms and equipments and other related items such as military bases and budgets " (भार्गव, 1979, पृ. 2)

डेविड कार्लटन तीन प्रकार के निरस्त्रीकरण के बारे में बात करते हैं : सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण (जीसीडी), सार्वभौमिक निरस्त्रीकरण और हथियार नियंत्रण। जीसीडी, सोवियत रूस में पहली बार प्रस्तावित एक विचार, एक यूटोपियन अवधारणा है जिसका तात्पर्य अंतर-राज्य संबंधों में हथियारों के पूर्ण बहिष्कार से है, जिसे दुनिया को हथियारों से पूरी तरह से मुक्त किया गया है। हालांकि, यह संप्रभु राज्यों के संदर्भ में अविश्वसनीय लगता है क्योंकि वे महसूस कर सकते हैं कि निरस्त्रीकरण उनकी सुरक्षा और शक्ति में कमी का कारक भी हो सकता है। (कार्लटन, 2017) निरस्त्रीकरण को जो अलग करता है वह यह है कि इसकी एक अंतरराष्ट्रीय पहुंच है, जो आमतौर पर हथियारों के नियंत्रण से भी व्यापक होती है। (भार्गव, 1979)

सार्वभौमिक निरस्त्रीकरण पूर्ण उन्मूलन के बजाय पारस्परिक रूप से सहमत स्तरों पर शस्त्रागार प्रसार को धीमा करने से संबंधित है। हथियार नियंत्रण उपाय ऐसी संधियाँ हैं जो या तो विशिष्ट राज्यों, विशिष्ट हथियारों या दोनों को शामिल करती हैं। हथियार नियंत्रण उपायों को प्रसार के माध्यम से निवारण को रोकने में असमर्थ होने की प्राथमिक सीमा और स्थिति का सामना करना पड़ता है। हालाँकि इस क्षेत्र में सीमित सफलता भी प्रपट हुई है, उदाहरण के लिए गैर-प्रसार संधि (एनपीटी) 1968 और अन्य (कार्लटन, 2017)।

निरस्त्रीकरण मुख्य रूप से एक नकारात्मक उपाय है। यह एक चरण में पूर्ण होने वाला समाधान नहीं है। इसके लिए विभिन्न हस्ताक्षरकर्ताओं के लिए अपने लक्ष्यों के संशोधन के निरंतर मूल्यांकन और निर्णय के विश्लेषण की आवश्यकता होती है। निरस्त्रीकरण, और विशेष रूप से परमाणु निरस्त्रीकरण में, सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम शामिल होते है। 'निवारण' की अवधारणा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि हथियारों का लाभ प्राथमिक रूप से प्रतीकात्मक है। यहां तक कि केनेथ वाल्ट्ज भी नोट करते हैं कि परमाणु हथियारों का कब्जा वास्तव में अधिक सुरक्षा बढ़ाने में कैसे मदद करता है (वाल्ट्ज, 1981)।

हालांकि, निरस्त्रीकरण की आवश्यकता पर भी विचार करना महत्वपूर्ण है। निशस्त्रीकरण, युद्धों से जुड़े तनावों, खतरों और आर्थिक नुकसान को कम करने में मदद करता है। यह मानव और आर्थिक दोनों स्तर संसाधनों के अपव्यय को रोकने में मदद करता है। यह क्षमता और बुनियादी ढांचे के विकास के क्षेत्रों में राज्य के वित्त को शामिल करके राज्य के पूंजी विकास को बढ़ावा देने में मदद कर सकता है। इसके अलावा, यह अंतरराष्ट्रीय शक्ति समीकरणों में अधिक बराबरी का भी प्रतीक है। टोरजेसन ने स्पष्ट कहा है कि युद्ध से शांति अर्थव्यवस्था में बदलाव लाने के लिए निरस्त्रीकरण बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने गुडहैंड की युद्ध अर्थव्यवस्थाओं की टाइपोलॉजी का उपयोग किया- लड़ाकू अर्थव्यवस्था, छाया अर्थव्यवस्था, और मुकाबला करने वाली अर्थव्यवस्था (गुडहैंड, 2004) यह दिखाने के लिए कि कैसे निरस्त्रीकरण एक आपराधिक युद्ध अर्थव्यवस्था से एक आपराधिक शांति अर्थव्यवस्था में संक्रमण को रोकता है। (टोर्जेसन, 2006)

हालांकि, निरस्त्रीकरण की प्रमुख सीमा यह है कि एक संप्रभु राज्य की सुरक्षा को बनाए रखने के साधन के रूप में इसका अनवरत प्रचार किया गया। विशेष रूप से विकासशील देशों की मानव, आर्थिक, पर्यावरण, सांस्कृतिक और सामाजिक संसाधनों से संबधित व्यय को नियंत्रित करना भी इसमें शामिल है। इसके अलावा, निरस्त्रीकरण और हथियार नियंत्रण संधियों पर बातचीत करने का तरीका, जैसे कि एनपीटी, पी-5 राज्यों और कुछ अन्य लोगों के आधार पर, अपने वैश्विक प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए पूर्वाग्रहों और औपनिवेशिक प्रवृत्तियों से भरा हुआ है।

युद्ध के रोकथाम और निवारक के रूप में निरस्त्रीकरण का विचार सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में उभरा। इस अवधि के दौरान, मुख्य ध्यान एकमुश्त निरस्त्रीकरण के बजाय शांति और विवाद निपटान पर था। कॉम्टे डी सेंट-साइमन, क्लाउड हेनरी और ऑगेस्टन थिएरी के कार्यों और ऑस्ट्रिया के प्रिंस कौंट्ज और क्वाड्रुपल गठबंधन की नीतियों में इसके प्रारम्भिक संकेत मिलते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध (1914-19) के बाद राष्ट्र संघ के गठन के साथ निरस्त्रीकरण को बढ़ावा मिला। राष्ट्र संघ की प्राथमिक भूमिका युद्ध की घटना को रोकना और निरस्त्रीकरण को बढ़ावा देना था। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध (1945-49) की ओर ले जाने वाले इसके पतन ने इसके प्रयासों को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। इसके बाद, निरस्त्रीकरण पर प्रमुख ध्यान शीत

युद्ध की अवधि के दौरान आया, जिसने दुनिया को परमाणु युद्ध के कगार पर ला दिया। पूरी दुनिया इस बात पर सहमत थी कि परमाणु युद्ध पूरी दुनिया के लिए विनाशकारी साबित होगा। क्यूबा मिसाइल संकट (1962) के दौरान इस खतरे की आशंका सबसे गंभीर रूप से महसूस की गई थी। परमाणु युद्ध की विभिषिका की संभावना को देखते हुए दोनों महाशक्तियों- अमरीका और सोवियत संघ ने सीमित परीक्षण प्रतिबंध संधि (1963) पर हस्ताक्षर किए गए थे।

कई नए विघटित राज्यों और गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उद्भव के साथ, उन्होंने निरस्त्रीकरण ढांचे के निर्माण और बातचीत में एक प्रमुख भूमिका निभाई। कुछ लोग, भारत की तरह, 1945 में संयुक्त राष्ट्र के संस्थापक सदस्य भी बन गए। तब से निरस्त्रीकरण वार्ता परमाणु अप्रसार संधि (1968) और परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह द्धएनएसजीऋ के गठन के साथ एक लंबा सफर तय कर चुकी है। हाइड्रोजन बम, दोहरे उपयोग वाली प्रौद्योगिकियों, अधिक सक्रिय व मारक मिसाइलों और स्पाइवेयर जैसे नए हथियारों के विकास ने पुन: एक आपातकालीन स्थिति निर्मित कर दी है। साथ ही साथ निरस्त्रीकरण के विस्तार की आवश्यकता को स्पष्ट किया है।

राजनीतिक-दृष्टिकोण से निरस्त्रीकरण का विश्लेषण

विभिन्न अनुशासनों और ज्ञानशाखाओं ने निरस्त्रीकरण के विकास को सीमित और एकआयामी रूप से देखा है। इतिहास इस बात पर केंद्रित है कि विश्व युद्ध और विशेष रूप से शीत युद्ध जैसे हिंसा के विभिन्न उदाहरणों के जवाब में विभिन्न संधियाँ कैसे उभरीं। अर्थशास्त्र अन्य मुद्दों के अलावा सकल घरेलू उत्पाद के नुकसान और काले बाजारों के उद्भव जैसे मुद्दों पर केंद्रित है। अंतरराष्ट्रीय संबंध युद्ध के कारण की जांच करने से शुरू होते हैं, शांति स्थापित करने की आवश्यकता और शक्ति और सुरक्षा के मुद्दों के साथ-साथ विभिन्न साधनों के माध्यम से इसे लाया जा सकता है। हालांकि, कोई भी दृष्टिकोण अकेले इस मुद्दे की पूरी तस्वीर प्रदान करने में सक्षम नहीं है।

दूसरी ओर, राजनीतिक-दृष्टिकोण एक विस्तृत तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए एक उपकरण प्रदान करता है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था के भीतर विभिन्न दृष्टिकोण-व्यापारिक सूची, उदारवादी, संरचनात्मक और नारीवादी दृष्टिकोण हमें बेहतर समझ प्राप्त करने में मदद करते हैं। कार्य-कारण को समझने और विभिन्न मुद्दों के समाधान तक पहुंचने के लिए एक व्यापक छवि होना महत्वपूर्ण है।

मॉर्गेंथो ने तर्क दिया कि शस्त्रीकरण के लिए प्रति-दावा करने के लिए शक्ति बलों के राष्ट्रों का तर्क, और निरस्त्रीकरण केवल शक्ति संतुलन के निपटान पर पहुंचने के बाद संभव है जो सभी प्रतिभागियों को स्वीकार्य है (मॉर्गेंथौ, 1948)। मॉर्गेंथो की थीसिस निरस्त्रीकरण को देखने के लिए व्यापारिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। व्यापारिकता इस आधार पर आधारित है कि धन और शक्ति के बीच एक आंतरिक संबंध मौजूद है। अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से खुद को सुरक्षित करने के लिए राज्य का साधन है। व्यापारिकता जिस शक्ति पर ध्यान केंद्रित करती है वह मुख्य रूप से सैन्य ताकत है।

निरस्त्रीकरण एक ऐसा तंत्र है जिसके माध्यम से राज्य विभिन्न संधियों और समझौतों में प्रवेश करके खुद पर प्रतिबंध लगाते हैं। हालांकि, ये अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य की सापेक्ष शक्ति को सैन्य रूप से और इसलिए प्रतीकात्मक रूप से गहराई से प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह एक शून्य-राशि का खेल बना रहा है जहां पी-5 अपने सैन्य प्रभुत्व को बनाए रखने में सक्षम है, जिससे उन्हें अपने पक्ष में अन्य डोमेन में शक्ति के संतुलन का पता लगाने में सक्षम बनाया जा सके।

यह विचार उदार दृष्टिकोण से निरस्त्रीकरण को देखते हुए, निरस्त्रीकरण पैदा करने की स्थितियों पर ध्यान केंद्रित करता है। एडम स्मिथ ने बताया कि कैसे उदारवाद और अंतरराष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण निरस्त्रीकरण लाने के लिए एक पूर्व शर्त प्रस्तुत करता है। (कूलम्ब, 1998)। यह एक सकारात्मक-योग खेल का प्रतिनिधित्व करने के रूप में अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र की उनकी समझ पर आधारित है। उनका मानना है कि विभिन्न राज्यों के विभिन्न व्यक्तिगत हितों को रचनात्मक रूप से शामिल किया जा सकता है क्योंकि राज्यों का सामान्य हित मुक्त व्यापार की धारणाओं पर आधारित एक शांतिपूर्ण दुनिया होगी। वे यह भी ध्यान देते हैं कि मुक्त व्यापार शांतिपूर्ण परिणाम उत्पन्न करने में कैसे मदद करता है। वास्तव में, 'आधिपत्य स्थिरता के सिद्धांत' के तहत, शांति को 'आपसी बेहतरी' के रूप में देखा जाता है (बालाम और वेसेथ, 2001)।

संरचनावादी दृष्टिकोण हमें निरस्त्रीकरण वार्ता को प्रभावित करने वाली असमानताओं को देखने में मदद करता है। यह हमें यह देखने में मदद करता है कि तीसरी दुनिया के राज्य,

जिन्हें क्रमशः फ्रैंक (1966) और वालरस्टीन (2004) के कार्यों में 'उपग्रह' और 'परिधियां' के रूप में मान्यता प्राप्त है, हमेशा अंतरराष्ट्रीय वार्ता में सौदेबाजी के खोने के अंत में हैं। निरस्त्रीकरण का मामला एक बहुत ही महत्वपूर्ण उदाहरण है। 1968 में हस्ताक्षरित और 1970 में लागू की गई गैर-प्रसार संधि (एनपीटी) एक निरस्त्रीकरण संधि है जो हस्ताक्षरकर्ताओं को परमाणु हथियारों के विकास, परीक्षण या बंदरगाह से प्रतिबंधित करती है। चार गैर-हस्ताक्षरकर्ताओं में से एक भारत का तर्क है कि एनपीटी भेदभावपूर्ण है। यह चुनिंदा रूप से गैर-परमाणु राज्यों पर केंद्रित है। यह तर्क दिया जाता है कि यह केवल एकरेखीय गैर-प्रसार पर केंद्रित है, ऊर्ध्वाधर प्रसार की अनदेखी करता है। यह परमाणु हथियार राज्यों (एनडब्ल्यूएस) के लिए स्वैच्छिक सुरक्षा उपायों का प्रावधान करता है, लेकिन गैर-एनडब्ल्यूएस को अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी द्वारा व्यापक सुरक्षा उपायों के अधीन किया जाता है। भारत ने तर्क दिया है कि यह पांच परमाणु हथियारों की शक्तियों के प्रभुत्व को मान्य करता है।

दूसरी ओर, नारीवादी दृष्टिकोण, निरस्त्रीकरण में महिलाओं की भूमिका और प्रभाव को खोजने में पूरी तरह से अलग मार्ग अपनाता है। इसमें महिलाओं द्वारा वहन किए गए युद्ध के अनुपातहीन परिणाम, निरस्त्रीकरण वार्ता में महिलाओं के प्रतिनिधित्व और विभिन्न महिलाओं के आंदोलनों को देखना शामिल है। ड्वान बताते हैं कि कैसे छोटे हथियारों और हल्के हथियारों के मुद्दों को छोड़कर निरस्त्रीकरण का क्षेत्र काफी हद तक महिलाओं की समस्याओं से अनभिज्ञ रहा है। (डीडब्ल्यूएन, 2019)

निरस्त्रीकरण पर राजनयिक मंच रूढ़िवादी बने हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण अनुसंधान संस्थान (यूएनआईडीआईआर) द्वारा 2019 में किए गए अध्ययनों के अनुसार, निरस्त्रीकरण वार्ता बैठकों में केवल 32 प्रतिशत प्रतिभागी महिलाएं थीं, पहली समिति प्राथमिक समिति थी, जिसका सबसे कम प्रतिनिधित्व था। मानवीय और सांस्कृतिक मुद्दों पर केंद्रित समितियों में महिलाओं का अधिक प्रतिनिधित्व है। (डीडब्ल्यूएन, 2019)।

निष्कर्ष

शोध आलेख का विषय दर्शाता है कि निरस्त्रीकरण एकआयामी न होकर बहुआयामी अवधारणा है, साथ ही साथ राजनीतिक-आर्थिक ताकतों को काटने से इसे स्वरूप मिलता है। वैश्विक व्यापार अपने आप में एक अलग दृष्टिकोण है। वैश्विक व्यापार के नजरिए से स्पष्ट पता चलता है कि पी-5 राज्य अपने सैन्य प्रभुत्व को कैसे संरक्षित करते हैं, उदार दृष्टिकोण इस बात पर ध्यान आकर्षित करता है कि मुक्त व्यापार और सकारात्मक-राशि की गतिशीलता शांतिपूर्ण परिणामों को कैसे बढ़ावा दे सकती है। संरचनावादी विश्लेषण निरस्त्रीकरण शासन के पूर्वाग्रह को उजागर करता है, जबकि नारीवादी परिप्रेक्ष्य महिलाओं की आवाज को शांति और निरस्त्रीकरण वार्ता में लाने की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है।

समकालीन चुनौतियां अब इन ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को मिश्रित करती हैं। साइबर सक्षम हथियार, कृत्रिम बुद्धिमत्ता संचालित कमांड सिस्टम, और हाइपरसोनिक मिसाइलें मौजूदा सत्यापन व्यवस्थाओं को नष्ट कर देती हैं और तेजी से वृद्धि का जोखिम उठाती हैं। गतिरोध से परे जाने के लिए, निष्कर्ष में तीन परस्पर जुड़ी कार्रवाइयों को शामिल किया गया है : (1) पारदर्शी, बहुपक्षीय वित्तपोषण के माध्यम से शक्ति संरचनाओं को फिर से संतुलित करना जो पी-5 एकाधिकार को कमजोर करता है; (2) सभी निरस्त्रीकरण प्रक्रियाओं के एक मानक स्तंभ के रूप में लिंग समानता को संस्थागत बनाना; और (3) उभरती प्रौद्योगिकियों को नए सत्यापन और विश्वास निर्माण उपायों में एकीकृत करना। केवल नए हथियारों के दूरंदेशी शासन के साथ इन राजनीतिक अर्थव्यवस्था अंतर्दृष्टि को अपनाकर ही अंतर्राष्ट्रीय समुदाय निरस्त्रीकरण को प्रतीकात्मक आकांक्षा से एक टिकाऊ शांति अर्थव्यवस्था की ओर एक व्यावहारिक मार्ग में बदल सकता है।

हथियार विज्ञान के नए और अधिक उन्नत रूपों का उद्भव, निवारक अनुशासन के विस्तार की आवश्यकता के संबंध में आगाह करता है। इस विस्तार को बहुआयामी-भौगोलिक रूप से, आर्थिक रूप से और महिलाओं के प्रति संवेदनशील होने की आवश्यकता है। वर्तमान निरस्त्रीकरण अपने इच्छित लक्ष्यों तक पहुंचने में असमर्थ होता हुआ जब दिखाई देता है तब, वर्तमान ढांचे को ठीक करना अनिवार्य प्रतीत होता है। यह केवल समस्या की पूर्ण छवि और बहुआयामिता को संपूर्णता में देखकर ही किया जा सकता है। राजनीतिक-आर्थिक दृष्टिकोण का ढांचा हमें इस तरह के विश्लेषण में संलग्न होने में सक्षम बनाता है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि इस सबके बावजूद समस्या पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होगी। वैश्विक

समुदाय को सामूहिक रूप से इस चुनौती का सामना करने के लिए एक साथ आना चाहिए। निरस्त्रीकरण के आसपास की चर्चाओं में अधिक समावेशी प्रतिभागी आधार के लिए सार्वजनिक कूटनीति आवश्यक है क्योंकि यह एक ऐसा मुद्दा जो आम आदमी के जीवन को गहराई से प्रभावित करता है।

पीएच.डी. शोधार्थी
राजनीतिक अध्ययन केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

सहायक ग्रंथ सूची

1. Balaam, D. N., & Veseth, M. (2001). *Introduction to international political economy*. Pearson.
2. Bhargava, M. K. (1979). *Disarmament, from Versailles to test ban treaty*. National Publishing House.
3. Bull, H. (1961). *The control of the arms race: Disarmament and arms control in the missile age*. Frederick A. Praeger, Publishers.
4. Carlton, D. (2017). International Systemic Features Inhibiting Disarmament and Arms Control. In Arms Control and Disarmament: 50 Years of Experience in Nuclear Education (pp. 153–160). Springer. https://springer.duelibrary.in/book/10.1007/978-3-319-62259-0
5. Coulomb, F. (1998). Adam smith: A defHouse.ence economist. Defence and Peace Economics, 9(3), 299–316. https://doi.org/10.1080/10430719808404905
6. Frank, A. G. (1966). *The underdevelopment of development*. Bethany House Publishers.
7. Galtung, J. (1967). Two approaches to disarmament/ : The legalist and the structuralist. Journal of Peace Research, 4(2), 161–194. https://doi.org/10.1177/002234336700400205
8. Jonathan Goodhand. (2004). From War Economy to Peace Economy? Reconstruction and State Building in Afghanistan. *Journal of International Affairs*, *58*(1), 155–174.
9. Morgenthau, H. J. (1948). *Politics among nations: The struggle for power and peace*. Np.
10. Torjesen, S. (2006). The Political Economy of Disarmament, Demobilisation and Reintegration (DDR): Selective Literature Review and Preliminary Agenda for Research. Paper No. 709. Oslo: Norwegian Institute of International Affairs.
11. Wallerstein, I. M. (2004). *World-systems analysis: An introduction*. Duke University Press.
12. Waltz, K. N. (1981). The spread of nuclear weapons: More may be better: Introduction. *The Adelphi Papers*, *21*(171), 1–1. https://doi.org/10.1080/05679328108457394

रतन कुमार दास

धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था पर आचार्य रामशरण शर्मा की दृष्टि का विश्लेषण

सार-संक्षेप

आचार्य रामशरण शर्मा भारत के सबसे प्रभावशाली समाज-ऐतिहासिक चिंतकों में से एक रहे। उन्होंने प्राचीन और आरम्भिक मध्यकालीन भारतीय समाज का नया, सोची-समझी और सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य से पुनर्लेखन किया। उनके लेखन का मुख्य उद्देश्य पारंपरिक, वंशवादी कथाओं को तोड़कर समाज को उत्पादन सम्बंधी ढाँचे (economic structures), वर्ग-संबंधों और संस्थागत रूपों के संदर्भ में समझना रहा। धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था पर उनकी अंतर्दृष्टियाँ न केवल इतिहासकारों के लिए बल्कि समाज-शास्त्रियों, राजनीतिक विचारकों और सामाजिक न्याय के इच्छुक लोगों के लिए भी महत्व रखती हैं। आचार्य रामशरण शर्मा ने धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था को धार्मिक आस्था के बजाय सामाजिक-आर्थिक संरचना से जोड़ा। उनका तर्क था कि प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था धीरे-धीरे कठोर हुई और इसका उद्देश्य उत्पादन संबंधों व संसाधनों पर नियंत्रण बनाए रखना था। आचार्य रामशरण शर्मा के अनुसार जाति-विरोधी सुधारों को केवल नैतिक नहीं, बल्कि आर्थिक व राजनीतिक ढाँचों में बदलाव के साथ जोड़ना होगा।आचार्य शर्मा ने यह सिद्ध किया कि धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था ऐतिहासिक और परिवर्तनशील सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ हैं, न कि शाश्वत धार्मिक व्यवस्था। आचार्य रामशरण शर्मा का इतिहासलेखन एक प्रकार के ऐतिहासिक-भौतिकवादी (historical-materialist) संदर्भ से प्रभावित रहा अर्थात् वे सामाजिक संस्थाओं (जैसे धर्म व वर्ण) को केवल आइडियोलॉजी के रूप में नहीं, बल्कि उत्पादन-प्रणालियों, संपत्ति-संबंधों और वर्ग-रूपांतरणों के परिणाम के रूप में देखते हैं। उनका मानना था कि वर्ण-जाति व्यवस्था का उद्भव और उसका विरूपित स्वरूप अर्थ-आधारित और सामाजिक संरचनाओं भूमि, श्रम और उत्पादन संबंधों के बदलने से जुड़ा था। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था सामाजिक प्रक्रिया है। यह विचारधारा कार्ल मार्क्स और एंगेल्स से विकसित हुई। इसका मूल सिद्धांत है कि इतिहास का निर्माण विचारों या धार्मिक मान्यताओं से नहीं, बल्कि भौतिक जीवन की स्थितियों (यानी उत्पादन, संसाधनों का वितरण और आर्थिक ढाँचा) से होता है। समाज की संरचना (जैसे धर्म, जाति, राजनीति, संस्कृति) को ''ऊपरी ढाँचा'' (superstructure) कहा जाता है, और यह आधारभूत आर्थिक ढाँचे (infrastructure/base) पर निर्भर रहता है।

बीज शब्द- आधुनिक, मध्यकालीन, राजनीतिक, धर्म, जाति, वर्ण व्यवस्था।

आचार्य रामशरण शर्मा ने प्राचीन भारत का अध्ययन करते समय जाति, वर्ण और धर्म को सिर्फ धार्मिक नियमों के रूप में नहीं लिया। वे मानते थे कि जब उत्पादन के तरीके बदलते हैं (जैसे पशुपालन से कृषि, कृषि से शहरीकरण, या भूमि-स्वामित्व में परिवर्तन) तब समाज की संस्थाएँ भी बदलती हैं।

उदाहरण : वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली थी, क्योंकि अर्थव्यवस्था सरल थी। जब कृषि व भूमि-स्वामित्व स्थिर हुआ, तब ब्राह्मणों ने धार्मिक वैधता के जरिये सामाजिक वर्चस्व स्थापित किया।

यानी जाति/वर्ण व्यवस्था आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण का एक साधन बन गई। धर्म को उन्होंने केवल आस्था नहीं माना, बल्कि एक सामाजिक नियंत्रण का औजार माना, जो

ऊँचे वर्गों के हितों की रक्षा करता था। जाति और वर्ण को उन्होंने उत्पादन संबंधों से जोड़ा शूद्र–श्रमिक वर्ग, वैश्य–उत्पादक/व्यापारी वर्ग, क्षत्रिय–राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधि, ब्राह्मण–वैचारिक/धार्मिक वर्चस्व वाला वर्ग। यह दृष्टिकोण हमें यह समझने में मदद करता है कि जाति/वर्ण कोई शाश्वत धार्मिक नियम नहीं, बल्कि समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलने वाली संस्था है। इससे जाति–विरोधी आंदोलनों को भी आधार मिलता है कि अगर यह ऐतिहासिक रूप से बनी है तो इसे बदला भी जा सकता है। ''आचार्य शर्मा का ऐतिहासिक–भौतिकवादी दृष्टिकोण यह कहता है कि धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था विचारों से नहीं, बल्कि बदलते आर्थिक और सामाजिक ढाँचों से बनी और विकसित हुई।"[1]

आचार्य रामशरण शर्मा ने शूद्रों के इतिहास को ऐतिहासिक भौतिकवाद और सामाजिक संरचना की दृष्टि से समझने का प्रयास किया। उनके अनुसार शूद्रों का इतिहास केवल धार्मिक या वर्ण–शास्त्रीय नहीं है, बल्कि यह सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। उन्होंने श्रम, स्थिति और अधिकारों की परतों को विश्लेषित करते हुए यह दिखाया कि शूद्रों की स्थिति समय और समाज की उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ बदलती रही। संक्षेप में मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं–

1. श्रम और उत्पादन में भूमिका– वैदिक समाज में शूद्रों को मुख्य रूप से श्रम करने वाले वर्ग के रूप में देखा गया। कृषि, पशुपालन, शिल्प और सेवा–कर्म इन कार्यों में उनकी भागीदारी थी।

श्रम ही उनकी पहचान बन गया, जबकि ब्राह्मणों की पहचान ज्ञान से और क्षत्रियों की पहचान शक्ति से हुई।

2. सामाजिक स्थिति– मनुस्मृति और धर्मशास्त्रों में शूद्रों को 'सेवक' या 'दास' के रूप में दर्शाया गया। उन्हें यज्ञ करने, वेद पढ़ने या धार्मिक अधिकारों से वंचित किया गया। विवाह और सामाजिक मेलजोल पर कड़ी सीमाएँ थीं। परंतु आर्थिक जरूरतों के कारण शूद्रों को कृषि और शिल्प में स्थान मिलता रहा, जिससे वे समाज की उत्पादन प्रक्रिया के लिए अपरिहार्य बने रहे।

3. अधिकारों की परतें– अधिकारों का प्रश्न वर्ग–विभाजन से जुड़ा था। प्रारंभिक काल में शूद्रों को कुछ हद तक भूमि–स्वामी या सैनिक कार्यों में भी देखा जाता है। लेकिन धीरे–धीरे ब्राह्मणवाद ने उनकी सामाजिक–धार्मिक उन्नति पर रोक लगा दी। फिर भी, गुप्त काल और उसके बाद कुछ राजाओं (जैसे सातवाहन, शूद्रक आदि) ने शूद्रों को सत्ता–संरचना में शामिल किया। बौद्ध और जैन परंपराओं ने शूद्रों को अपेक्षाकृत अधिक समानता और सम्मान दिया।

4. दास–समाज और शूद्र– आचार्य रामशरण शर्मा ने यह दिखाया कि शूद्रों की स्थिति एक प्रकार से दास समाज जैसी थी यानी वे शारीरिक श्रम करते थे, पर सामाजिक और राजनीतिक शक्ति से वंचित रहे। भूमि और उत्पादन से जुड़ाव के बावजूद उन्हें स्वतंत्रता नहीं थी।

5. दीर्घकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य– प्राचीन काल से मध्यकाल और फिर आधुनिक काल तक शूद्रों की स्थिति में निरंतर बदलाव हुए। भक्ति आंदोलन और लोक परंपराओं ने उनके लिए सम्मानजनक स्थान की संभावनाएँ खोलीं। आधुनिक काल में जाति–विरोधी आंदोलनों और सामाजिक सुधारों ने शूद्रों की ऐतिहासिक भूमिका को पुनः परिभाषित किया। आचार्य रामशरण शर्मा के अनुसार, ''शूद्रों का इतिहास दरअसल भारतीय समाज की उत्पादन शक्तियों और वर्ग–संबंधों का इतिहास है।"[2] शूद्रों की श्रमशीलता ने उन्हें समाज का आधार स्तंभ बनाया, लेकिन सामाजिक–धार्मिक ढाँचे ने उन्हें अधिकारों से वंचित रखा। इसलिए शूद्र–इतिहास को समझना भारत की सामाजिक असमानता और वर्ग–संघर्ष को समझने की कुंजी है। आचार्य शर्मा की पुस्तक शूद्रों का प्राचीन इतिहास इस विषय पर उनके लगातार शोध का सार है। इस ग्रंथ में वे यह दिखाते हैं कि 'शूद्र' नामक श्रेणी को केवल अपमानजनक या दास–श्रेणी के रूप में नहीं समझा जा सकता; यह श्रेणी ऐतिहासिक स्थितियों आर्थिक आवश्यकताओं, कृषिकरण, शहरीकरण, और सामाजिक विभाजन के आधार पर बनी और विकसित हुई। वे शूद्रों की आर्थिक भूमिका (श्रमजीवी वर्ग), उनके सामाजिक–संबंध और उनके साथ उच्चवर्गों के द्वैध सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन करते हैं। शर्मा इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि कई क्षेत्रों में शूद्रों की स्थिति स्थानीय शिविरों, उत्पादन संबंधों और सत्ता–संरचनाओं के अनुसार भिन्न रही यानी समूचे देश में एकरूपता नहीं थी।

आचार्य रामशरण शर्मा ने भारतीय समाज, विशेषकर वर्ण–व्यवस्था और शूद्रों की स्थिति को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने का प्रयास किया है। उनके अध्ययन में शिल्प–शिक्षा, गुरु–शिष्य परंपरा और ब्राह्मणवाद से जुड़े प्रश्न विशेष महत्त्व रखते हैं। संक्षेप में मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं–

1. शिल्प–शिक्षा और उसका सामाजिक स्वरूप–

प्राचीन भारत में शिल्प, कला और तकनीकी शिक्षा का बड़ा हिस्सा अनौपचारिक और पारिवारिक परंपरा के माध्यम से संचरित होता था। लोहार, बढ़ई, कुम्हार, बुनकर आदि जातियों में शिल्प-ज्ञान वंशानुगत रूप से चलता था। इसे ष्जातिगत पेशागत शिक्षाष कहा जा सकता है। वैदिक और ब्राह्मणवादी परंपरा में शिल्पकर्म को 'शूद्र' अथवा निम्नवर्गीय लोगों से जोड़ा गया। फलतः शिल्प-शिक्षा को औपचारिक उच्च शिक्षा से अलग रखा गया।

2. गुरु-शिष्य परंपरा- प्रारंभिक वैदिक काल में शिक्षा अपेक्षाकृत खुली थी, लेकिन उत्तर वैदिक और बाद के ब्राह्मणवादी काल में गुरुकुल की परंपरा जाति-आधारित हो गई। आचार्य रामशरण शर्मा का मत है कि गुरु-शिष्य परंपरा ने केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए दरवाजे खोले, जबकि शूद्र और स्त्रियों को व्यवस्थित रूप से इससे वंचित किया गया। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में शूद्र को वेदाध्ययन और ब्राह्मण-शिक्षा से वर्जित किया गया। इससे शिक्षा का लोकतांत्रिक आधार खंडित हुआ और ज्ञान-संसाधनों पर ब्राह्मणवादी वर्चस्व कायम हुआ।

3. ब्राह्मणवाद का प्रश्न- ब्राह्मणवाद ने शिक्षा और ज्ञान को सामाजिक नियंत्रण का साधन बना दिया। शूद्रों और शिल्पकारों को केवल शारीरिक श्रम और तकनीकी कार्यों तक सीमित किया गया, ताकि उच्च ज्ञान (वेद, शास्त्र, दर्शन) पर द्विजों का आधिपत्य बना रहे। इस प्रकार शिल्प और तकनीकी शिक्षा को हीन ठहराकर समाज में एक मानसिक श्रम बनाम शारीरिक श्रम का विभाजन पैदा किया गया। आचार्य शर्मा इस व्यवस्था को शासक वर्ग और ब्राह्मणों के बीच की वर्गीय सांठगांठ का परिणाम मानते हैं।

4. ऐतिहासिक महत्व- शिल्प-शिक्षा और गुरु-शिष्य परंपरा के प्रश्न को आचार्य शर्मा ने आर्थिक-सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह विभाजन केवल धार्मिक नहीं, बल्कि उत्पादन संबंधों और वर्गीय हितों से जुड़ा था। यही कारण है कि भारतीय समाज में वैज्ञानिक और तकनीकी नवाचार धीमी गति से हुए, क्योंकि शूद्रों को ज्ञान से काटकर रखा गया। आचार्य रामशरण शर्मा मानते हैं कि शिल्प-शिक्षा और गुरु-शिष्य परंपरा पर ब्राह्मणवाद का नियंत्रण भारत के सामाजिक इतिहास की एक केंद्रीय समस्या थी। इसने समाज को जातिगत आधार पर विभाजित किया और ज्ञान व शिक्षा को लोकतांत्रिक न होकर विशिष्ट वर्गों तक सीमित कर दिया।

''आचार्य रामशरण शर्मा ने धर्म को सिर्फ आस्थाओं का समूह नहीं माना; उनके लिए धर्म एक सामाजिक-आर्थिक संरचना का अंग था जो वर्ग-हितों को वैधानिकता और नैतिक आधार देता था।"[3] वर्ण-जाति व्यवस्था में धार्मिक वैचारिकता (जैसे धर्मसूत्र, स्मृति ग्रंथों की व्याख्या) ने सामाजिक विभाजन को सुदृढ़ किया कई बार उन आर्थिक और राजनीतिक हितों के संरक्षण हेतु जो उच्चवर्णीय वर्गों के पक्ष में थे। इस दृष्टि से धर्म ने सामाजिक नियंत्रण के उपकरण का काम किया काम विभाजन, सामाजिक प्रतिष्ठा और संसाधन-स्वामित्व के पक्ष में। शर्मा ने इसलिए धार्मिक पाठों को सामाजिक-आर्थिक प्रासंगिकता में पढ़ने की वकालत की।

रामशरण शर्मा ने भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए वर्ण और जाति की अवधारणाओं का ऐतिहासिक और भौतिकवादी (materialist) विश्लेषण किया है। उनके अनुसार दोनों एक ही नहीं हैं, बल्कि भिन्न होते हुए भी समय के साथ परस्परावलम्बी (interdependent) रूप से विकसित हुए।

वर्ण व्यवस्था का उल्लेख वैदिक साहित्य (ऋग्वेद, पुराण, स्मृतियाँ) में मिलता है। चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्णन कर्म और कर्तव्यों के आधार पर किया गया। यह एक वैचारिक/आदर्श व्यवस्था थी, जिसे पुरोहित वर्ग (ब्राह्मण) ने धार्मिक व नैतिक विधान के रूप में गढ़ा। वर्ण सैद्धांतिक था, समाज की वास्तविक विविधता और गतिशीलता को नहीं दर्शाता था। जाति की जड़ें उत्तर वैदिक और विशेषकर उत्तर गुप्तोत्तर कालीन समाज में गहरी हुईं। जाति जन्म पर आधारित, स्थानीय, क्षेत्रीय और व्यवसायगत समूहों में बँटी हुई थी। जाति एक व्यावहारिक-सामाजिक संस्था थी, जिसमें विवाह, खानपान, श्रम-विभाजन और सामाजिक बहिष्कार की कठोर सीमाएँ थीं। जातियाँ हजारों की संख्या में थीं, जबकि वर्ण केवल चार थे। आचार्य शर्मा बताते हैं कि वर्ण और जाति समानार्थी नहीं हैं, लेकिन वे परस्परावलम्बी रूप से जुड़े रहे। वर्ण ने आदर्श वैचारिक ढाँचा दिया, जबकि जाति ने व्यावहारिक रूप ग्रहण किया। जाति को वर्ण का स्थानीय रूपांतरण माना जा सकता है, लेकिन जातियों की संख्या और जटिलता ने वर्ण-सिद्धांत को विफल कर दिया। उदाहरण : किसी क्षेत्र में शूद्र वर्ण से जुड़ी कई जातियाँ थीं जैसे कृषक, कुम्हार, लोहार, नाई इत्यादि। शर्मा के अनुसार जाति-वर्ण का

विकास आर्थिक व उत्पादन संबंधों से जुड़ा था। शिल्पकार, कृषक और श्रमजीवी वर्ग को शूद्र और निचली जातियों में रखा गया ताकि उनके श्रम पर ऊपरी वर्ग का नियंत्रण बना रहे। जाति व्यवस्था ने श्रम के शोषण को धार्मिक वैधता दी और उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थायी बना दिया। आचार्य रामशरण शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ण और जाति दोनों का भेद और उनका पारस्परिक संबंध जानना आवश्यक है। वर्ण बिना जाति के केवल कल्पना है, और जाति बिना वर्ण के अपनी वैधता खो देती है।

''शर्मा के काम में एक अहम् भेद यह है कि वे 'वर्ण' और 'जाति' को समान नहीं मानते। 'वर्ण' वैदिक सामाजिक-रचना का प्रतिबिंब है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो धार्मिक-आधारित श्रेणीकरण का रूप हैं; जबकि 'जाति' अधिक लचीला, स्थानीय और उत्पत्ति-आधारित सामाजिक संगठन है, जो जन्म, व्यवसाय, भौगोलिक विविधता और स्थानीय इतिहास से निर्मित होता है।"[4] शर्मा का तर्क है कि नरेंद्र काल में 'जाति' ने अधिक ठोस सामाजिक पहचान बनाई और यह कई बार वर्ण के औपचारिक वर्गीकरण से अलग व्यवहार करती रही कुछ समुदायों ने व्यावहारिक कारणों से ब्राह्मणत्व या अन्य उच्च स्थिति का दावा किया, तो कुछ समुदायों की श्रेणीकरण स्थानीय आर्थिक-नैतिक कारणों से अलग रही। इस भेद-भाव के कारण समाज के विविध हिस्सों में अलग-अलग समय पर अलग-अलग सामाजिक गतिशीलताएँ देखने को मिलती हैं।

यूरोपीय इतिहास लेखन में यह बहस रही है कि क्या भारत ग्रीस और रोम की तरह ''दास-प्रधान समाज'' (Slave Society) था। ग्रीस-रोम में उत्पादन का मुख्य आधार बड़े पैमाने पर दासों का श्रम था, जिन्हें खरीदा-बेचा जाता था। शर्मा ने कहा कि भारत में दासता मौजूद तो थी दास, दासी, दास्य जैसे शब्द वेदों, उपनिषदों और धर्मशास्त्रों में मिलते हैं। लेकिन यह दासता सीमित और परिधीय थी। उत्पादन का मूल आधार दास नहीं, बल्कि परिवार और जाति-आधारित श्रम था। इसलिए प्राचीन भारत को क्लासिकल दास-समाज नहीं कहा जा सकता। शूद्रों का उल्लेख वैदिक और उत्तरवैदिक ग्रंथों में चौथे वर्ण के रूप में मिलता है। धर्मशास्त्र उन्हें ''सेवा करने वाला वर्ग'' मानते हैं, विशेषकर ऊँचे वर्णों की सेवा हेतु। लेकिन शर्मा ने यह दिखाया कि उनकी भूमिका केवल ''धार्मिक सेवा'' तक सीमित नहीं थी, बल्कि कृषि और सिंचाई, हस्तशिल्प व धातुकर्म, निर्माण कार्य, पशुपालन, परिवहन व सेवा इन सब क्षेत्रों में उनका श्रम अनिवार्य था। यानी शूद्र भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ थे। दास को खरीदा-बेचा जा सकता था, उसकी स्वतंत्र पहचान नहीं होती थी लेकिन शूद्र जाति व्यवस्था में बँधा हुआ, वंशानुगत श्रम करने के लिए बाध्य, पर समाज का स्थायी सदस्य होता था। ''आचार्य रामशरण शर्मा ने यह भी सोचा कि क्या प्राचीन भारत एक 'दास-समाज' (slave society) था?''[5] उनके विस्तृत शोध से यह निष्कर्ष आता है कि प्राचीन भारत में दास-बन्दे (slavery) के कुछ रूप रहे, परन्तु वे रूढ़िवादी अर्थों में पश्चिमी ऐतिहासिक उदाहरणों जैसे रोमन दास-समाज की तरह पूर्णतः व्याप्त और निर्मित नहीं थे। शर्मा ने स्थानिक विकल्पों, कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था और परम्परागत बाध्यों के कारण दास-प्रथा के स्वरूप और प्रभाव पर विषद वर्णन किया यानी कुछ इलाकों/कालों में दासत्व का होना और कुछ में उसकी अनुपस्थिति। यह विश्लेषण वर्ण-श्रेणियों के आर्थिक पक्ष को समझने में मदद करता है।

आचार्य रामशरण शर्मा का मानना था कि भारतीय समाज की संरचना केवल धार्मिक-दार्शनिक विचारों से नहीं बनी, बल्कि उत्पादन और श्रम की परंपराओं से गहराई से जुड़ी थी।

प्राचीन भारत में शिल्प (हस्तकला, धातुकर्म, स्थापत्य, बुनाई, मूर्तिकला आदि) का आर्थिक व सांस्कृतिक महत्व बहुत बड़ा था। शिल्प की शिक्षा मुख्यतः अनुभव-आधारित और व्यावहारिक प्रशिक्षण पर आधारित थी। कारीगर अपने शिष्य को कार्यशाला (workshop) में रखकर ''करते हुए सिखाते'' थे। इस प्रकार शिल्प-शिक्षा उत्पादन और आजीविका से सीधे जुड़ी थी, न कि केवल धार्मिक ज्ञान से।

भारत में शिक्षा की परंपरा गुरु-शिष्य संबंध पर आधारित थी। ब्राह्मणवादी परंपरा में शिक्षा पर एकाधिकार ब्राह्मणों का था—वेद, दर्शन और धर्मशास्त्र की शिक्षा वे नियंत्रित करते थे। लेकिन शिल्प और तकनीकी कार्यों की शिक्षा ब्राह्मणवादी आश्रमों या गुरुकुलों से बाहर, कारीगरों और जाति-आधारित समुदायों में चलती थी। यानी दोहरी व्यवस्था थी : 1. ब्राह्मणिक शिक्षा (शास्त्र, वेद, अनुष्ठान)। 2. लोक-आधारित शिक्षा (शिल्प, कृषि, धातुकर्म, व्यापार)। आचार्य शर्मा का मत था कि ब्राह्मणवाद ने शिल्प और श्रम को 'नीच' मानकर उसका अवमूल्यन किया। धर्मशास्त्र और स्मृतियों में कहा गया कि शूद्र और कारीगर केवल ''सेवा'' और ''कर्म'' के लिए बने

हैं। शिल्प को पूजा और ज्ञान से कमतर माना गया। इस कारण तकनीकी नवाचार रुक गए। उत्पादन की गति धीमी हुई। कारीगर जातियों को सामाजिक दर्जा नहीं मिल सका।अर्थात ब्राह्मणवादी शिक्षा = वेद, संस्कृत, दर्शन → ऊँचे वर्णों तक सीमित। शिल्प शिक्षा = कारीगर जातियों में वंशानुगत रूप से चलती रही।

इससे शिक्षा का लोकतंत्रीकरण नहीं हुआ, बल्कि ज्ञान का जातिगत विभाजन बन गया। शर्मा का कहना था कि यही कारण है कि भारत में साइंस और टेक्नोलॉजी का विकास यूरोप जैसी गति से नहीं हो पाया।

आचार्य शर्मा ने कहा कि यदि शिल्प और तकनीकी शिक्षा को सम्मानजनक स्थान मिलता, तो भारत की सामाजिक-आर्थिक उन्नति और तेज हो सकती थी। लेकिन ब्राह्मणवाद ने ''श्रम'' को नीच मानकर केवल ''शास्त्र'' को ऊँचा दर्जा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान और शिक्षा जाति-आधारित हो गई। शूद्र और कारीगर वर्ग आर्थिक रूप से उपयोगी होते हुए भी सामाजिक रूप से हीन बना दिए गए। गुरु-शिष्य परंपरा का स्वरूप भी ब्राह्मणिक नियंत्रण में सीमित रहा। आचार्य रामशरण शर्मा का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि शिल्प-शिक्षा भारतीय समाज का व्यावहारिक आधार थी। ब्राह्मणवादी शिक्षा ने इसे नीचा दिखाकर जाति-आधारित असमानता को बढ़ावा दिया। गुरु-शिष्य परंपरा दोहरी थी— एक ब्राह्मणवादी (धार्मिक-दार्शनिक) और दूसरी शिल्पकारी (व्यावहारिक)। इसका परिणाम था सामाजिक स्थिरता, आर्थिक अवरोध और जातिगत शोषण।

आचार्य रामशरण शर्मा की इतिहास दृष्टि का एक मूल बिंदु है। वे मानते थे कि भारतीय इतिहास को समझने के लिए केवल राजाओं और धर्मग्रंथों को नहीं देखना चाहिए, बल्कि सामाजिक आंदोलनों और वर्ग-संघर्षों को समझना होगा। यही असली बदलाव के स्रोत हैं। ''आचार्य शर्मा का दृष्टिकोण ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित था। समाज का विकास उत्पादन संबंधों (relations of production) और वर्गों के बीच टकराव से होता है।''[6] इसलिए इतिहास की गतिशीलता का मूल स्रोत वर्ग-संघर्ष और सामाजिक-आंदोलन हैं। प्राचीन भारत में सामाजिक-आंदोलन केवल धार्मिक नहीं था, बल्कि श्रमिकों, व्यापारियों और नगर-आधारित वर्गों की आकांक्षाओं को व्यक्त करता था। मध्यकाल में भक्ति संतों (कबीर, रैदास, चैतन्य, नामदेव) ने जाति और वर्ण के बंधनों को तोड़ने की कोशिश की। उन्होंने समानता, भक्तिभाव और सामाजिक भाईचारे पर बल दिया। यह आंदोलन निम्न जातियों और शहरी कारीगरों की प्रतिक्रिया था। वर्ग-संघर्ष कई बार विद्रोहों और प्रतिक्रियाओं के रूप में सामने आया। उदाहरण : शूद्रों और दासों की असंतोषजनक स्थिति ने जाति-व्यवस्था को चुनौती दी। जनपदों का उदय (महाजनपद काल) शोषणकारी जनजातीय ढाँचों के खिलाफ किसान वर्ग की प्रतिक्रिया थी। सामंती युग में कृषक विद्रोह और जनआंदोलन, जिन्हें स्मृतियों और राजकीय अभिलेखों में दबाया गया, पर वे बदलाव की ताकत बने।

आचार्य शर्मा के अनुसार भारतीय समाज में बदलाव लाने वाले मुख्य स्रोत थे :

1. उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन—लोहे के प्रयोग से कृषि-विस्तार, नगरों का विकास।

2. सामाजिक आंदोलन—बौद्ध-जैन, भक्ति, किसान-विद्रोह।

3. वर्ग-प्रतिक्रिया—शूद्रों, कृषकों, कारीगरों और व्यापारियों की मांगें।

4. राज्य और धर्म पर दबाव—जब वर्ग-आधारित आंदोलन तेज होते थे, तो राज्य और ब्राह्मणवाद को अपनी नीतियों में ढील देनी पड़ती थी।

भारतीय समाज स्थिर और जड़ नहीं था, बल्कि उसमें निरंतर संघर्ष और आंदोलन चलते रहे। परिवर्तन के मुख्य कारक थे निम्न वर्गों की प्रतिक्रिया और आर्थिक उत्पादन में बदलाव। आचार्य शर्मा ने दिखाया कि शोषित वर्गों की आवाज, भले ही ग्रंथों में दबा दी गई हो, इतिहास की वास्तविक धारा में वही परिवर्तन का प्रेरक स्रोत थी। आचार्य रामशरण शर्मा ने यह स्थापित किया कि भारतीय इतिहास को समझने के लिए केवल ब्राह्मणिक ग्रंथ या राजवंशीय वृत्तांत पर्याप्त नहीं हैं। असली बदलाव सामाजिक आंदोलनों और वर्ग-प्रतिक्रियाओं से आता है। चाहे बौद्ध आंदोलन हो या भक्ति परंपरा, किसान विद्रोह हों या शूद्रों का संघर्ष—यही भारत में सामाजिक परिवर्तन और ऐतिहासिक विकास के मूल स्रोत हैं। आचार्य रामशरण शर्मा यह भी बताते हैं कि प्राचीन समाज में प्रतिरोध, विद्रोह और सामाजिक बदलाव कहाँ से आते थे ज्यादातर वे आर्थिक और वर्ग-हितों से जुड़े रहे। जब उत्पादन के तरीके बदले, भूमि-स्वामित्व या कराधान के तरीके बदले, तब ही वर्ग-संबंधों में तनाव उत्पन्न हुआ और कभी-कभी सामाजिक नियमों (जैसे वर्ण-नियम) का उल्लंघन या उनका पुनर्निर्माण हुआ।

इसलिए वर्ण-नियमन को केवल धार्मिक औपचारिकता न मानकर, उसे सामाजिक-आर्थिक संघर्ष का नतीजा समझना जरूरी है। यह दृष्टिकोण हमें यह समझने में मदद करता है कि जाति/वर्ण व्यवस्था स्थिर नहीं, बल्कि समय के साथ बदलने वाली संरचना है। आचार्य रामशरण शर्मा जिन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय समाज के सामाजिक ढांचे, विशेषकर वर्ण और जाति व्यवस्था पर गहन अध्ययन किया। उनकी विशेषता यह थी कि वे सामाजिक आर्थिक आधार और शक्ति-संरचना की दृष्टि से धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करते थे। उन्होंने यह दर्शाया कि धर्म केवल आध्यात्मिक या नैतिक निर्देश नहीं है, बल्कि समाज में शक्ति और नियंत्रण स्थापित करने का माध्यम भी है। ''उनके अनुसार, जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता सीमित हो गई, जबकि प्रारंभिक वर्ण व्यवस्था में कुछ हद तक लचीलेपन की गुंजाइश थी।"[7] उन्होंने शूद्रों और दास-समाज पर ध्यान केंद्रित किया। उनका विश्लेषण दिखाता है कि शूद्र और अन्य पिछड़े वर्ग अर्थव्यवस्था और उत्पादन प्रणाली का आधार थे। धार्मिक ग्रंथ और सामाजिक रीति-रिवाज अक्सर आर्थिक शक्ति को संरक्षित करने और श्रम वर्ग को नियंत्रित करने के साधन बने। शर्मा ने शिल्प और कौशल के प्रशिक्षण में ब्राह्मणवाद के प्रभाव को देखा। गुरु-शिष्य परंपरा में ज्ञान का वितरण अक्सर सामाजिक वर्चस्व बनाए रखने का तरीका था।

आचार्य रामशरण शर्मा की दृष्टि गहन और ऐतिहासिक आधार पर सटीक है, लेकिन कुछ आलोचनात्मक बिंदु हैं। आचार्य शर्मा ने सामाजिक और धार्मिक संरचनाओं का विश्लेषण मुख्यत: आर्थिक और श्रम-संबंधी आधार से किया। आलोचक कहते हैं कि इससे सांस्कृतिक, मानसिक और धार्मिक आयामों की भूमिका कम आंकी गई। उन्होंने व्यापक सामाजिक संरचनाओं पर जोर दिया, लेकिन कुछ आलोचक मानते हैं कि स्थानीय विविधताओं और क्षेत्रीय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का पर्याप्त ध्यान नहीं रखा गया। ''आचार्य शर्मा ने वर्ण और जाति के परिवर्तनशील स्वरूप पर प्रकाश डाला, लेकिन सांस्कृतिक परिवर्तन, राजनीतिक शक्ति संघर्ष और महिलाओं की भूमिका जैसे पहलू कम छुए।"[8] उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक और धार्मिक अनुभव के व्यक्तिगत या आध्यात्मिक आयाम को काफी हद तक छोड़ देता है। यह दृष्टिकोण कुछ पाठकों को अत्यधिक संरचनात्मक और ऐतिहासिक लग सकता है। आचार्य रामशरण शर्मा ने वर्ण और जाति व्यवस्था को सामाजिक और आर्थिक शक्तियों के दृष्टिकोण से विश्लेषित किया। उनका दृष्टिकोण यह दर्शाता है कि धर्म और सामाजिक नियम केवल आध्यात्मिक नहीं, बल्कि नियंत्रण और आर्थिक संरचना के साधन भी हैं। आलोचना में मुख्य रूप से उनके दृष्टिकोण की आर्थिक केंद्रीकरण, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विविधताओं की उपेक्षा, और धार्मिक अनुभव के आयाम को नजरअंदाज करना शामिल है।

कुल मिलाकर, उनका कार्य सामाजिक इतिहास और भारतीय समाज के संरचनात्मक अध्ययन में मील का पत्थर है, लेकिन इसे सांस्कृतिक और मानसिक आयामों के साथ संतुलित दृष्टिकोण से पढ़ना आवश्यक है। किसी भी बड़े विद्वान की तरह शर्मा के मतों पर भी बहु-स्तरीय आलोचना हुई। कुछ समीक्षक कहते हैं कि ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टि कभी-कभी धार्मिक और सांस्कृतिक अनुभूतियों की जटिलताओं को कम आंक देती है; अन्य आलोचक यह कहते हैं कि स्थानीय मौखिक परंपराओं एवं लघु-इतिहासों का Sharma के व्यापक तर्कों में पर्याप्त समावेश नहीं हुआ। परंतु यह मानना भी होगा कि शर्मा ने जो ठोस, स्रोत-आधारित प्रश्न उठाए उन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उनकी अध्ययनों ने इतिहास-लेखन में सामाजिक आयामों को प्राथमिकता दी और बाद के शोधों के लिए दिशा-निर्देश बने। आज के समय में जब जाति-आधारित असमानता, आरक्षण और सामाजिक न्याय के विषय चेते हैं, आचार्य रामशरण शर्माके निष्कर्ष हमें याद दिलाते हैं कि जाति/वर्ण की जड़ें केवल धार्मिक विश्वासों में नहीं, आर्थिक और सत्ता-रूपों में भी निहित हैं। इसलिए नीति-निर्माण, शिक्षात्मक सुधार और सामाजिक पुनर्गठन के लिए केवल आध्यात्मिक/नैतिक अपील पर्याप्त नहींय आर्थिक संरचनाओं, संपत्ति-वितरण, अवसर-समानता और राजनीतिक प्रतिनिधित्व को बदलना होगा। शर्मा की रिसर्च हमें यह सोचने पर बाध्य करती है कि वास्तविक सामाजिक समतलता तभी सम्भव है जब उत्पादन-संबंध और संसाधन-आधारों में न्याय हो। आचार्य रामशरण शर्मा ने धर्म, जाति और वर्ण व्यवस्था के अध्ययन में एक ऐतिहासिक-आर्थिक दृष्टि प्रस्तुत की, जिसने पारंपरिक धार्मिक-आधारित व्याख्याओं को चुनौती दी। उनके अध्ययन ने यह स्पष्ट किया कि वर्ण और जाति केवल 'धार्मिक नियम' नहीं हैं वे उत्पादन, संपत्ति और सत्ता के बदलते स्वरूपों के साथ विकसित हुई संस्थाएँ हैं। उनके तर्क ने सामाजिक इतिहास के शास्त्र में गहरी बहसें और नए शोध-प्रवाहों को

जन्म दिया। यदि हम आज जातिगत असमानताओं को मिटाना चाहते हैं तो शर्मा की तरह समाज को आर्थिक व संरचनात्मक दृष्टि से पढ़ना और नीतियों में उस समझ को शामिल करना अनिवार्य है।

सहायक प्राध्यापक (इतिहास विभाग)
डी. एस. कॉलेज, कटिहार, बिहार

सन्दर्भ सूची

1. Sharma, R. S. Ancient India. NCERT, New Delhi 1999. P-65
2. शर्मा, रामशरण. प्रारम्भिक भारत का परिचय. राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, 2015. पृ. 18
3. Sharma, R. S. India's Ancient Past, Oxford University Press,UK, 2004. P-76
4. शर्मा, रामशरण. भारत का प्राचीन इतिहास. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018. पृ. 54
5. Sharma, R. S. Sudras in Ancient India: A Social History of the Lower Order Down to circa A.D. 600. Motilal Banarsidass, New Delhi, 2020. P-98
6. Thapar, Romila, Ancient Indian Social History: Some Interpretations. Orient Blackswan, Hyederabaad 1978-P-265
7. Thapar, Romila, Education and Society in Ancient India. National Book Trust, New Delhi 2003. P-187
8. Kosambi, D. D. An Introduction to the Study of Indian History. Popular Prakashan, Mumbai, 1956. P-132

संजू

नीलेश रघुवंशी के काव्य में नारी सौंदर्य

शोध सार

यह शोधपत्र समकालीन हिंदी कवयित्री नीलेश रघुवंशी के काव्य में नारी सौंदर्य के बहुआयामी स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पारंपरिक साहित्य में जहाँ नारी का सौंदर्य रूप-लावण्य तक सीमित था, वहीं नीलेश रघुवंशी की कविताओं में स्त्री का सौंदर्य उसके संघर्ष, संवेदना, श्रम और आत्मसम्मान में निहित है। इस शोध में नारी सौंदर्य को शारीरिक, भावनात्मक, बौद्धिक और आत्मिक दृष्टियों से परखा गया है। साथ ही स्त्री-विमर्श के संदर्भ में यह दिखाया गया है कि स्त्री की वास्तविक गरिमा उसकी आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान में है। यह अध्ययन नारी सौंदर्य को एक नए प्रतिमान में परिभाषित करता है।

बीज शब्द : नारी सौंदर्य, स्त्री विमर्श, नीलेश रघुवंशी, हिंदी कविता, समकालीन साहित्य।

मूल आलेख :

भारतीय साहित्य में नारी सदैव से ही सौंदर्य, संवेदनशीलता, संघर्ष और जीवन के बहुआयामी पहलुओं का प्रतीक रही है। संस्कृत साहित्य से लेकर हिंदी साहित्य तक, नारी को केंद्र में रखकर कवियों और लेखकों ने उसकी अनुभूतियों, सौंदर्य और सामाजिक भूमिकाओं को उजागर किया। प्रारंभिक रीतिकालीन काव्य और भक्ति साहित्य में नारी का सौंदर्य मुख्यत: बाहरी रूप-लावण्य, कोमलता और आदर्शीकृत विशेषताओं में प्रतिबिंबित होता था। तुलसीदास, सूरदास और बिहारी जैसी काव्यपरंपराओं में नारी का चित्रण केवल देखने योग्य और पूजा योग्य वस्तु के रूप में हुआ। इस दृष्टिकोण में नारी की चेतना, सामाजिक सक्रियता और मानसिक संघर्ष का कोई स्थान नहीं था।

आधुनिक हिंदी साहित्य में जब स्त्री-विमर्श और नारी मुक्ति की चेतना जागृत हुई, तब साहित्य ने नारी को केवल रूप या शृंगार की वस्तु न मानकर उसके बहुआयामी व्यक्तित्व, जीवन संघर्ष, रचनात्मकता, संवेदनाएँ और आत्मनिर्भरता को केन्द्र में रखा। समकालीन हिंदी कविता में यह परिवर्तन विशेष रूप से दिखाई देता है। इस संदर्भ में नीलेश रघुवंशी की कविताएँ अद्वितीय महत्व रखती हैं।

नामवर सिंह ने कहा है ''नारी विमर्श का मूल उद्देश्य स्त्री को वस्तु से विचार और चेतना में रूपांतरित करना है।'' (सिंह, कविता के नए प्रतिमान)। यह कथन नीलेश रघुवंशी के काव्य पर पूरी तरह लागू होता है।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में नारी सौंदर्य का विकास बाहरी रूप और शृंगार से होता हुआ करुणा, संघर्ष और आत्मनिर्भरता तक पहुँचा है। नीलेश रघुवंशी इस विकास की समकालीन प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने स्त्री के सौंदर्य को उसकी समग्रता, श्रम, संवेदना, संघर्ष और सृजनात्मक चेतना में प्रस्तुत किया है।

नीलेश रघुवंशी मध्यप्रदेश की प्रमुख समकालीन कवयित्री हैं। उनके काव्य का केंद्र स्त्री, समाज और मानवीय संवेदनाएँ हैं। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं : 'घर निकासी' (1997), 'पानी का स्वाद' (2004), 'अंतिम पंक्ति में' (2008), 'खिड़की खुलने के बाद' (2017) और 'कवि ने कहा' (2016)। इन संग्रहों में स्त्री का बहुआयामी सौंदर्य, उसके संघर्ष, संवेदनाएँ और आंतरिक विश्व का सजीव चित्रण मिलता है।

नीलेश रघुवंशी के काव्य में संघर्ष और श्रम नारी सौंदर्य

का पहला और प्रमुख आयाम है। उनका दृष्टिकोण पारंपरिक स्त्री-चित्रण से भिन्न है। वे खेतों में काम करने वाली महिला, मजदूर स्त्री, गृहिणी और शिक्षित स्त्री के अनुभवों को कविता के माध्यम से जीवन्त करती हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी पंक्तियाँ–

''सिर पर तगाड़ी लिए दसवें माले की ओर जाती
जो कामगार स्त्री
देखती हो कभी आसमान, कभी जमीन''

यह स्पष्ट करती हैं कि नारी का वास्तविक सौंदर्य उसके कठिन श्रम और जीवन संघर्ष में निहित है। स्त्री मजदूर अपने सपनों और कठोर वास्तविकताओं के बीच झूलती है, पर उसका श्रम समाज की इमारतें गढ़ता है। नीलेश रघुवंशी ने दिखाया कि नारी का सौंदर्य केवल रूप-लावण्य में नहीं, बल्कि उसकी संघर्षशीलता और धैर्य में भी है।

नीलेश रघुवंशी का काव्य भावनात्मक सौंदर्य को भी प्रमुखता देता है। उनकी कविताओं में स्त्री की ममता, करुणा, संवेदनशीलता और निस्वार्थता को सौंदर्य का रूप दिया गया है। श्हंडाश कविता इसका सजीव उदाहरण है

''एक पुराना और सुंदर हंडा
भरा रहता जिसमें अनाज
कभी भरा जाता पानी
भरे थे इससे पहले सपने।''

यह हंडा केवल घरेलू पात्र नहीं, बल्कि स्त्री के बचपन, उसकी मासूम इच्छाओं और जीवन के स्मृति-पात्र का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार स्त्री सौंदर्य उसकी संवेदनाओं, स्मृतियों और भावनाओं में भी प्रकट होता है।

नीलेश रघुवंशी का काव्य बौद्धिक और आत्मिक सौंदर्य को भी नारी सौंदर्य का अभिन्न हिस्सा मानता है। वे स्त्री को केवल घरेलू या सामाजिक भूमिकाओं में सीमित नहीं करतीं, बल्कि उसकी चेतना, स्वतंत्रता, सृजनात्मक क्षमता और स्वावलंबन को भी महत्व देती हैं। इसी संदर्भ में उनकी कविता ''कविता लिखने वाली लड़की'' अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस कविता में दिखाया गया है कि जब कोई लड़की कविता लिखना चाहती है, समाज उसे मशीन चलाने, कपड़े सिलने और घर के कामों में व्यस्त रहने की सलाह देता है।

''जब कभी कविता लिखती है लड़की
कहा जाता है सीखो मशीन चलाना
सिलो कपड़े बुनो स्वेटर
मत बुनो शब्द मत बुनो कवि
यह सब फिजूलखर्ची है वक्त की।
रहो लड़कियों की तरह
मत घूमो सड़कों पर
मत लो बहसों में हिस्सा
सीखो पहले घर के सारे काम-काज
और इन सबसे बच जाए समय
तो कर लेना कविता-ववित भी।''

यह पंक्तियाँ स्त्री की रचनात्मक चेतना और उसकी सामाजिक सीमाओं के बीच टकराव को उद्घाटित करती हैं। यह कविता बताती है कि स्त्री का सौंदर्य केवल बाहरी रूप में नहीं, बल्कि उसकी सोच, लेखन, सृजन और आत्मनिर्भरता में भी निहित है।

नीलेश रघुवंशी का काव्य स्त्री की मानसिक और शारीरिक थकावट को भी उजागर करता है। 'स्त्री की नींद' कविता में दिखाया गया है कि घरेलू और पेशेवर जिम्मेदारियाँ स्त्री को थका देती हैं।

''एक छोटे से डाकखाने में
वो स्त्री अपनी सीट पर इतनी उदास इतनी अकेली''
''घर और दफ्तर के कभी न
खत्म होने वाले कामों के बीच
स्त्री की नींद कसमसाती है।''

इन पंक्तियों में यह स्पष्ट होता है कि स्त्री का सौंदर्य केवल देखने में नहीं हैय यह उसके संघर्ष, धैर्य, थकावट और मौन पीड़ा में भी प्रकट होता है।

नीलेश रघुवंशी का काव्य स्त्री की आत्मनिर्भरता और सामाजिक चेतना को भी नारी सौंदर्य का अभिन्न हिस्सा मानता है। उनके अनुसार, नारी तभी वास्तविक रूप से सुंदर है जब वह स्वायत्त, जागरूक और आत्मसम्मानी हो।

''मत आया करो तुम सम्मान समारोहों में
तश्तरी, शाल और श्रीफल लेकर...
सुंदरियो, तुम ऐसा करके तो देखो -
बदल जाएगी ये दुनिया सारी।''

इन पंक्तियों में स्त्री को सक्रिय भूमिका में देखने की आकांक्षा व्यक्त की गई है। उनका यह दृष्टिकोण परंपरागत समाज के सीमित नजरिए के विरोध में है।

नीलेश रघुवंशी की कविता ''देर रात'' स्त्री की संवेदनशीलता और उसके आंतरिक जीवन को चित्रित करती

है।

''देर रात
सो चुका है जब शहर
अँधेरे के बीच टिमटिमाता है तारा
खिड़की जो एक खुली हुई है
है साथ तारे के।
कमरे और खिड़की के बीच का फासला
कमरे में है उदासी बावजूद रोशनी के।
भीतर खिड़की के क्या?
शायद
डूबा हुआ हो कोई स्वप्न में
पढ़ी जा रही हो कोई किताब
सोच रहा है कोई सुबह के बारे में।
यह भी हो सकता है
प्रतीक्षा में है कोई लड़की
जाग रही है माँ निगरानी में।''

इस कविता में स्त्री की अकेलापन, उसके स्वप्न और सामाजिक सीमाओं की झलक मिलती है। नीलेश रघुवंशी ने स्पष्ट किया है कि स्त्री सौंदर्य केवल बाहरी रूप में नहीं, बल्कि उसकी संवेदनशीलता, प्रतीक्षा, स्वप्न और जीवन अनुभवों में निहित है।

नई कविता ''मुझे प्रेम चाहिए'' में स्त्री की आंतरिक आकांक्षा, जीवन में प्रेम और संवेदनाओं की गहन आवश्यकता प्रकट होती है।

''मुझे प्रेम चाहिए
घनघोर बारिश-सा।
कड़कती धूप में घनी छाँव-सा
ठिठुरती ठंड में अलाव-सा प्रेम चाहिए मुझे।
मुझे प्रेम चाहिए
सारी दुनिया रहती हो जिसमें
प्रेम चाहिए मुझे।''

यह कविता नारी सौंदर्य के आंतरिक और आत्मिक आयाम को प्रदर्शित करती है। नीलेश रघुवंशी यहां दिखाती हैं कि नारी का सौंदर्य केवल बाहरी सुंदरता या सामाजिक भूमिकाओं में नहीं है, बल्कि उसकी आत्मिक आकांक्षाओं, प्रेम की गहरी लालसा और संवेदनाओं में भी है।

इसके अतिरिक्त, आपकी नई कविता ''आसमान'' स्त्री की संवेदनशीलता, सहानुभूति, जीवन के बहुआयामी दृष्टिकोण और सौंदर्य की अनुभूति को स्पष्ट करती है।

''आसमान!
गिरे अब कोई फूल
उठाना तुम
बिखेर देना उसे
देखूँगी धरती को हँसते साथ उसके।
टहनियो, उदास मत हो
वसंत अगर तुम्हें छोड़कर चला गया अछूता
मिलेगा तुम्हें नया जीवन
मिलती है जैसे बच्चे को गेंद।
यह फूल है दूसरे के आँगन का
हवा में इस के बिखरी है मेरी गंध।''

इन पंक्तियों में नारी का सौंदर्य और मानवीय संवेदनाएँ उसके अनुभव, सहानुभूति, संवेदनशीलता और जीवन की सकारात्मक दृष्टि में प्रतिबिंबित होती हैं। नीलेश रघुवंशी ने यह दिखाया कि नारी सौंदर्य केवल भौतिक रूप, संघर्ष या सामाजिक भूमिका में नहीं, बल्कि उसकी संवेदनाओं, अनुभवों और जीवन दर्शन में भी निहित है।

अंततः, नीलेश रघुवंशी का काव्य नारी सौंदर्य के बहुआयामी, जटिल और गहन स्वरूप को उजागर करता है। यह केवल शारीरिक आकर्षण या पारंपरिक भूमिकाओं में सीमित नहीं, बल्कि भावनाओं, संवेदनाओं, संघर्ष, आत्मसम्मान, रचनात्मकता, प्रेम और जीवन दर्शन का संगम है। उनके काव्य में स्त्री को उसकी संपूर्णता में प्रस्तुत किया गया है, जिससे नारी सौंदर्य, चेतना और सामाजिक सक्रियता का समग्र दर्शन होता है।

निष्कर्ष : नीलेश रघुवंशी का काव्य आधुनिक हिंदी कविता में स्त्री विमर्श की एक प्रखर और संवेदनशील आवाज है। उनकी कविताएँ स्त्री के जीवन, संघर्ष, प्रेम और आकांक्षाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति करती हैं। यह साहित्य स्त्री को केवल करुणा का प्रतीक नहीं बनाता, बल्कि उसे एक सशक्त, संवेदनशील और सृजनशील इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है।

स्त्री का संघर्ष उनके काव्य में बार-बार सामने आता है। यह संघर्ष केवल बाहरी परिस्थितियों से नहीं, बल्कि उन सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचों से भी है जिन्हें पितृसत्ता ने गढ़ा है। उनकी कविताओं की पंक्तियाँ

''इस बार फिर मेरे बैग को

मत टटोलना माँ
तंगहाली के सपनों के सिवा
कुछ नहीं है उसमें।
काश ख़रीद पाती मैं तुम्हारे लिए
सिंदूर और साड़ी
पिता के लिए नया कुर्ता
भाई के लिए मफलर
जवान होती बहन के लिए कुछ सपने।''

यहाँ स्त्री का रूप त्यागमयी होने के साथ-साथ यथार्थवादी भी है। वह परिवार और प्रियजनों के लिए जीती है, लेकिन उसकी इच्छाएँ और सपने आर्थिक-सामाजिक विषमताओं के कारण अधूरे रह जाते हैं। यही बिंदु निर्मला जैन के कथन को पुष्ट करता है कि ''स्त्री का असली संघर्ष उसकी इच्छाओं और समाज द्वारा थोपे गए दायित्वों के बीच का संघर्ष है।''

राजकुमार केसरी ने कहा है कि ''हिंदी कविता में स्त्री-विमर्श तभी सार्थक है जब वह स्त्री की अस्मिता और उसकी रचनात्मकता को साथ लेकर चले।'' इस दृष्टि से नीलेश रघुवंशी का काव्य अद्वितीय है क्योंकि उनकी स्त्रियाँ अपने संघर्षों के बावजूद कविता लिखती हैं, प्रेम करती हैं, सपने देखती हैं और सृजन करती हैं।

यहाँ अंतर्राष्ट्रीय आलोचकों की दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण है। वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी प्रसिद्ध कृति। Room of One's Own में स्त्री के लिए आर्थिक स्वतंत्रता और निजी जगह को रचनात्मकता का मूलाधार माना था। नीलेश रघुवंशी की कविताओं में ''कविता लिखने वाली लड़की'' वही निजी स्पेस तलाशती है, जहाँ वह सामाजिक प्रतिबंधों से मुक्त होकर सृजन कर सके।

सिमोन द बउवार का विचार था कि ''स्त्री पैदा नहीं होती, उसे बनाया जाता है।'' नीलेश रघुवंशी का काव्य इस कृत्रिम गढ़ंत का प्रतिरोध करता है। उनकी कविताओं में स्त्री को परंपरा और सामाजिक दबाव से बाहर निकालकर उसकी असली संवेदनशील और सृजनशील पहचान दी जाती है।

अमेरिकी विचारक बेल हुक्स ने लिखा है कि ''फेमिनिज्म केवल महिलाओं की आजादी नहीं, बल्कि पूरे समाज की मुक्ति का संघर्ष है।'' इस दृष्टि से नीलेश रघुवंशी की कविताएँ नारीवादी चेतना का विस्तार हैं, क्योंकि उनमें स्त्री की स्वतंत्रता केवल व्यक्तिगत अधिकार नहीं, बल्कि समाज के पुनर्निर्माण का आधार है।

अत: कहा जा सकता है कि नीलेश रघुवंशी की कविताएँ न केवल हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श की सशक्त पहचान हैं, बल्कि वैश्विक नारीवादी विमर्श से भी जुड़ाव रखती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री का सौंदर्य श्रम, संवेदना, संघर्ष और सृजनशीलता में निहित है। यह साहित्य हमें यह सिखाता है कि स्त्री केवल निजी जीवन तक सीमित नहीं, बल्कि समाज और इतिहास के निर्माण में उसकी भूमिका निर्णायक है। यही गुण नीलेश रघुवंशी को हिंदी की समकालीन कवयित्रियों में विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

पीएचडी हिंदी शोधार्थी,
बरकतुल्लाह विश्वविद्यलय, भोपाल
Email : Sanjudangi6261@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. रघुवंशी, नीलेश. घर निकासी. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997.
2. रघुवंशी, नीलेश. पानी का स्वाद. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.
3. रघुवंशी, नीलेश. अंतिम पंक्ति में. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008.
4. रघुवंशी, नीलेश. कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएँ). किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016.
5. रघुवंशी, नीलेश. खिड़की खुलने के बाद. किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017.
6. शुक्ल, रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
7. सिंह, नामवर. कविता के नए प्रतिमान. राजकमल प्रकाशन.
8. वर्मा, महादेवी. निबंध संग्रह. प्रयागरू भारतीय ज्ञानपीठ.
9. आधुनिक हिंदी साहित्य पर आलोचनात्मक आलेख।

भारतीय राजनीति के लोकगुरु परसाई

डॉ. राजेश कुमार* डॉ. ममता देवी**

अक्सर कह दिया जाता है कि राजनीति बड़ी गंदी चीज है। लेखक तो क्या हर भले आदमी को राजनीति से अलग रहना चाहिए। उक्त सोच को दुरुस्त करने की गरज से खगेन्द्र ठाकुर ने राजनीति के दो भेद किए हैं – एक राजनीति है शोषक वर्ग की सत्ता केंद्रित राजनीति और दूसरी है शोषित वर्ग की प्रतिरोध की राजनीति। अर्थात् खगेन्द्र ठाकुर ने मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर समाज में दो वर्ग होने की बात दोहराते हुए लिखा है – ''यह समाज शोषक और शोषित में बँटा हुआ है। दोनों के आर्थिक हित एक नहीं हो सकते, इसलिए दोनों की राजनीति भी एक नहीं हो सकती।...कम से कम दो तरह की राजनीति तो दिखाई पड़ेगी ही, एक शोषकों की राजनीति, दूसरी शोषितों की राजनीति। तब आपको कहना पड़ेगा कि कौन सी राजनीति अच्छी है और कौन सी गंदी?''[1]

यद्यपि खगेन्द्र ठाकुर ने वर्ण और जातियों में बँटे भारतीय समाज की संरचनाओं और राजनीति को भी वर्ग आधारित समाज और राजनीति में समेट लिया है, पर उन्होंने यह बुनियादी सवाल उठाया है कि कौन सी राजनीति गंदी है? उक्त प्रश्न के उत्तर में कोई दुविधा नहीं है- जबाव सीधा है कि सामंती, सवर्ण और शोषक वर्ग के हितों की 'राजनीति की गंदगी' के कारण समूची राजनीति को हिकारत के भाव से देखा जाता है। इस तरह वंचित और शोषित वर्ग के प्रतिरोध की राजनीति उपेक्षित हो जाती है। जब शोषक वर्ग की 'गंदी राजनीति' एक्सपोज होती है, तो उसे इस बात की तसल्ली होती है कि समूची राजनीति को ही गंदी कहकर हिकारत के भाव से देखा जा रहा है, चलो अच्छा है कि प्रतिरोध की राजनीति को भी अपनी 'गंदी राजनीति' के साथ लपेट दिया गया! जैसे कि कोई बदमाश लड़का किसी निर्दोष लड़के को पीट दे और मास्साब दोनों लड़कों को मुर्गा बना दें। पीटने वाला और पिटने वाला दोनों को एक ही श्रेणी में डाल दिया जाता है!

चुनावी राजनीति पर प्रायोजित बहसों के इस फेसबुकिया दौर में राजनीतिक लेखन बहुत हीन हो चला है। यद्यपि सोशल मीडिया पर फेक आईडी और आई टी सेल द्वारा खूब राजनीतिक टिप्पणियां गढ़ी जाती हैं, मीम्स बनाए जाते हैं लेकिन परंपरागत लेखन में राजनीतिक लेखन की परंपरा बहुत क्षीण है। आज कोई ऐसा हिंदी लेखक या पत्रकार नहीं है, जिसे परसाई या शरद जोशी की तुलना में खड़ा भी किया जा सके, या कि जिसके लेखन में वर्तमान राजनीतिक संस्कृति की मुकम्मल तस्वीर उभरती हो। आज के व्यंग्य कॉलमों में भी छिटपुट राजनीतिक टिप्पणियां या नेताओं के कुछ स्टीरियोटाइप मात्र मिलते हैं, जिनसे हमारे समय के सामाजिक राजनीतिक यथार्थ का कोई मुकम्मल नक्शा नहीं बनता। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने परसाई की प्रशंसा करते हुए कहा था – ''आजादी के पहिले का हिंदुस्तान जानने के लिए जैसे सिर्फ प्रेमचंद ही पढ़ना काफी है, उसी तरह आजादी के बाद के भारत की सच्ची दस्तावेज परसाई की रचनाओं में सुरक्षित है।''[2] जो बात त्यागी जी ने परसाई और प्रेमचंद के विषय में इतने विश्वास के साथ दोहराई है, क्या यही बात आज के किसी लेखक के विषय में कही जा सकती है?

हिंदी लेखक की राजनीतिक चेतना उस समय जागृत हो जाती है, जब उसे कोई पद या प्रमोशन चाहिए! किसी मंत्री का गुणगान करने या सरकारी गीत लिखते समय उसकी राजनीतिक समझ बड़ी प्रखर होती है! स्वार्थ सिद्धि के लिए उसके साहित्य में राजनीति की मशालें जल उठती हैं! अन्यथा हिंदी लेखक साहित्य को राजनीति से दूर रखने की एडवाइजरी समय-समय

पर जारी करते रहते हैं। जनहित की राजनीति से उनके पवित्र साहित्य को सरोकार नहीं है।

बकौल खगेन्द्र ठाकुर 1953 में 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का एक सम्मेलन बम्बई में हुआ था, उसके संयोजक अज्ञेय थे और उसकी अध्यक्षता जयप्रकाश नारायण ने की थी। मीनू मसानी, अशोक मेहता, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी इत्यादि ने उसमें सक्रिय भाग लिया था। उस सम्मेलन के मंच से उपर्युक्त महानुभावों ने लेखकों को निर्देश दिया कि साहित्य को राजनीति के असर से दूर रखना चाहिए। इस तरह के सुझावों, प्रस्तावों और निर्देशों के मायने समझाते हुए परसाई ने भी दो टूक शब्दों में कहा है कि ऐसे सुझावों और प्रस्तावों का मुख्य अर्थ है कि साहित्य को मार्क्सवादी विचारधारा और राजनीति से दूर रखा जाए। 'साहित्य को राजनीति से दूर रखने' की दक्षिणपंथियों की इस पतित राजनीति को परसाई ने बखूबी एक्सपोज किया है लेकिन वह इस बात से बहुत व्यथित थे कि प्रगतिशील लेखक भी गफलत में आ जाते हैं – ''ये दक्षिणपंथी तो साफ दिखते हैं। पर हमला छद्म वामपंथियों की तरफ से भी है। इनका नारा है कि लेखकों का सम्बन्ध किसी पार्टी विशेष से नहीं होना चाहिए। सवाल उठता है – क्या विचारधारा आइडियोलॉजी से भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए? बिना आइडियोलॉजी के न राजनैतिक पार्टी सार्थक होती है, न लेखकों के संगठन।''[3]

'साहित्य और राजनीति', 'लेखक और लेखक संगठनों' के संबंधों पर बात करते हुए परसाई जितना खतरनाक दक्षिणपंथियों के 'गैर-राजनीतिक' होने के नारों को मानते हैं, उतना ही खतरा छद्म वामपंथियों, सर्वोदयी तथा उग्र वामपंथियों के साहित्य और राजनीति में भी देखते हैं- ''खतरा समझौतावादी साहित्यिक सर्वोदयवादियों से भी है। ये प्रगतिशील लेखकों का चरित्रहनन तक करते हैं।... खतरा वामपन्थी उग्रवादियों से भी है। लेनिन ने इसे 'शिशु रोग' कहा था। लेखन में यह उग्रवाद घातक ही होता है, क्योंकि क्षणिक उत्तेजना के सिवा इससे किसी ठोस क्रांतिकारी चेतना का निर्माण नहीं होता।''[4]

यहाँ परसाई जिस लेखन को वामपंथी उग्रवाद कह रहे हैं, वैसी ही कुछ व्यंग्य रचनाएं स्वयं उन्होंने भी लिखी थीं। यद्यपि उन्होंने अपनी उन रचनाओं का बचाव कभी नहीं किया। परसाई उग्र वामपंथ को विफल मानकर और सर्वोदय के नारों और स्टंट का उपहास करके छोड़ देते हैं लेकिन दक्षिणपंथियों को रत्ती भर छूट नहीं देते, उनके प्रति परसाई बहुत चौकन्ने रहते हैं और उनकी बेहद तीखी आलोचना करते हैं-''दक्षिणपंथियों के पास न सच्चे लेखक होते हैं, न ठोस सच्चा साहित्य। इसलिए उनके प्रहार का तरीका फासिस्ट होता है। ये तरीके हैं-झूठा प्रचार, चरित्र हनन, आतंकवाद, मिथ्याचार, गलत-बयानी। ये मूल्यों की लड़ाई नहीं लड़ते, क्योंकि वे स्वयं मूल्यहीन होते हैं।''[5]

ये 'मूल्याहीन लेखक' मूल्यों की बात सबसे ऊँचे स्वर में करते हैं, संस्कृति का राग अलापते हैं और शाश्वत लेखन की माँग करते हैं। परसाई को तो बार-बार यह सुझाव भी दिया गया कि वे तात्कालिक विषयों को छोड़कर कुछ शाश्वत लिखें। अपने ऐसे शुभचिंतकों का आभार प्रकट करने के बजाय परसाई टका सा जवाब देते थे – ''शाश्वत साहित्य लिखने का संकल्प लेकर बैठने वाले मैंने तुरंत मरते देखे हैं।''[6] ''मैं 'शाश्वत साहित्य' रचने का संकल्प करके लिखने नहीं बैठता। जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं होता, वह अनन्त काल के प्रति कैसे हो लेता है, मेरी समझ से परे है।''[7]

परसाई ने शायद इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि अपने समय के प्रति ईमानदार बने रहना ज्यादा जोखिम का काम है। इसी जोखिम से बचने के लिए अक्सर शाश्वत साहित्य का आग्रह किया जाता है कि शाश्वत साहित्य पवित्र गाय है, जो तात्कालिक समस्याओं के खिलाफ सींग भी नहीं हिलती, तंग नहीं करती, तो कोई उसकी ईमानदारी का सवाल क्यों उठाएगा? कुछ लेखक ईमानदारी के इस जोखिम से बचने के लिए साहित्य में अमूर्तन का सहारा लेते हैं, कला कला के लिए का नारा देते हैं। यदि वे अपने समय के ठोस धरातल पर यथार्थ चित्रण करेंगे तो ईमानदारी का सवाल आ ही जायेगा। राजनीतिक लेखन में लेखक की पक्षधरता का सवाल आयेगा और विचारधारा का सवाल भी आयेगा। विचारधारा के बिना राजनीतिक लेखन स्टीरियोटाइप मात्र होगा। राजनीतिक लेखन में ईमानदारी के सवाल से नहीं बचा जा सकता। विचारधारा से संबद्ध होने के कारण राजनीतिक लेखन में लेखक अन्य दलों और विचारधाराओं की उपेक्षा कर सकता है। इस दृष्टि से स्वयं परसाई के राजनीतिक लेखन पर भी सवाल उठते हैं कि उन्होंने इंदिरा गांधी के आपातकाल से आँखें मूंद ली थी! सम्पूर्ण क्रान्ति और जनता पार्टी की सरकार की जैसी निर्मम आलोचना परसाई ने की है, उससे आहत होकर कृष्णदत्त पालीवाल परसाई के प्रति अपना रोष प्रकट करते हैं – ''उनके कबीराई व्यंग्य को इंदिरा गांधी ने ऐसे ग्रस लिया जैसे राहु चन्द्रमा को ग्रस्ता है। वे अपातकाल की सतही नासमझ व्याख्या करते रह गए...'हरिजन को पीटने का यज्ञ' लिखने वाला

व्यंग्यकार एक खास अर्थ में 'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर' सिद्ध हुआ।''[8] पालीवाल जी के इस रोष में उन लोगों का रोष भी शामिल है, जिन्होंने जयप्रकाश नारायण को लोकनायक माना या कि जिनका विश्वास गांधीवाद और समाजवाद में है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि परसाई ने अखबारी लेखन खूब किया है। इसमें अधिकांश राजनीतिक लेखन है। यद्यपि उन्होंने नेहरू से लेकर अटल बिहारी वाजपेई तक सभी पार्टियों के प्रमुख नेताओं पर तीखा व्यंग्य नामोल्लेख के साथ किया है, तथापि उनके अधिकांश व्यंग्य जनता पार्टी की सरकार, संघ, जनसंघ, और उनके सहयोगी दलों के विरुद्ध हैं। पालीवाल जी के रोष पर विचार करने से पूर्व परसाई की राजनीतिक चेतना, आइडोलॉजी, और प्रतिबद्धता को समझना उपयुक्त होगा।

जिस अखबारी लेखन और राजनीतिक लेखन को दोयम दर्जे का माना जाता है, उसे बालमुकुंद गुप्त ने साहित्य में प्रतिष्ठित किया था। अर्थात आजादी से पूर्व आधुनिक हिंदी साहित्य के आरंभिक चरण में ही बालमुकुंद गुप्त ने अखबारी व्यंग्य कॉलम का शानदार आगाज कर दिया था, जिसे परसाई और शरद जोशी ने लोकप्रियता और प्रतिष्ठा के शिखर तक पहुँचाया। शिखरों की यह यात्रा परसाई ने उस दौर में शुरू की थी, जिसे नेहरू युग कहा जाता है। वही नेहरू युग जिसके सम्मोहन में इतिहासकार भी कहते हैं – ''वे लोग जिन्होंने नेहरू युग को जिया है, आज भी अपने को बहुत सौभाग्यशाली मानते हैं।''[9]

परसाई ने नेहरू युग की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विसंगतियों पर तो प्रहार किया ही, साथ ही नेहरू सरीखे उस आइकॉन पर भी व्यंग्य करने में संकोच नहीं किया, जो भारतीय राजनीति में नायक-पूजा का अद्‌भुत उदाहरण है। आजादी के बाद मोहभंग की स्थिति में भी नेहरू की मूर्ति खण्डित नहीं हुई। भारतीय जनमानस में नेहरू श्रद्धेय बने रहे। स्वयं परसाई भी नेहरू की नीतियों और उनके व्यक्तित्व के प्रशंसक थे क्योंकि वह इस बात को समझते थे कि किसी भी देश के राष्ट्रीय नेता की लोकप्रियता उसे तानाशाह बनने का अवसर देती है, दुनिया के तानाशाहों का इतिहास इस बात की गवाही देता है। अर्थात नेहरू की अपार लोकप्रियता उन्हें तानाशाह होने के अपार अवसर दे रही थी, फिर भी उन्होंने लोकतंत्र का ही मार्ग चुना। उन्होंने पूरी निष्ठा से लोकतंत्र की जड़ों को सींचा।परसाई इस बात को भी समझते थे कि भारत में एक वर्ग तानाशाही को पसंद करता है–''सही बात यह है कि भारतीय लोगों के मन में हिटलर के प्रति आकर्षण था, वह इस कारण से था कि एक तो वह अपने को आर्य कहता था। यहाँ के लोग उसे अपनी बिरादरी का मानते थे। दूसरी बात यह है कि उसका चिन्ह स्वास्तिक था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भारतीयों की बहुत अधिक सहानुभूति हिटलर के साथ थी।''[10]

लोकप्रियता की प्रचंड लहर पर सवार नेहरू यदि लोकतंत्र का मार्ग न चुनकर तानाशाह हो जाते तो भारत में लोकतंत्र की स्थापना बहुत कठिन हो जाती। राजेन्द्र माथुर ने भी यह संभावना व्यक्त की है – ''सुकर्णो, नासर, टीटो, एनक्रूमा आदि ने अपनी लोकप्रियता का क्या किया? देश के धीमेपन से असंतुष्ट जवाहरलाल के सामने क्या विकल्प नहीं रहा होगा कि लोकतंत्र को एक तरफ रखकर कुछ साल चाबुक चलाया जाए, ताकि देश दौड़कर एक बार सबके साथ आ सके? यदि वे चाबुक चलाते तो क्या एक नशीला उत्साह सारे देश में पैदा नहीं होता, जिसके चलते लोकतंत्र की हिमायत एक जनद्रोही हरकत नजर आती?''[11] इसके विपरीत आज इस संभावना पर विचार किया जा रहा है कि यदि जयप्रकाश नारायण और नंबूदरीपाद सरीखे नेता नेहरू के साथ खड़े होते तो वे संकीर्ण हिंदुत्ववादियों की ओर से बेफिक्र होकर लोकतंत्र विरोधी ताकतों को उभरने का अवसर ही न देते।

परसाई यह मानते हैं कि नेहरू ने लोकतंत्र का मार्ग चुना और लोकशिक्षण का काम किया। जितना उन्होंने स्कूली शिक्षा से ग्रहण किया, उससे अधिक नेहरू के लोकशिक्षण से सीखा। यद्यपि आरंभ में परसाई पर जयप्रकाश नारायण और समाजवादियों का प्रभाव था तथापि वह नेहरू से गहरे प्रभावित थे। इस प्रभाव को इस बात से भी समझा जा सकता है कि जब एम. ओ. मथाई ने पुस्तक लिखकर नेहरू का चरित्रहनन किया तो परसाई ने मथाई को लेखक मानने के बजाय 'मुंशी एम. ओ. मथाई' कहते हुए पुस्तक पर बहुत तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की – ''नेहरू का व्यक्तित्व समन्दर था। उसमें बेचारा मथाई लोटे की तरह पड़ा रहा, बाल्टी भी नहीं बना। नेहरू अंतरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय हलचलों के केन्द्र थे, मगर बेचारा मथाई यही देखता रहा कि कौन दारू पीता है, कौन औरत पटाता है, कौन औरत मर्द पटाती है।''[12]

नेहरू की नीतियों और व्यक्तित्व से प्रभावित होने के बावजूद परसाई नेहरू पर व्यंग्य करने में भी संकोच नहीं करते हैं– ''आम जनता 'अदा' पर मरती है। इसी अदा पर तुम्हारे यहाँ की सरकार टिकी है। जब तक यह अदा है तब तक तुम शोषण सहोगे, अत्याचार सहोगे, भ्रष्टाचार सहोगे – क्योंकि तुम

जब क्रोध से उबलोगे, तुम्हारा प्रधानमन्त्री एक अदा से तुम्हें ठंडा कर देगा।''[13]

नेहरू सरकार के पास एक विजन और ठोस नीतियाँ थीं तो नेहरू के पास जनता को मुग्ध करने की एक अदा भी थी। नेहरू की ऐसी अदाओं के लिए परसाई ने उन्हें प्लेटो को शब्दावली में 'फिलॉसफर किंग' कहा है, जिसमें एक ताकत होती है, जो तर्क और यथार्थ से ऊपर होती है। वह ताकत है फिलोस्फर किंग की अदा। वर्तमान सरकार के पास कुछ हो न हो, प्रधानमंत्री मोदी के पास अदाएँ खूब हैं। (वे नेहरू से कुछ और न सीख सके तो अदाएँ ही सीख लीं। फिर प्रोपेगंडा के लिए अदा शर्मा भी है।)

नेहरू के सामने एक तरफ राष्ट्र निर्माण की चुनौती थी, दूसरी तरफ भ्रष्टाचार की समस्या। एक बार नेहरू ने सचिवालय में वृक्षारोपण किया और पौधों को बकरी चर गई। इस खबर को आधार बनाकर परसाई ने पंचवर्षीय योजनाओं में हुए भ्रष्टाचार पर तीखा व्यंग्य किया है कि नेहरू ने पंचवर्षीय योजनाओं और राष्ट्रीय विकास का पौधा लगाया। इसके आसपास तमाम योजनाओं के चबूतरे बनाए गए। इसकी रक्षा के लिए चौकीदार रखे गए - जैसे कि बड़े अफसर, मंत्री और नेता। पौधा थोड़ा बड़ा हुआ तो भ्रष्टाचार की बकरी आई, चौकीदारों से साठ गांठ की और पौधा चर गई। पौधा खाकर बकरी ने जो दूध दिया, उसमें चौकीदारों को अपना हिस्सा मिल गया। नेहरू ऐसे ही और भी पौधे लगाते हैं लेकिन उन्हें बकरी चर जाती है - ''राष्ट्रीय एकता का पौधा लगा था। कितने ही नेताओं ने उसे भाषण से सींचा। नेहरू ने खाद दिया था। उत्तर प्रदेश की सम्प्रदायवाद की बकरी उसे चर गई।... प्रजातन्त्र का पौधा लगाया था, उसे फासिज्म की बकरी चरने के लिए लपक रही है और चौकीदार उसे बढ़ने दे रहा है।... अब तो एक बड़ा मजबूत भयानक बकरा छुट्टा घूम रहा है। यह धर्म और संस्कृति की कंठी पहने फासिज्म का बकरा है।''[14] फासिज्म के इस बकरे और भ्रष्टाचार की बकरी पर परसाई के वन्य जीव (व्यंग्य) बड़ी चपलता से लपकते हैं।

नेहरू को फासिज्म और भ्रष्टाचार दोनों ही बहुत तंग कर रहे थे। वह भ्रष्टाचार की बकरी से ज्यादा परेशान हो चुके थे जबकि परसाई की चेतना में फासिज्म के बकरे के सींग ज्यादा गहरे गड़ रहे थे। भ्रष्टाचार की बकरी ने नेहरू की राष्ट्रनिर्माण की योजनाओं में सेंध लगा ली थी। इससे परेशान होकर नेहरू ने एक घोषणा की, जो बहुचर्चित हुई कि मुनाफाखोरों को बिजली के खंभे से लटका दिया जाएगा। लेकिन न तो मुनाफाखोरों को खंभों से लटकाया जा सका और न ही मुनाफाखोरी रुकी। इसका कारण यह नहीं कि भ्रष्टाचार और मुनाफाखोरी को रोकने की इच्छाशक्ति नेहरू में नहीं थी, या कि मुनाफाखोरों को खंभों से लटकाने की घोषणा कोरी बयानबाजी थी। इस घोषणा को आधार बनाकर परसाई ने 'उखड़े खंभे' शीर्षक से जो व्यंग्य लिखा है, वह प्रशासनिक व्यवस्था की पोल खोलता है कि भ्रष्टाचारी और मुनाफाखोरों की प्रशासन से साठ-गांठ है। प्रशासन ही इस भ्रष्टाचार में लिप्त है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि नेहरू की जैसी पकड़ राजनीतिक व्यवस्था पर थी, वैसी पकड़ प्रशासनिक व्यवस्था पर नहीं थी। इसी व्यवस्था ने नेहरू की उस बहुचर्चित घोषणा को भी विफल कर दिया था। नेहरू की यह विफलता 'उखड़े खंभे' की फैंटेसी में रोचक ढंग से उजागर होती है -

इस फैंटेसी कथा का सार यह है कि मुनाफाखोरों को खंभों से लटकते हुए देखने के लिए विशाल जनसमूह एकत्र हुआ तो उसने देखा कि जिन खंभों पर मुनाफाखोरों को लटकाया जाना था, सब खंभे उखड़े पड़े हैं। खंभे क्यों उखाड़े गए? किसने उखड़वाए? खंभे उखाड़ने वाले मजदूर से जबाव तलब करने पर राजा को पता चला कि यह सब प्रशासन की सहमति से हुआ है, इस निर्णय में पूरा प्रशासन शामिल है। एक विशेषज्ञ ने प्रशासन का पक्ष राजा के समक्ष प्रस्तुत किया कि परीक्षण के उपरांत पता चला है कि जमीन के नीचे एक भयंकर विद्युत प्रवाह घूम रहा है। यदि बिजली के खंभे जमीन में गड़े रहते तो उनके माध्यम से वह विद्युत प्रवाह ऊपर आता, जिसकी टक्कर अपने पावर हाउस की बिजली से होती। भयंकर विस्फोट होता। पूरा शहर नष्ट हो जाता- ''लोग बड़ी देर तक सकते में खड़े रहे। वे मुनाफाखोरों को बिल्कुल भूल गए। वे सब उस संकट से अभिभूत थे, जिसकी कल्पना उन्हें दी गई थी।''[15]

अफसरों और विशेषज्ञों की पत्नियों के बैंक खातों में बड़ी रकम जमा होने और उतनी ही रकम से मुनाफाखोरों के बैंक अकाउंट डेबिट होने के साथ उक्त फैंटेसी कथा समाप्त हो जाती है। इससे आगे यह कथा नहीं जा सकती थी क्योंकि अफसरों, विशेषज्ञों, उनकी पत्नियों और मुनफाखोरों के बैंक खातों की जाँच करने का प्रश्न वहाँ नहीं आता। नेहरू जिस प्रशासनिक व्यवस्था पर निर्भर हो चुके थे, उसके भ्रष्टाचार की जाँच कैसे होती!

यद्यपि आरंभ में औपनिवेशिक प्रशासनिक ढाँचे को अपनाते समय नेहरू बहुत आशंकित थे लेकिन इसे अपनाने के बाद जैसे निश्चिंत हो गए - ''नेहरू थोड़े असंतोष के साथ पटेल

की बात मानने को तैयार हो गए, क्योंकि वे भी यह महसूस कर रहे थे कि अखिल भारतीय सेवाओं पर निर्भर रहने के अलावा इस समय कोई विकल्प ही मौजूद नहीं था।...आगे आने वाले वर्षों में नेहरू इन सेवाओं पर न केवल आश्रित रहने लगे बल्कि लोगों की प्रशासनिक क्षमता की तारीफ भी करने लगे।''[16]

उस औपनिवेशिक प्रशासन के प्रति बने नेहरू के मिथ्या विश्वास ने बहुत कुछ बिगड़ दिया। धीरे-धीरे वह प्रशासन अपने उसी चरित्र पर आ गया, जो चरित्र औपनिवेशिक शासन में निर्मित हुआ था। प्रशासन के इस पतनशील और भ्रष्ट चरित्र से नेहरू खूब परिचित थे, फिर भी आसानी से उसके धोखे में आ गए। यह प्रशासन जितना पतित होता चला गया, इस पर नेहरू की पकड़ उतनी ही ढीली होती चली गई। इससे एक दिलचस्प निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वाधीनता आंदोलन की जमीन पर विकसित हुई ऊंचे दर्जे की मूल्यकेंद्रित राजनीति पर नेहरू की गहरी पकड़ थी जबकि पतनशील औपनिवेशिक प्रशासन पर उनकी पकड़ बहुत ढीली थी। अर्थात् औदात्य पर उनकी मजबूत पकड़ थी और पतित पर ढीली।

इतनी ढीली पकड़ के फंदों से मुनफाखोरों को खंभों से लटकाना असंभव था, इसका ख्याल भी नेहरू को शायद नहीं आया। भ्रष्ट और पतित प्रशासन पर चाबुक चलाए बिना भ्रष्टाचार की समस्या से निपटना असंभव था जबकि चाबुक चलाना उदात्त व्यक्तित्व के धनी नेहरू की प्रवृत्ति के प्रतिकूल था। एक तरफ तो परसाई ने नेहरू को इस बात के लिए साधुवाद दिया है कि उन्होंने देश को चाबुक से नहीं चलाया अपितु एक मजबूत लोकतंत्र भारत को दिया। दूसरी तरफ कुछ समूह नेहरू की इस बात के लिए कड़ी आलोचना कर रहे थे कि वह मुनाफाखोरों को खंभे से नहीं लटका पाए। उन्हें उम्मीद तो यह थी कि मुनाफाखोरों के साथ-साथ अफसरों और विशेषज्ञों को भी लटका दिया जाता, बल्कि अफसरों को पहले लटकाना चाहिए क्योंकि मुनाफाखोरों और भ्रष्टाचारियों की ताकत तो अफसरों में निहित है।

यद्यपि परसाई का मानना है कि व्यवस्था परिवर्तन के बिना इस समस्या का समाधान अत्यंत कठिन है, मुनाफाखोरों को खंभे से लटकाने की बातें करने से यह संभव नहीं है, तथापि 'नाग-यज्ञ' शीर्षक से लिखी व्यंग्य रचना में वह भ्रष्टाचारियों को फाँसी देने की माँग करने वालों के सुर में सुर मिला देते हैं- ''तक्षक अभी तक नहीं आया, वह कहाँ है? जवाब मिलता है - तक्षक इन्द्र के सिंहासन के नीचे छिपा है। इन्द्र उसकी रक्षा कर रहा है।... तो इन्द्र भी स्वाहा! बल्कि पहले इन्द्र ही स्वाहा!''[17] यहाँ तक्षक को भ्रष्टाचारी और इन्द्र को भ्रष्टाचारी के रक्षक के रूप में दिखाया गया है। अर्थात् भ्रष्टाचारियों से पहले उनके रक्षक को स्वाहा करो।

यदि परसाई की उक्त व्यंग्य रचना को छोड़ दिया जाए तो अन्यत्र कहीं वह इस बात का समर्थन नहीं करते कि भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए मुनाफाखोरों, भ्रष्टाचारियों और अफसरों को फाँसी पर लटकाना ही एकमात्र विकल्प है या कि उन्हें फाँसी पर लटका देने से सब ठीक हो जाएगा! परसाई के अनुसार इस समस्या से निजात पाने के लिए व्यवस्था परिवर्तन जरूरी है। 'सदाचार का ताबीज' में एक विशेषज्ञ कहता है- ''भ्रष्टाचार मिटाने के लिए महाराज को व्यवस्था में बहुत परिवर्तन करने होंगे। भ्रष्टाचार के मौके मिटाने होंगे।...''[18]

औपनिवेशिक प्रशासनिक ढाँचे को अपना लेने और उस पर निर्भर हो जाने के बाद नेहरू प्रशासनिक व्यवस्था में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर पाए। लेकिन सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन के लिए उन्होंने दृढ़ता का परिचय दिया। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि भारत में राजनीतिक लोकतंत्र तो लागू कर दिया गया है लेकिन देश अभी भी सामाजिक लोकतंत्र के तैयार नहीं दिखता। नेहरू ने सामंती समाज को लोकतांत्रिक समाज बनाने के निरंतर प्रयास किए। हिंदू कोड बिल के मुद्दे पर हिंदू समाज के प्रचंड विरोध को देखते हुए उन्होंने चार कदम आगे बढ़कर दो कदम पीछे हटने की रणनीति अपनाई अन्यथा अधिकांश मुद्दों पर वह दृढ़ता से अड़े रहे।

एक बार परसाई के एक वामपंथी मित्र ने हास-परिहास में कह दिया कि नंबूदरीपाद और उसके सहयोगी मंत्री छोटे मकानों में रहते हैं, उन्होंने अपने आचरण और नैतिक प्रभाव से नेहरू का भव्य आवास छुड़वा दिया और वेतन कम करा दिया, जिसका अनुकरण अब अन्य कांग्रेसियों को भी करना पड़ेगा। इसका जवाब परसाई ने 'अरस्तू की चिट्ठी' में दिया है- ''यह ठीक है कि नंबूदरी ने नेहरू का मकान छुड़वा दिया, पर नेहरू ने नंबूदरी की पिस्तौल छीन ली है।...नंबूदरीपाद और उनकी पार्टी पिस्तौल में विश्वास करते थे, पर वैधानिक तरीके से निर्वाचन द्वारा केरल में साम्यवादी सरकार बन गई। ...कांग्रेस में सबसे प्रगतिशील व्यक्ति नेहरू है, सबसे अधिक जनवादी है, सबसे अधिक खुले दिमाग का है।... वह नंबूदरी की मदद कर रहा है- इसके दो लाभ हैं। एक तो कम्युनिस्टों के आंदोलन को वैधानिक रूप देकर उपद्रवों को बंद किया। दूसरे इससे कांग्रेसियों का दिमाग ठीक रहता है।''[19]

परसाई ने नेहरू युगीन विसंगतियों पर प्रहार करके एक व्यंग्य लेखक का कर्तव्य निभाया, लेकिन वह भारतीय राजनीति और राष्ट्र निर्माण में नेहरू के योगदान को कदापि कम करके नहीं आँकते। जनता पार्टी की सरकार बनने के उपरांत नेहरू का कद छोटा करने और उनके नाम को मिटाने का एजेंडा चला तो परसाई ने ऐसे प्रयासों और जनता पार्टी के नेताओं की कड़ी आलोचना की–''नेहरू का तो अब कुछ बिगड़ने से रहा, उनकी मृत्यु हो चुकी है। असल मुसीबत यह है कि नेहरू की नीतियां भूत की तरह पीछे पड़ी हैं। जब तक नेहरू को नष्ट नहीं किया जाता तब तक जनसंघ भारत को हिन्दू राष्ट्र कैसे बना सकता है? चरणसिंह फिर से जमींदारी प्रथा कैसे ला सकते हैं, सामंतवाद कैसे चालू रख सकते हैं? अमेरिका के सामने समर्पण कैसे कर सकते हैं?''[20]

जनता पार्टी की सरकार न तो नेहरू के इतिहास को मिटाने में सफल रही और न उनके कद को छोटा कर सकी, तो फिर वही किया, जो वह कर सकती थी। जब लालकृष्ण आडवाणी सूचना प्रसारण मंत्री बने तो नेहरू के जन्मदिवस पर रेडियो से प्रसारित होने वाले कार्यक्रम में नेहरू का कद छोटा कर लिया। उनके नाम के साथ जुड़ जाने वाले राष्ट्र निर्माता आदि सभी विशेषण हटा लिए गए। उनके जीवनवृत्त से वे तथ्य भी हटा दिए गए, जो उनके योगदान को रेखांकित करते थे। नेहरू पर आधारित अन्य रेडियो कार्यक्रमों में भी ऐसा ही किया गया। जनता पार्टी के इस कृत्य का उपहास करते हुए परसाई ने कहा कि एक तो नेहरू की नीतियों ने नींद हराम कर रखी है। फिर उनका पाप इसलिए और बढ़ जाता है कि वह उस इंदिरा गांधी के पिता थे, जिसने इन लोगों को जेल में रखा। नेहरू को माफ करने पर विचार किया भी जा सकता था पर उनके इस अपराध को माफ नहीं कर सकते कि वह इंदिरा के पिता थे।

दूसरी आजादी लाने वालों के लिए नेहरू बड़ा सिरदर्द हो गए हैं। विदेशों में अटल बिहारी उनकी बुराई करें तो कोई उनकी बात ही न सुने। सरकार की नीतियों पर सवाल उठे तो नेहरू का नाम लेना पड़ता है कि हमारी सरकार नेहरू की नीतियों पर चल रही है। 'इस नेहरू का क्या करें?' परसाई ने इसी शीर्षक से लिखी व्यंग्य रचना में जनता पार्टी की सरकार और उसके नेताओं पर तीखा व्यंग्य किया है – ''एक आइडिया है। इस नेहरू को गाँधी जी की लाठी से पिटवाओ। नारे– नेहरू गाँधी विरोधी थे। हम गाँधी की नीतियों पर चलेंगे। महात्मा गाँधी की जय! गाँधी जी का चित्र गुरु गोलवलकर के साथ लगने लगा!''[21]

परसाई की व्यंग्य रचनाओं में सर्वाधिक राजनीतिक व्यंग्य जनता पार्टी की सरकार और संपूर्ण क्रांति के नेताओं के विरुद्ध मिलते हैं। इसका प्रमुख कारण यह नहीं कि जनता पार्टी की सरकार नेहरू विरोधी थी और परसाई नेहरू के प्रभाव में थे, इसका सबसे बड़ा कारण यह माना गया है कि संघ और जनसंघ इस पार्टी और सरकार में शामिल थे। गांधी जी का चित्र गुरु गोलवलकर के साथ लगने लगा था! परसाई की निगाह में अटल बिहारी वाजपेयी और आडवाणी गाँधीवादी समाजवाद का नारा लगाकर जनता को ठग रहे थे। गाँधी, गोडसे और सावरकर को एक पंक्ति बैठाया जा रहा था। आधुनिक भारत के निर्माताओं और स्वाधीनता संग्राम के नायकों को रिप्लेस करने का जो प्रोजेक्ट इस सरकार ने शुरू किया, आगे चलकर उसका सिलसिला अंतरराष्ट्रीय नायकों तक भी जा पहुँचा। भारतीय मजदूर संघ के अध्यक्ष दत्तोपंत ठेंगड़ी ने एक लेख लिखा, जिसकी मूल स्थापना थी कि पण्डित दीनदयाल उपाध्याय की तरह ही कार्ल मार्क्स भी एक चिन्तक थे। इस पर प्रतिक्रिया देते हुए परसाई ने कहा कि इससे अच्छा मजाक 1982 में कोई और नहीं हुआ। परसाई की मान्यता है कि जनता पार्टी की सरकार बनते ही इतिहास से भी छेड़खानी शुरू हो गई थी। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेता नानाजी देशमुख के कहने पर प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने कुछ इतिहास पुस्तकों पर प्रतिबंध लगा दिया। आजादी के नायकों को रिप्लेस करना भारत के इतिहास को बदलने की मुहिम का हिस्सा थी। इस मुहिम में गाँधी भी गोडसे से मात खा गए। जीते जी गोडसे की घृणा की बंदूक से निकली गोली खाई और अब गालियाँ भी खा रहे थे। गोडसे को महान देशभक्त सिद्ध किया जा रहा था। यह भी बताया जा रहा था कि गोडसे कितना आदर्शवादी था, महान उद्देश्य से प्रेरित था। हिंदुओं की हालत से बहुत दु:खी था। उसके विचार पवित्र और ऊँचे थे। वह आत्मबलिदानी और वीर था। उसे आधुनिक भारत का महानायक बनाया जा रहा था। उसकी महागाथाएं गढ़कर प्रचारित प्रसारित की जा रही थीं– जैसे कि उसकी भस्म एक पात्र में रखी है, जो वज्र बनेगी। अब सवाल यह है कि उस वज्र से कौन सा युद्ध जीता जायेगा? दरअसल उस वज्र से स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास और उसके जीवन मूल्यों को ध्वस्त करने के लिए ही ऐसे किसी वज्र की कल्पना की जा रही थी! इस पर परसाई ने तीखी प्रतिक्रिया देते हुए सवाल उठाया कि यदि गोडसे आत्मबलिदानी और महान जीवन मूल्यों का रक्षक था तो गाँधी

के जीवन मूल्य कैसे हैं- ''वे जीवन मूल्य घातक हैं जिनके प्रणेता गाँधी जी थे। दया, करुणा, मानवीयता, धर्म-निरपेक्षता, प्रेम - इनके लिए गाँधी जी थे, पर इनसे देश को नुकसान हो रहा था। इसलिए गोडसे जैसे महान देशभक्त ने उन्हें मारकर देश को बचा लिया।... गोडसे सही था, उसकी मान्यताएं सही थीं और वे मान्यताएं हैं - घृणा, नफरत, संकीर्णता, सांप्रदायिकता, हिंसा, द्वेष, हत्या! तो क्या हम जनता पार्टी की इस नई संस्कृति को मान लें।''[22]

जनता पार्टी की इस नई संस्कृति और नए चलन की तस्वीरों में गाँधी से आर.एस.एस. के ध्वज को प्रणाम कराया जा रहा था। दरअसल दीपावली के अवसर पर दिल्ली के जनसंघी शासन ने सस्ती मोमबत्ती सप्लाई कराई थी। मोमबत्ती के पैकेट पर गाँधी जी का फोटो था। फोटो में वह आर.एस.एस. के ध्वज को प्रणाम कर रहे थे। पीछे डॉ. हेडगेवार खड़े थे। इस नई संस्कृति और नई तस्वीरों का अगला कदम क्या हो सकता है, इसका दृश्य कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-''अगली बार गाँधी को हाफ पैंट पहना दिया जाएगा और भगवा टोपी पहना दी जाएगी। वह मजे में आर.एस.एस. के स्वयं सेवक के रूप में अमर हो सकते हैं। आगे वही अमर होगा, जिसे जनसंघ करेगा।''[23] इसी व्यंग्य रचना में परसाई यह आशंका भी व्यक्त करते हैं कि गोडसे जब भगतसिंह की तरह राष्ट्रीय हीरो हो जाएगा तब 'गाँधी निर्वाण दिवस' बदलकर 'गोडसे गौरव दिवस' हो जायेगा! तीस जनवरी को जनता पार्टी के स्थापना दिवस के रूप में भी मनाया जा सकता है!

परसाई जनता पार्टी की सरकार को संघ, जनसंघ और दक्षिणपंथियों की ही सरकार मानते थे। वह संघ और जनसंघ को केवल सांप्रदायिक कहकर नहीं छोड़ देते हैं बल्कि उन्हें फासिस्ट और देश के लिए सबसे बड़ा खतरा मानते थे- ''राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और भाजपा को केवल सांप्रदायिक कहकर टालना नासमझी है, अपने आपको धोखा देना और लोकतंत्र को खतरे में डालना है। ये फासिस्ट ताकतें हैं, जो हिंदू राष्ट्र की स्थापना करना चाहती हैं और इनका समझौता अमेरिकी साम्राज्यवाद से है।''[24]

जैसा कि सर्वविदित है कि परसाई पहले पहल समाजवादियों के साथ जुड़े और चार-पाँच साल बाद ही उनको रूमानी और वायवीय कहकर उनसे अलग होकर वामपंथ की राह पर आगे बढ़ गए। उन्होंने अपने समाज और राजनीति का मूल्यांकन मार्क्सवादी दृष्टि से किया है। उनकी अधिकांश राजनीतिक व्यंग्य रचनाएँ सामंतवादी, सांप्रदायिक और फासिस्ट ताकतों पर जोरदार प्रहार करती हैं। वह जनता पार्टी की सरकार को भी इसी दृष्टि से देखते थे। अतः उन्होंने सर्वाधिक राजनीतिक व्यंग्य जनता पार्टी की सरकार और उसके नेताओं के विरुद्ध लिखे हैं।

परसाई की व्यंग्य रचनाओं में जनता पार्टी की छवि कुछ ऐसी पतित-पावन दिखाई पड़ती है-''इसका आकार मनुष्य का है, सिर बारहसिंगा का है, दिमाग बन्दर का है, मुँह भालू का, दिल खरगोश का, पैर हाथी का, पाँव घोड़े का। बारह सींगों से यह दल हमला करना चाहता है, तो खरगोश का दिल रोक देता है। घोड़े के पाँव से दौड़ना चाहता है तो बन्दर का दिमाग कौतुक कराने लगता है। भालू खाऊँ-खाऊँ करता है और हाथी का पेट भरता ही नहीं है। जनसंघ का रोल सियार का है।''[25]

परसाई की निगाह में जनता पार्टी की यह पतित-पावन छवि पार्टी में शामिल सभी दलों के नेताओं के सामूहिक कृत्यों से बनी है। राजनारायण, चौधरी चरण सिंह, बाबू जगजीवन राम, मोरारजी देसाई, नानाजी देशमुख, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, जॉर्ज फर्नांडिस सभी नेताओं की इसमें भूमिका है। इस पतित पावन छवि को बनाने में सबसे बड़ी भूमिका संघ की है। उक्त नेताओं के रेखाचित्र, राजनीतिक टिप्पणियों एवम् विभिन्न व्यंग्य प्रयोगों के माध्यम से उनकी भूमिका को रेखांकित किया गया है- ''राजनारायण जनता पार्टी के मुँह हैं, जो चरणसिंह के सिर पर लगा है। सिर चरणसिंह खुद हैं। अफवाह है कि इस सिर में दिमाग भी है। भुजाएँ जनसंघ है। ऐसी यह मूर्ति है।''[26]

जिन दिनों परसाई ने चौधरी चरण सिंह के अंतर्विरोधों पर व्यंग्य किया, उन दिनों 'चौधरी साहब' को भारत रत्न की उपाधि नहीं मिली थी, यदि मिल जाती, तो भी परसाई उन पर इसी तरह तीखा व्यंग्य करते। इसका एक प्रमाण यह है कि उन दिनों चरण सिंह 'लौह-पुरुष' मान लिए गए थे और 'जाटादित्य' या 'चौधरी साहब' तो पहले से ही थे। फिर भी परसाई ने उन पर भरपूर व्यंग्य प्रहार किए और उनके व्यक्तित्व में विद्यमान लौह तत्व का उपहास उड़ाया है- ''हम डरते नहीं हैं। राष्ट्रपति का भी सामना कर लेंगे। हम लौह पुरुष हैं। हमारे हाथ पाँव ही नहीं, दिमाग तक लोहे का है।''[27] उपर्युक्त कथन चौधरी चरण सिंह ने अपने 'हनुमान' राजनारायण से परसाई की व्यंग्य रचना में कहे हैं। उपर्युक्त नाटकीय संवाद के माध्यम से परसाई ने चौधरी चरण सिंह और राजनारायण दोनों का ही उपहास उड़ाया है। लोगों को राजनरायण का उपहास उतना नहीं अखरता जितना चौधरी चरण सिंह का उपहास अखरता है

क्योंकि राजनारायण भी स्वयं को चौधरी चरण सिंह का हनुमान कहते थे। जब तक लोहिया जीवित थे तब तक वह उनके हनुमान रहे। एक समय वह मेनका गाँधी के हनुमान बनने को तत्पर थे। परसाई ने उन्हें चरण सिंह के दरबार का विदूषक और राजनीति का बुलडोजर भी कहा है–''राजनारायण नाम का बुलडोजर डॉक्टर लोहिया के जीवन काल में भी अपनी ही समाजवादी पार्टी के झोंपड़े पर चलता था। लोहिया चुपचाप पैट्रोल निकलवा लेते थे इसलिए उनके जमाने में वह जर्मीदोज नहीं हुआ। मगर लोहिया की मृत्यु के बाद बुलडोजर में चौधरी चरण सिंह ने बैल जोतकर समाजवादी झोंपड़ी को तोड़ दिया। ...राजनारायण अगर बुलडोजर हैं तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ डाइनामाइट फैक्ट्री है।''[28]

अर्थात् समाजवादी पार्टी के लिए राजनारायण से ज्यादा खतरनाक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ रहा है। राजनारायण और जॉर्ज फर्नांडिस को परसाई समाजवादी दल के भिंडरावाला कहते थे–''शुरू से समाजवादी पार्टी में दो भिंडरावाला रहे हैं– जॉर्ज फर्नांडिस और राजनारायण। डॉ. लोहिया थे, तो वे इनसे हिसाब से तलवार चमकवाते थे। लोहिया की मृत्यु के बाद समाजवादियों ने अपने हाथ अपनी बड़ी दुर्गति की। अच्युत पटवर्धन ने इनके हाथ जोड़कर आश्रम खोल लिया। बुद्धिजीवी किशन पटनायक भी इनके हाथ जोड़कर तटस्थ हो गए और पढ़ने लिखने लगे।''[29]

राजनारायण की हनुमान की छवि को आधार बनाते हुए परसाई ने सवाल उठाया कि इस हनुमान का जामवंत कौन है? कौन है, जो बार–बार राजनारायण को उकसाकर जनता पार्टी के भीतर उपद्रव करवाता है? लोहिया इस हनुमान की शक्तियों को काबू में रखकर कुछ रचनात्मक कार्य भी करा लेते थे लेकिन उनकी मृत्यु के बाद नानाजी देशमुख ने इस हनुमान का जामवंत बनकर बहुत से राजनीतिक उपद्रव करवाए– ''हर हनुमान को एक जामवंत चाहिए। जवान मंत्रियों के जामवंत हैं नानाजी देशमुख। उन्होंने ही कहा साठ साल से ऊपर के नेताओं को रिटायर होकर युवा लोगों को सत्ता सौंप देना चाहिए। नानाजी ने कहा – धिक्कार है तुम्हारी जवानी को! अरे उठो! निकालो तीनों बूढ़ों को और सत्ता हथिया लो।''[30]

दरअसल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की पूर्व योजना के अनुसार नानाजी देशमुख ने नारा लगाया कि साठ साल से ऊपर के नेताओं को रिटायर हो जाना चाहिए। नानाजी नारा लगाते और बाला साहब देवरस कहते– नहीं–नहीं, यह ठीक नहीं है। वे तीनों बूढ़े तो संत हैं। यह सर्वविदित है कि यहाँ मोरारजी देसाई, बाबू जगजीवन राम और चौधरी चरण सिंह वे तीन बूढ़े हैं, जिनके विरुद्ध जनता पार्टी के युवा नेताओं को नानाजी देशमुख भड़का रहे थे। एक तथ्य यह भी है कि ये तीनों ही जनता पार्टी में प्रधानमंत्री पद के दावेदार थे और तीनों को ही पदलोलुप माना जाता है। नानाजी इन तीन बूढ़े और आठ जवान नेताओं से अलग–अलग समय पर कहते कि हम तुम्हें प्रधानमंत्री के रूप में देखना चाहते हैं, हमारा समर्थन तुम्हारे साथ है। इस प्रकार नानाजी देशमुख इन तीनों को भी एक दूसरे के विरुद्ध भड़काने में सफल रहे। नानाजी के झाँसे में आकर ही चौधरी चरण सिंह ने प्रधामंत्री मोरारजी देसाई के बेटे कांतिभाई देसाई के भ्रष्टाचार का मामला भी जोर–शोर के साथ उठा दिया। उधर नानाजी देशमुख मोरारजी देसाई को भड़काते कि यह कैसा गृहमंत्री है, जो अपने ही प्रधानमंत्री के विरुद्ध विद्रोह भड़का रहा है! इसका गृहमंत्री रहना ठीक नहीं है। नानाजी का इशारा समझकर मोरारजी देसाई ने चौधरी चरण सिंह से गृह मंत्रालय छीन लिया। इस तरह नानाजी अपनी योजना में एक हद तक सफल रहे कि मोरारजी देसाई, चौधरी चरण सिंह और जगजीवन राम को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके जनता पार्टी के भीतर खूब उपद्रव करवा सके। पार्टी के नेताओं और सरकार की छवि पर खूब कालिख पुतवा सके।

अब सवाल यह है कि नानाजी देशमुख अपनी ही पार्टी के विरुद्ध ऐसे षड्यंत्र क्यों रहे थे? दरअसल मोरारजी देसाई, जगजीवन राम और चौधरी चरण सिंह को मार्ग से हटाए बिना नानाजी देशमुख अपने प्यारे अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री नहीं बनवा सकते थे। जबकि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पार्टी की सरकार पर कब्जा करने का सपना देख रहा था। इस सपने को साकार करना नानाजी देशमुख का सपना था– ''बालासाहब देवरस ने 1979 में कहा था, संघ दस सालों में देश की सरकार पर कब्जा करना चाहता था।''[31] पर जनता पार्टी की सरकार ही गिर गई और बालासाहब देवरस भी अपने बयान से मुकर गए, जबकि नानाजी देशमुख उसी योजना पर काम कर रहे थे–''मामला जनता पार्टी और सरकार पर कब्जा करने का है। मकान पर कब्जा करना है। और मकान पर कब्जा करने का वही तरीका है... संघ पेटी बिस्तर (अर्थात्) अटल बिहारी और लालकृष्ण आडवाणी को खिड़की से मकान के अंदर डाल चुका है। अब नानाजी बाहर से दरवाजा खटखटा रहे हैं–अरे भैया, दरवाजा खोलो, हमारा मकान है। हमारा सामान रखा है। नहीं खोलते तो हम लठैत बुलाकर

जबरदस्ती कब्जा कर लेंगे।''[32]

जनता पार्टी के विभिन्न दलों और नेताओं की छवि खराब करना, जनता पार्टी पर कब्जा करने की रणनीति बनाना, इन सब कामों की जिम्मेदारी नानाजी को दी गई थी, उनकी कूटनीति जोरदार थी। उन्होंने पहले दौर में तो जनता पार्टी की सदस्यता-बही अपने स्वयंसेवकों के अलावा किसी को दी ही नहीं। उनकी योजना थी कि अपने लोगों को ज्यादा से ज्यादा संख्या में सदस्य बनाकर पार्टी में चुनाव कराकर पार्टी पर कब्जा कर लिया जाए। अंततः संघ की यह योजना विफल रही। जनता पार्टी की सरकार गिर जाने के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सारी उम्मीदें 'अपने प्यारे अटल बिहारी' से थीं। अटल जी को संघ अपना अर्जुन मानता रहा है। इस अर्जुन का निशाना भी चिड़िया की आँख पर रहा है। अटल बिहारी वाजपेयी ने कह दिया कि तीन महीने में यदि जनता सरकार जनता का विश्वास हासिल नहीं कर सकी, तो वह (अटल जी) मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे देंगे। इस पर परसाई लिखते हैं -''इमेज बन रही है - देश का दर्द बस अटल बिहारी को ही है।...त्यागी अटल बिहारी... जनता सरकार के मालिक अटल बिहारी... अटल बिहारी मोरारजी से शिकायत करते हैं अपने ही संगठन के कट्टर संघी डॉक्टर स्वामी की - यह स्वामी हमें छेड़ता है, कक्का जी!... अटल बिहारी की सर्वमान्य इमेज बनाने के लिए संघ की योजना सुविचारित है। अटल बिहारी का हाल उस चंचला नारी सरीखा है, जो चाहती है कि सारा शहर उस पर जान दे। इसके लिए वह मुहल्ले के एक छोकरे को रुपया देकर कहती है कि तू मुझे सड़क पर छेड़ना। छोकरा छेड़ेगा तो हल्ला होगा, शहर में बात फैलेगी कि हाँ यार, यहाँ कोई 'मारू' रहती है, गजब की है यारो!''[33]

जिन व्यंग्य रचनाओं में परसाई ने जनता पार्टी की सरकार और उसके नेताओं का उपहास उड़ाया है, उन रचनाओं का महत्व कुछ घट गया है, जबकि उनका व्यंग्य इससे बहुत ऊंचे दर्जे का है। परसाई ने नेताओं का उपहास उड़ाते हुए सामंतवादी भाषा और मुहावरों का खूब प्रयोग किया है। दिलचस्प प्रश्न यह है कि उस दौर में किसी आलोचक ने परसाई की उक्त भाषा पर कोई सवाल क्यों नहीं उठाया! परसाई का चरित्रहनन करने वाले कलमकारों ने भी उनकी भाषा में आई सामंती ठसक पर कोई सवाल उठाने की हिम्मत नहीं दिखाई, शायद उन्हें यह भी समझ न आया हो कि सामंतवादी भाषा और मुहावरों पर आपत्ति की जानी चाहिए। शायद यह भाषा उस दौर के पाठकों को गुदगुदाती रही होगी!

परसाई ने किन शक्तियों का उपहास उड़ाया है, इस संदर्भ में विष्णु नागर की टिप्पणी बहुत महत्त्वपूर्ण है -''परसाई जी ने कभी किसी कमजोर की हँसी नहीं उड़ाई और किसी ताकतवर को बख्शा नहीं। चाहे वह उस जमाने के सबसे ताकतवर समझे जाने वाले नेता हों या अज्ञेय जैसे लेखक और नंददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक।''[34]

जनता पार्टी की सरकार और उसके नेताओं को लक्ष्य करके परसाई ने कुछ महत्वपूर्ण व्यंग्य रचनाएँ भी लिखी हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति और इमरजेंसी के संयोग से जब जनता पार्टी की सरकार बन गई, तो इस सरकार ने अभी तक की तमाम सरकारों के कार्यों और उपलब्धियों को पूरी तरह नकारना शुरू कर दिया, सबको शून्य मान लिया, 'अपने वर्तमान' के पूर्व के इतिहास को खारिज कर दिया। नेहरू का नाम लेना या उन्हें भारत की किसी उपलब्धि में श्रेय देना राजद्रोह के बराबर माना जाने लगा। अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों को पुरानी सरकारों की ओर धकेलना शुरू कर दिया। (यह सब वैसा ही था जैसा कि वर्तमान सरकारें पिछले दस सालों से कर रही हैं।) तब परसाई ने जनता पार्टी की सरकार के इस चरित्र पर बहुत गहरा व्यंग्य प्रहार किया-''जनता सरकार का भक्त होने के नाते उसकी पहली वर्षगांठ पर मैं यह घोषणा करना चाहता था कि इस एक साल में हिमालय बना लिया गया है और गंगा खोद ली गई है। तीस साल के कांग्रेसी शासन ने प्रोजेक्ट हिमालय और गंगा को ठंडे बस्ते में डाल रखा था। पिछले तीस सालों में इस देश में एक चूहेदानी तक नहीं बनी...''[35] उक्त व्यंग्य रचना में नैरेटर 'जनता सरकार' की ऐसी अनन्त उपलब्धियों का बखान करना चाहता है लेकिन तभी उसे विपक्षी दलों का ख्याल आ जाता है कि वे कमबख्त क्या कहेंगे? शायद वे कहेंगे कि अगर हिमालय और गंगा का श्रेय लेते हो तो फिर दक्षिण के समुद्री तूफान की भी जिम्मेदारी लो।

'जनता सरकार' अपनी जिम्मेदारी को किस अदा से निभाती है, इसकी एक बानगी परसाई ने 'एक अपील का जादू' में प्रस्तुत की है। दरअसल मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार से त्रस्त जनसमूह प्रधानमंत्री के पास जाकर महंगाई और भ्रष्टाचार से राहत की माँग करते हैं। प्रधानमंत्री जनसमूह से कहते हैं कि मैं व्यापारियों से अपील कर दूंगा, वे कीमतें घटा देंगे। इस पर एक व्यक्ति ने कहा-''साहब, कुछ प्रशासकीय कदम नहीं उठाएंगे? दूसरे ने कहा-साहब, कुछ अर्थशास्त्र के भी तो नियम होते हैं। प्रधानमंत्री ने कहा-मेरा विश्वास न अर्थशास्त्र में है, न प्रशासकीय कार्यवाही में। यह गाँधी का देश है। यहाँ

हृदय परिवर्तन से काम होता है।''[36] प्रधानमंत्री की अपील गजब ढाती है कि सब मुनाफाखोरों और भ्रष्टाचारियों का हृदय परिवर्तन हो जाता है! वे नैतिकता अपनाने पर आमादा हो जाते हैं! चारों तरफ नैतिकता बरसने लगती है! जनसामान्य इतनी नैतिकता नहीं पचा पाता। इस व्यंग्य रचना में परसाई ने यथार्थ को फैंटसी में फेंटकर यथार्थ का ऐसा विलोम रच दिया है कि विद्रूप यथार्थ भयानक हो उठता है। 'जनता सरकार' के प्रधानमंत्री की अपील के जादू से पाठक को भी सहज समझ आ जाता है कि इस देश में समस्याओं को टोना-टोटका और भाषणों से हल किया जाता है।

परसाई की व्यंग्य रचनाओं से ध्वनित होता है कि जनता पार्टी सरकार एक जिम्मेदारी को बखूबी निभा रही थी - वह 1977 से पूर्व के इतिहास को मिटाने का काम पूरी जिम्मेदारी से कर रही थी। जनता पार्टी के जन्म से पूर्व भारत का इतिहास अंधकार युग था! भारत निर्माण के सारे काम 1978 में हुए! भारत को अब हिंदू राष्ट्र बनाने का मार्ग प्रशस्त हो रहा था! परसाई की व्यंग्य रचनाओं में आकर 'जनता सरकार' के नेताओं का बड़बोलापन हास्यास्पद हो जाता है। स्वयं परसाई इस बात का ध्यान दिलाते हैं कि विसंगतियों का हास्यास्पद होना एक बात है लेकिन यहाँ तो प्रेरक प्रसंग, सुविचार और अच्छी बातें भी हास्यास्पद हो गईं हैं! यही है- 'जनता सरकार' की सबसे बड़ी उपलब्धि! मोरारजी देसाई के एक वक्तव्य को सुनने के उपरांत परसाई अपने मित्रों से पूछते हैं, यदि कोई बड़ा नामधारी व्यक्ति प्रेरक और अच्छी बातें कहे तो उस पर कैसी प्रतिक्रिया होगी? यदि वह कहे कि सदाचार का पालन करना चाहिए, नि:स्वार्थ सेवा करनी चाहिए, मानव सेवा और देश सेवा करनी चाहिए। सत्य बोलना चाहिएय तो सुनने वाला क्या प्रतिक्रिया करेगा? सुन लेगा। प्रेरित हो या न हो, गम्भीर रहेगा। टाल देगा। हँसेगा तो हरगिज नहीं। मगर ऐसी बातों पर अब हँसी भी आने लगी है। ये नेता-मंत्री बस इतना करते हैं कि कहीं ऐसी बात कह देते हैं - मानव सेवा ही धर्म है, और लोग हँसने लगते हैं। क्या इतने सालों में ये अच्छी-अच्छी बातें ही मजाक बन गई हैं? ''कैसे सुकर्म किये हमारे नेतृत्व वर्ग ने कि अच्छे उपदेश की बात उनके मुँह से सुनकर हँसी लगती है। ...कितनी कड़ी और लगातार मेहनत की है इन लोगों ने हर आदर्श को मजाक बना देने के लिए! 1947 में देशसेवा की बात सुनकर गंभीरता से प्रेरित होते थे, 1978 में हँसते हैं।...मुझे देशवासियों की चिन्ता है, हँसेंगे तो मर जाएंगे।''[37]

1980 में परसाई का व्यंग्य संकलन प्रकाशित हुआ - शीर्षक था - 'विकलांग श्रद्धा का दौर'। इसमें संकलित एक व्यंग्य रचना का शीर्षक था- 'विकलांग राजनीति'। संकलन में 1975-1979 के कालखण्ड की चुनिंदा रचनाएँ सम्मलित हैं। जैसा कि संकलन के शीर्षक और संकलित व्यंग्य रचनाओं से ध्वनित होता है कि यह दौर सामाजिक राजनीतिक मूल्यों की गिरावट का दौर था। इस दौर के प्रति परसाई ने निराशाजनक स्वर में पुस्तक की भूमिका में लिखा है-''इतना झूठ, फरेब, छल पहले कभी नहीं देखा था। दगाबाजी संस्कृति हो गई थी। दोमुंहापन नीति। बहुत बड़े-बड़े व्यक्तित्व बौने हो गए थे। श्रद्धा सब कहीं से टूट गई। भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था - न व्यक्ति पर, न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया।''[38]

परसाई ने उस दौर के इस नंगेपन को अपनी व्यंग्य रचनाओं में ढकने के बजाय और अधिक खोल दिया है। दिलचस्प बात यह है कि राजनीतिक मूल्यों में आई जिस गिरावट को परसाई बार-बार अपनी व्यंग्य रचनाओं के विषय के रूप में उठाते हैं, उसी गिरावट की बात इंदिरा गाँधी भी कर रही थीं और उसी गिरावट को जयप्रकाश नारायण भी धिक्कार रहे थे! इतना ही नहीं, वह इसी राजनीतिक गिरावट को सभी सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचार की जड़ मान रहे थे। परसाई भी राजनीतिक मूल्यों की गिरावट का संबंध तमाम जीवन स्थितियों से जोड़कर देखते हैं। लोकतंत्र को बचाने के लिए इंदिरा गाँधी जे.पी. मूवमेंट और संपूर्ण क्रांति के विरुद्ध डटकर खड़ी थीं! लोकतंत्र की ही रक्षा के लिए ही जयप्रकाश नारायण इंदिरा गाँधी की सरकार को उखाड़ देने के लिए कटिबद्ध हो गए! जबकि इंदिरा गाँधी का आपातकाल लोकतंत्र के लिए बहुत बड़ा झटका था और जयप्रकाश नारायण की संपूर्ण क्रांति भी संसदीय लोकतंत्र के प्रतिकूल मानी गई। जयप्रकाश नारायण ने कई अवसरों पर संसदीय लोकतंत्र की तीखी आलोचना करते हुए, इस लोकतंत्र को नकार दिया था-''जे.पी. ऐसे पहले प्रमुख भारतीय नेता थे जिसने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाया। ... जिस लोकतांत्रिक प्रणाली को हम चला रहे हैं वह अत्यंत छोटे वर्ग का खेल है...''[39] जयप्रकाश नारायण ने कहा कि एक तो यह संसदीय लोकतंत्र विदेशी है, पश्चिमी से उधार लिया गया है, फिर यह अत्यंत छोटे वर्ग का खेल है, यह राजनीतिक भ्रष्टाचार का खेल है। ''लोकतंत्र में आतातायियों के बीच प्रतियोगिता होती रहती है।''[40]

संसदीय राजनीतिक प्रणाली पर जैसे ही जयप्रकाश नारायण

के राजनीतिक हमले शुरू हुए, संघ, जनसंघ एवं अन्य राजनीतिक दलों का खेल शुरू हो गया। सांप्रदायिक, जातिवादी एवं प्रतिक्रियावादी राजनीति करने वाले जो दल अभी तक सत्ता में नहीं पहुँच सके थे, उन्हें सत्ता तक पहुँचने का मार्ग जे. पी. आंदोलन में दिखने लगा। जयप्रकाश नारायण के संसदीय लोकतंत्र-विरोधी वक्तव्यों का उन लोगों ने फायदा उठाया जिनकी लोकतंत्र में निष्ठा नहीं थी। इस वातावरण में उनका अनुकरण करते हुए बहुत से लोगों ने संसदीय राजनीतिक प्रणाली और लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर प्रश्नचिन्ह लगाने शुरू कर दिए- ''संसदीय प्रणाली की अवमानना फैशन सा हो गया। जनसंघ के संसदीय दल के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने 8 दिसंबर 1974 को लोकसभा से यह कहकर त्यागपत्र दे दिया कि देश की जनता की सेवा के लिए संसदीय लोकतंत्र अब एक प्रभावी उपकरण नहीं रह गया है।...मध्यवर्ग में बहुत से लोग खुलेआम संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर सैनिक तानाशाही के स्थान ग्रहण करने की आशा करने लगे।''[41] देश में तानाशाही तो आई लेकिन यह आपातकाल की तानाशाही थी, सम्पूर्ण क्रान्ति के जरिए आने वाली वह सैनिक तानाशाही नहीं थी, जिस सैनिक तानाशाही की कल्पना मध्यवर्गीय समूह कर रहे थे। सम्पूर्ण क्रान्ति के फलस्वरूप जनता पार्टी की वह सरकार अवश्य आई, जिसकी राजनीतिक संस्कृति को परसाई ने राजनीतिक मूल्यों की गिरावट और सामाजिक सांस्कृतिक पतन माना है। परसाई ने जनता पार्टी सरकार पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण क्रान्ति के नायक 'लोकनायक जयप्रकाश नारायण' और संपूर्ण क्रांति पर भी बहुत गहरे व्यंग्य किए हैं। उन्होंने 'तीसरी आजादी का जाँच कमीशन' शीर्षक से एक शृंखला शुरू की, इसकी एक कड़ी में जयप्रकाश नारायण जाँच कमिशन के समक्ष उपस्थित होते हैं और पूछे गए सवालों के जो जवाब देते हैं, वे बहुत व्यंजक हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति हेतु संगठन के सवाल पर वह जवाब देते हैं-''एक दिन मेरे पास जनसंघ के नेता नानाजी देशमुख आए। बोले, 'इंदिरा गांधी संघ को फासिस्ट कहती है। क्या आप भी उसे फासिस्ट मानते हैं?' मैंने कहा, 'मैं उस हर चीज को नहीं मानता जो इंदिरा या कम्युनिस्ट कहते हैं। फिर नानाजी, तुम मुझे इतने प्यारे लगते हो कि तुम फासिस्ट हो तो मैं भी फासिस्ट होना पसंद करूँगा। कम्युनिस्ट और फासिस्ट में चुनाव करना पड़े तो हम फासिस्ट को चुनेंगे।' तब नानाजी ने कहा, देखिए आपके पास संगठन नहीं है और हमारे पास लोकनायक नहीं है। तो हम मिल जाएँ।''[42]

जे.पी. के पास कोई व्यापक संगठन नहीं था, सर्वोदयी अवश्य थे लेकिन वे संपूर्ण क्रांति के लिए न के बराबर थे, भूदान आंदोलन की बात अलग है। अत: जे.पी. संपूर्ण क्रांति के लिए विद्यार्थियों, इंदिरा विरोधी और दक्षिणपंथी राजनीतिक संगठनों पर निर्भर हो गए। श्इंदिरा विरोध' को बिपन चंद्र ने सामान्य कारक माना है कि सम्पूर्ण क्रान्ति से जुड़े संगठन, नेतृत्व और कार्यकर्ता सभी इंदिरा विरोधी थे। जे.पी. भी कोई कम इंदिरा विरोधी नहीं थे, वह तो इतना आगे निकल जाते हैं कि स्वयं को फासिस्ट कहने में संकोच नहीं करते। संघ ने जे. पी. के इस विश्वास का दुरुपयोग करते हुए जे.पी. मूवमेंट को ही हाईजैक कर लिया। परसाई कहते हैं कि नानाजी देशमुख ने तो स्वयं को 'असिस्टेंट लोकनायक' नियुक्त कर लिया - ''नानाजी को आशा थी कि लोकनायक खुद ही उन्हें असिस्टेंट लोकनायक नियुक्त कर देंगे। देरी दिखी, तो नानाजी ने अपना नियुक्ति-पत्र खुद ही टाइप कर लिया। उस पर लोकनायक के दस्तखत करके उसे जारी कर दिया। अब नानाजी संपूर्ण क्रांति करेंगे।''43

परसाई ने कई अवसरों पर संपूर्ण क्रांति का मजाक उड़ाया है कि इसमें शामिल दक्षिणपंथियों की कारगुजारियों ने उक्त क्रांति का चरित्र ही बदल दिया। परसाई यह भी मानते हैं कि वर्ग संघर्ष को रोकने के लिए गोयनका वगैरह पूंजीपतियों ने संपूर्ण क्रांति में निवेश किया। दरअसल इंदिरा गाँधी की नीतियों से पूंजीपति बहुत नाराज हो गए थे। 'प्रिवी पर्स' को समाप्त करना और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के इंदिरा गाँधी सरकार के फैसले और उनकी लोकप्रियता को पूंजीपति बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे, उन्हें डर था कि यदि इंदिरा सरकार यूँ ही लोकप्रिय बनी रही, और अगले चुनाव में फिर से यही सरकार बन गई तो पूंजीपतियों के प्रतिकूल कुछ और कड़े कानून बना देगी! दरअसल साम्यवाद की ओर इंदिरा गाँधी का झुकाव उन्हें कतई पसंद नहीं था। जे.पी. भी इंदिरा के प्रति अपनी नाराजगी के कारणों में एक कारण यह बताते हैं कि इंदिरा गाँधी सरकार पर बोलशेविकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था - ''जे.पी. को इस बात का पूरा खतरा था कि सी.पी.आई. के उकसाने पर और सोवियत संघ के हित में श्रीमती गाँधी भारत में एकदलीय प्रणाली स्थापित कर देंगी।''[44]

इंदिरा सरकार के विरुद्ध मोर्चा खोले जाने का एक बड़ा कारण भ्रष्टाचार था। दिलचस्प बात यह है कि भ्रष्टाचार के कारण गुजरात के मुख्यमंत्री चिमनभाई पटेल का इस्तीफा लेने के लिए इंदिरा गाँधी पर खूब दबाव बनया गया था, उसी चिमनभाई पटेल के समर्थन से बनी सरकार की प्रशंसा करने

में जे.पी. ने कोई संकोच नहीं किया, आगे चलकर उसी चिमन भाई पटेल को जनता पार्टी में शामिल भी कर लिया गया। इस पर इंदिरा गाँधी ने जे पी को लिखे पत्र में कहा–''विडंबना है कि कुछ व्यक्तियों द्वारा भ्रष्टाचार के आरोपों का अपने पक्ष में राजनीतिक हथियार के रूप में उपयोग होता है।...जो व्यक्ति कांग्रेस में रहते हुए भ्रष्ट होता थे, वे कांग्रेस से बाहर आते ही स्वच्छ हो गए हैं।''[45]

परसाई ने जे.पी. मूवमेंट और जनता पार्टी सरकार की राजनीति पर जो व्यंग्य प्रहार किए हैं, उन पर वामपंथी विचारधारा और पार्टीलाइन का लेबल चिपकाकर हिंदी आलोचना ने चुप्पी साध ली (कृष्णदत्त पालीवाल जी का लेख अपवाद है।) जबकि संपूर्ण क्रांति की विसंगतियों पर शरद जोशी ने भी व्यंग्य प्रहार किए हैं और क्रांति के आडंबरों का उपहास किया है–''एक क्रांति पूर्ण होने पर यूँ भी संपूर्ण हो सकती है, बशर्ते वह पूर्ण हो। पूर्ण और संपूर्ण में अंतर क्या है? हम 'संपूर्ण क्रांति करेंगे' कहने के बजाय हम क्रांति पूर्ण करेंगे नहीं कहा जा सकता है क्या? क्या सिर्फ यह कहने से काम नहीं चलेगा कि हम क्रांति करेंगे।...इस क्रांति की विशेषता है कि वह सम्पूर्ण से ही चालू हुई है।...कहने को सम्पूर्ण है, पर आरंभ नहीं हुई है।''[46]

शरद जोशी ने संपूर्ण क्रांति पर खूब मजे ले-लेकर लिखा है जबकि परसाई के इस राजनीतिक लेखन में तीखापन ज्यादा है, कहीं उपहास, कहीं खीझ तो कहीं-कहीं उनका व्यंग्य दोषारोपण तक भी चला गया है–''क्रान्ति आखिर क्या है? प्याऊ है, जिसे पैसेवाला खोल देता है और हम उसका खैराती पानी पीते हैं? सम्पूर्ण क्रान्ति की प्याऊ भी तो लोकनायक ने गोयनका वगैरह से खुलवा दी है।''[47]

यदि संपूर्ण क्रांति की यह प्याऊ किसी धन्नासेठ ने न खुलवाई होती, यह जनता से चंदा इकट्ठा करके बनी होती, तो परसाई क्या करते? क्या वह उस प्याऊ का पानी पीते? शायद तब भी वह इस प्याऊ का पानी नहीं पीते क्योंकि इस प्याऊ का प्रबंधन संघ और जनसंघ सरीखी सांप्रदायिक शक्तियों के हाथ में था, जिन पर परसाई कदापि भरोसा नहीं कर सकते। परसाई की मृत्यु के तीन दशक हो चुके हैं लेकिन कोई आलोचक ऐसी संभावना भी नहीं खोज पाया है, जिसके आधार पर परसाई और सांप्रदायिक ताकतों के बीच की खाई को पाटकर परसाई का शुद्धिकरण कर लिया जाए। भारतीयता और संस्कृति के नाम पर भी सांप्रदायिक और फासिस्ट ताकतें परसाई को नहीं भरमा सकीं हैं। जबकि प्रेमचंद सरीखे सिद्धहस्त लेखक की ऐसी हालत कर रखी है-कोई उनके हाथ में प्रगतशील और बोलशेविकों का झंडा पकड़ा देता है, कोई भगवा चादर ओढ़ा देता है। कोई उन पर जातिवादी और दलित द्रोही होने का आरोप लगा देता है, किसी की नजर में वह ब्राह्मण द्रोही हैं, तो कोई उन्हें दलितों का मसीहा घोषित कर देता है। ऐसी छेड़छाड़ कोई धुरंधर परसाई के साथ कर सकता है!

यद्यपि परसाई ने अपने समय के सभी भारतीय राजनीतिक दलों और उनके प्रमुख नेताओं की विसंगतियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य प्रहार किए हैं तथापि संघ, जनसंघ, सर्वोदयी, जे.पी. मूवमेंट, जनता पार्टी और कांग्रेस की राजनीति पर अधिक गहरे व्यंग्य प्रहार किए और उपहास भी उड़ाया है। संपूर्ण क्रांति और उसके नायकों पर किए गए व्यंग्य प्रहार हमें ज्यादा परेशान करते हैं, क्योंकि हम यह स्वीकार नहीं कर पाते कि आपातकाल के तमाम दमनात्मक कृत्यों के कारण जे.पी. मूवमेंट आलोचनाओं से परे नहीं हो सकता और जे.पी. मूवमेंट की तमाम विसंगतियों और असंवैधानिक कार्यवाहियों के आधार पर आपातकाल को 'अनुशासन पर्व' नहीं कहा जा सकता। 'अनुशासन पर्व' कहकर आपातकाल को उचित नहीं ठहराया जा सकता–''जब अपातकाल लागू हो गया तो जे पी और इंदिरा गाँधी, दोनों ने राय प्रस्तुत की कि चुनाव कराना ही सर्वोत्तम उपाय था।''[48]

आपातकाल और संपूर्ण क्रांति दोनों शिविरों के दोनों सूत्रधार नेताओं ने यह स्वीकार कर लिया कि चुनाव कराना ही सबसे अच्छा विकल्प था, अर्थात् आपातकाल भी अनुचित था और संपूर्ण क्रांति भी दोष रहित कदापि नहीं थी। लेकिन जे.पी. के प्रति श्रद्धा रखने वाले बुद्धिजीवी संपूर्ण क्रांति की आलोचना को खुले मन से स्वीकार नहीं कर पाते। परसाई के प्रति कृष्णदत्त पालीवाल जी के रोष का कारण भी यह है कि जे.पी. मूवमेंट और जनता पार्टी सरकार पर परसाई के तीखे व्यंग्य उन्हें बहुत अखरते हैं। परसाई से उनकी यह अपेक्षा भी है कि पहले आपातकाल की कड़ी निंदा करो, फिर जे.पी. मूवमेंट पर बोलो। इसमें कोई दो राय नहीं कि परसाई ने जिस गहराई से जनता पार्टी सरकार और जे.पी. मूवमेंट पर लिखा है, आपातकाल पर नहीं लिखा। यद्यपि उन्होंने न तो अपातकाल के पक्ष में लिखा है और न ही इंदिरा गाँधी और उनकी सरकार को आलोचनाओं से परे माना है। वह जनता पार्टी के नेताओं पर व्यंग्य प्रहार करते समय भी इंदिरा गाँधी को नहीं भूलते हैं–''इसी तरह कभी इन्दिरा गाँधी चीखती फिरती थीं – जगजीवनराम ने मेरी पीठ में छुरा भोंक दिया। गोया लोग अपने

पेट को छोड़कर इनकी पीठ की रखवाली करें। अपना पेट खाली रहे, खाली पेट बच्चे बिलबिलाएं, मगर हमारा कर्तव्य है कि हम इनकी पीठ बचाये रहें। कोई छुरा मारने लगे तो कहें कि तू उनकी पीठ को बख्श दे और हमारे पेट में छुरा घुसेड़ दे। जनता पार्टी के हमारे इन भाग्यविधाताओं का हाल यह है कि छुरा घुसेड़ने के डर से एक दूसरे की तरफ पीठ नहीं करते। छुरा हाथ में लिए एक दूसरे पर नजर रखे गोल मोल घूमते रहते हैं। जरा किसी की पीठ फिरी, कि छुरा घुसा।''[49]

परसाई के प्रति कृष्णदत्त पालीवाल जी की एक बड़ी शिकायत यह भी है कि जो परसाई जनता पार्टी के नेताओं के हाथों में छुपे चाकू-छुरियों को भी पकड़ लेते हैं, वह आपातकाल की संगीनों को क्यों नहीं देख पाए! जो बात पालीवाल जी सीधे-सीधे नहीं कह पाते, वह बात शरद जोशी ने कुछ इस तरह कही है-''शासन ने हम बुद्धिजीवियों को यह रोटी इस शर्त पर दी है कि इसे मुँह में दबाकर अपनी चोंच बंद रखें। मैं जरा प्रतिबद्ध हो गया हूँ आजकल, क्षमा करें। यों मैं स्वतंत्र हूँ यह सही है और आश्चर्य नहीं कि समय आने पर मैं बोलूँ भी।''[50] जोशी जी का उपर्युक्त व्यंग्य आज भी प्रासंगिक है, लेकिन इसे परसाई पर चिपकना मुश्किल है क्योंकि परसाई के पाठक जानते हैं कि उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता कोई स्वांग नहीं है। उनकी प्रतिबद्धता किसी भी राजनीतिक पार्टी या नेता के प्रति न होकर विचारधारा के प्रति है, मार्क्सवाद के प्रति है। इन सबसे ऊपर उनकी प्रतिबद्धता शोषित वंचित और पीड़ितों के प्रति है। उनकी राजनीतिक चेतना में वर्ग चेतना सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिए वह पार्टीलाइन पर रहते हुए भी वामपंथी दलों के उन कार्यों की आलोचना करते हैं, जो वर्ग चेतना के विपरीत जाते हैं या कि किसी तरह का पाखंड मात्र होते हैं। जोशी जी ने जिन बुद्धिजीवियों की प्रतिबद्धता का उपहास किया है, उनकी प्रतिबद्धता सरकारें बदलने के साथ बदलती रहती है। आपातकाल के अनुशासित और प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी जनता पार्टी की सरकार बनने की संभावनाएं सूँघते ही संपूर्ण क्रांतिकारी बन गए और आपातकाल के विरुद्ध हवा में तलवार भांजने लगे, जबकि परसाई ने कभी हवा में तलवार नहीं चलाई, उनका हर निशाना अपने वर्ग शत्रुओं और मुख्य रूप सांप्रदायिक एवं फासिस्ट ताकतों के विरुद्ध ही रहा है, फिर चाहे ये शक्तियाँ संपूर्ण क्रांति का मुखौटा लगा लें या जनता पार्टी की सरकार में भागीदार बन जाएँ, परसाई उनका पीछा नहीं छोड़ते।

परसाई ने उन राजनीतिक दलों और नेताओं पर भी व्यंग्य किया है, जिन्हें वह रूमानी, वायवीय और स्वपनजीवी मानते थे। ऐसे राजनीतिक दल और नेता हृदय परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं। जो चैरिटी से सामाजिक समानता लाने का स्वप्न देखते हैं, क्योंकि उन्हें वर्ग संघर्ष के नाम से कँपकपी आती है। परसाई ने सर्वोदयी नेताओं को भी अपने व्यंग्य में कोई छूट नहीं दी है। वर्ग संघर्ष की जमीन से सर्वोदयी नेताओं पर कुछ इस तरह व्यंग्य प्रहार किया गया है-''भूमिहीनों और छोटे किसानों को बड़े किसान संगठित होकर मार रहे है, बेदखल कर रहे हैं। सर्वोदयी नहीं बोलेगा। सर्वोदयी से कहो कि क्या छोटे किसान और भूमिहीन भी संगठित होकर मारें। वह कहेगा, नहीं नहीं, हिंसा हो जायेगी। मगर बड़ा किसान जो कर रहा है वह क्या हिंसा नहीं है? नहीं, बड़ों की हिंसा अहिंसा होती है। क्या पूंजीपतियों को समाप्त कर दें। नहीं नहीं, पूंजीपतियों को मत छूना। वही तो इतने सालों से आश्रम का खर्च चला रहे हैं।''[51]

यद्यपि सर्वोदयी सबके कल्याण की कामना करते हैं, रामराज्य का स्वप्न देखते हैं। भूदान की मुहिम से जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करके सामाजिक समानता स्थापित कराने का प्रयास करते हैं। सचमुच एक सर्वोदयी बड़े पवित्र हृदय का धनी होता है। वह गौरक्षा जैसे पवित्र आंदोलनों का भी समर्थन करता है लेकिन मजदूरों के आंदोलन से या कि वर्ग संघर्ष से उसका जी घबराता है-''कहते हैं कि सर्वोदयी से कुछ कहने पर गौहत्या का पाप लगता है। मगर गायें जब दिल्ली में रैली निकालने लगें तब?''[52]

'सर्वोदयी रैली' को भी परसाई एक राजनीतिक गतिविधि के रूप में देखते हैं, उसी राजनीतिक दृष्टि से वह 'सर्वोदय' की आलोचना करते हैं। अर्थात् वह गौहत्या का पाप करते हैं, अनजाने नहीं करते, जानबूझकर करते हैं क्योंकि वह सर्वोदय को धोखा मानते हैं-''तेलंगाना में भूमि के लिए संघर्ष छिड़ ही गया। तो देशी और विदेशी पूंजीवादियों ने पूछा - कौन रोकेगा इसे? विनोबा ने कहा - मैं रोकूंगा, सर्वोदय करूँगा, दान और भीख में सर्वहारा को उलझाऊंगा। बस, तुम मुझे पब्लिक में जिंदा रखो। कुछ बाद में जयप्रकाश ने कहा - मैं रोकूंगा। नई जवानी का मार्क्सवाद मैंने छोड़ा। 47-48 का लोकतांत्रिक समाजवाद भी छोड़ा। सर्वोदय करूंगा।''[53] परसाई सर्वोदय की आलोचना पार्टीलाइन पर नहीं करते अपितु वह अनुभव कर रहे थे कि सर्वोदय वर्ग संघर्ष के खिलाफ अड़ जाता है लेकिन वर्ण संघर्ष की चिंता नहीं करता। अंततः यह सामंती और सांप्रदायिक ताकतों का सहायक सिद्ध होता है।

समाजवादियों की आलोचना भी परसाई इसी आधार पर करते हैं कि सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन के लिए उनके पास उतने ठोस कार्यक्रम नहीं है, जिनका कोई जमीनी असर हो! परसाई को समाजवाद पसंद है लेकिन समाजवादियों को पलायनवादी जैसा मानते हैं-''गरीब की रोटी छीनी जा रही है- यह नारा लगाते रहें, मगर जो रोटी छीनता है, उससे न उलझें, तो समाजवाद की रस्म भी पूरी अदा हो जाती है। सरकार को गरीबों के लिए मकान बनवाने के लिए मजबूर न करें, मगर राष्ट्रपति से भवन खाली करा लें, तो समझो समाजवाद का लक्ष्य पूरा हो गया। हम प्रतीकों से लड़ते हैं, छाया पर हमला करते हैं।...जमीन छीनते नहीं भूदान माँगते हैं।''[54]

सर्वोदय, गांधीवाद और समाजवादियों की राजनीति पर परसाई कुछ बुनियादी सवाल उठाते हैं जैसे कि भूदान की मुहिम चलाने वाले किसी सर्वोदयी ने सार्वजनिक संपत्ति के अधिकार का मुद्दा क्यों नहीं उठाया? किसी समाजवादी या गांधीवादी ने किसी प्राइवेट अटारीवाले के सामने कभी अनशन क्यों नहीं किया, क्या राष्ट्रपति भवन को खाली करा लेने से समाजवाद स्थापित हो जायेगा? टाटा बिड़ला जैसे धन्नासेठों के भव्य भवनों पर उंगली क्यों नहीं उठाई जाती? राष्ट्रपति भवन पर उंगली उठाने के बजाय सरकार की उन नीतियों पर सवाल क्यों न उठाएं, जो पूंजीपतियों को संरक्षण देती हैं। गांधीवादी समाजवादी पूँजीवाद को चुनौती दिए बिना समाजवाद स्थापित कर देने की कल्पना करते हैं। परसाई समाजवादियों से अपने मोहभंग का यही कारण बताते हैं कि वे ठोस लड़ाई लड़ने के बजाय प्रतीकों की लड़ाई लड़ते हैं।

भारतीय राजनीति में प्रतीकों की लड़ाई केवल समाजवादी दलों तक सीमित नहीं है, अधिकांश राजनीतिक दलों ने अपनी राजनीति में प्रतीकों का उपयोग किया है। परसाई इस बात को अनदेखा कर देते हैं कि प्रतीकों का इस्तेमाल भारतीय राजनीति की प्रमुख प्रवृत्ति बनकर उभर रहा था। अब तो सरकारें प्रतीक की राजनीति को हथियार की तरह भी इस्तेमाल करती हैं और और ढाल की तरह भी। जब भी जनता के बुनियादी मुद्दों और प्रश्नों का सामना होता है, सरकारें प्रतीकों के पीछे छुपने लगती हैं। भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, महंगाई, गरीबी, भुखमरी एवं अन्य सामाजिक-आर्थिक मुद्दों के समक्ष धार्मिक एवं जातीय प्रतीक खड़े कर दिए जाते हैं। सांप्रदायिक एवं विभाजनकारी हथियारों से राजनीतिक सफलता की सुगम पगडंडियां बना ली जाती हैं। पगडंडियों की इस राजनीति को लक्ष्य करके परसाई कहते हैं-''इस देश में सबसे आसान काम राजनीति करना है।...भारतीय राजनीति में ऐसे-ऐसे नेताओं के दल हैं, जो सिर्फ कार्टून बनाने के काम के रह गए हैं। चरणसिंह और जगजीवन राम आखिर किनकी सेवा कर रहे हैं? इनके फोटो कम छपती हैं, कार्टून ज्यादा छपते हैं।... भारत के विकास में इनका योगदान इतिहास में नहीं जायेगा। ये कार्टूनों में अमर होंगे।''[55]

कार्टून और व्यंग्य समानधर्मी विधाएँ हैं, अत: जो नेता कार्टूनों में अमर होंगे, वे व्यंग्य साहित्य के लिए भी बहुत काम के रहे होंगे! ये नेता इतिहास में बाद में आते हैं, परसाई ने पहले ही अपने व्यंग्य साहित्य में इन्हें 'विशिष्ट मायनों' में दस्तावेजी बना दिया है और स्वयं इनका प्रतिपक्ष बन गए हैं। यद्यपि परसाई प्राय: लेखक की भूमिका में ही होते हैं और लेखक के रूप में ही सत्ता के प्रतिपक्ष में खड़े होते हैं, पर कभी-कभी जनता पार्टी सरकार के राजनीतिक विपक्ष के रूप में भी नजर आने लगते हैं।

अंतत: राजनीति के हाथों ठगी गई जनता के लेखक हैं- परसाई, जिन्होंने उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक के सभी राजनीतिक दलों और नेताओं को अपने व्यंग्य का विषय बनाया है। परसाई और शरद जोशी के अलावा हिंदी में कोई अन्य लेखक ऐसा नहीं, जिसकी रचनाएँ भारतीय राजनीति के किसी कालखंड का ऐतिहासिक परिचय देती हों। जबकि परसाई की व्यंग्य रचनाएँ नेहरू युग से जनता पार्टी की सरकार तक की राजनीति का इतिहास बन जाती हैं। यहाँ भारतीय राजनीति के इतिहास की विकास यात्रा राजनीतिक घटनाचक्र के छोटे-छोटे विवरणों के साथ मिलती है। अक्सर एक कालखंड के बीत जाने के बाद उस कालखंड से कुछ दूरी पर बैठकर इतिहास की पुस्तकें लिखी जाती हैं, जबकि परसाई की रचनाओं में बीता हुआ इतिहास नहीं, बल्कि दिन-प्रतिदिन बनता हुआ इतिहास है, जीवंत इतिहास है। बीते हुए घटनाक्रम से जिस कच्चे माल का चयन इतिहास की पुस्तकों के लिए किया जाता है, वह कच्चा माल परसाई की व्यंग्य रचनाओं में निरंतर शामिल होता चला गया और इतिहास बन गया। परसाई ने किसी इतिहासकार की तरह व्यवस्थित रूप से कोई राजनीतिक इतिहास की पुस्तक नहीं लिखी है, लेकिन उनकी रचनाओं का समग्र अध्ययन किसी इतिहास की पुस्तक के अध्ययन से कम महत्वपूर्ण नहीं। उनकी व्यंग्य रचनाओं को किसी राजनीतिक दल या नेता पर किए गए व्यंग्य के रूप में पढ़ने की भूल से बचना चाहिए क्योंकि ये रचनाएँ अपने समय की राजनीतिक संस्कृति की गवाह हैं। ये रचनाएँ भारतीय राजनीति के चरित्र का पता देती हैं। परसाई की रचनाएँ भारतीय राजनीति का ही

इतिहास नहीं हैं, अपितु अंतरराष्ट्रीय राजनीति का भी पता देती हैं, इनसे परसाई की वैश्विक दृष्टि का परिचय भी मिलता है।

***हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज**
दिल्ली विश्वविद्यालय
****हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज,**
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. खगेन्द्र ठाकुर,
2. रवीन्द्रनाथ त्यागी, व्यंग्य-यात्रा, अप्रैल-सितंबर 2006, पृष्ठ-33
3. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 6, पृष्ठ-217 राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवा संस्करण 2012
4. वही, पृष्ठ -218
5. वही, पृष्ठ -217
6. हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, पृष्ठ-45, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, चौथा संस्करण 2006
7. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 6, पृष्ठ-2238 राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
8. प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल, सृजन का अंतर्पाठ उत्तर आधुनिक विमर्श, पृष्ठ-304, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
9. बिपन चन्द्र, आजादी के बाद भारत, पृष्ठ-91
10. प्रसार भारती आर्काइव, https://youtu-be/9Cc-5IK0J-M\si¾kRRHy_Um962cYYP3
11. राजेन्द्र माथुर, सपनों में बनता देश, पृष्ठ-119-120
12. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-25 राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
13. वही, खंड 6, पृष्ठ-23
14. वही, खंड 5, पृष्ठ-33
15. वही, खंड 1, पृष्ठ-93
16. बिपन चन्द्र, आजादी के बाद भारत, पृष्ठ 194
17. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-105 राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
18. वही, खंड 1, पृष्ठ-99
19. वही, खंड 6, पृष्ठ-31
20. वही, खंड 5, पृष्ठ-213
21. वही, पृष्ठ-214
22. वही, खंड 4, पृष्ठ-114
23. वही, पृष्ठ-137
24. वही, खंड 6, पृष्ठ-399
25. वही, खंड 4, पृष्ठ-154
26. वही, पृष्ठ-45
27. वही, खंड 5, पृष्ठ-104
28. वही, पृष्ठ-183
29. वही, पृष्ठ-232
30. वही, पृष्ठ-193
31. वही, पृष्ठ-108
32. वही, खंड 4, पृष्ठ-141
33. वही, पृष्ठ -141
34. विष्णु नागर, परसाई का मन, पृष्ठ-11, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पहला संस्करण 2024
35. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-47, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
36. हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, पृष्ठ-55, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006
37. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-41, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
38. हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, पृष्ठ-55, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006
39. बिपन चंद्र, लोकतंत्र आपातकाल और जयप्रकाश नारायण, पृष्ठ-144, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007
40. वही, पृष्ठ
41. वही, पृष्ठ-146
42. हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, पृष्ठ-86, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2006
43. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-139, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
44. बिपन चंद्र, लोकतंत्र आपातकाल और जयप्रकाश नारायण, पृष्ठ-155, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007
45. वही, पृष्ठ-142
46. शरद जोशी, पिछले दिनों, पृष्ठ-62, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1979
47. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-68, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
48. बिपन चंद्र, लोकतंत्र आपातकाल और जयप्रकाश नारायण, पृष्ठ-107, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007
49. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-70, राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवां संस्करण 2012
50. शरद जोशी, पिछले दिनों, पृष्ठ-63, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1979
51. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली खंड 4, पृष्ठ-88 राजकमल प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली, पांचवा संस्करण 2012
52. वही, पृष्ठ-87
53. वही, पृष्ठ-88
54. वही, पृष्ठ-65
55. वही, पृष्ठ-212

महिला सशक्तिकरण व हिंदू संहिता विधेयक : आंबेडकर विमर्श

डॉ. सायमा इकबाल* डॉ. राजकुमार राजन**

''मैं किसी समुदाय की प्रगति को महिलाओं द्वारा प्राप्त प्रगति के स्तर से मापता हूँ।'' – बी.आर. अम्बेडकर [1]

परिचय

पूरे इतिहास में, भारतीय महिलाओं को स्वाभाविक रूप से पुरुषों के अधीन माना जाता रहा है और प्राचीन काल से लेकर आज तक उन्हें लगातार उनके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया है। स्मृतियों और श्रुतियों के प्रभुत्व में निहित हिंदू सामाजिक संरचना ने महिलाओं को समाज के सबसे निचले स्तर पर धकेल दिया और उन्हें मौलिक अधिकारों से वंचित कर दिया। हिंदू महिलाओं की हाशिए पर स्थिति काफी हद तक लगातार भेदभाव का परिणाम थी। हालाँकि, औपनिवेशिक काल ने निस्संदेह हिंदू महिलाओं के सामने मौजूद बहिष्कार, उपेक्षा और वंचना की प्रथाओं को चुनौती देने और उन्हें खत्म करने के महत्वपूर्ण अवसर पैदा किए।

डॉ. अम्बेडकर ने भारत की राजनीति में प्रवेश करते ही सामाजिक सुधारों की ओर एक नई दृष्टि दी। उन्हें लगता था कि उत्पीड़ित व्यक्ति अपनी लड़ाई खुद लड़ सकता है, तब तक कि कोई दूसरा व्यक्ति उनकी शिकायतों को हल नहीं कर सकता।[2] उनके प्रभाव ने लोगों को अपनी स्थिति को समझने में सक्षम बनाया। भारत में लाखों लोगों को, जो अमानवीय जीवन जीने के लिए मजबूर थे, अम्बेडकर ने आत्म जागरूकता, आत्म-उत्थान, मुक्ति और अन्य विचारों के बारे में सिखाया।[3]

अम्बेडकर का दर्शन तीन सिद्धांतों, अर्थात् स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित है, जो न्याय की उनकी अवधारणा में उजागर होते हैं।[4] उन्हें लगता है कि न्यायपूर्ण समाज में दलितों, महिलाओं, मजदूरों और ग्रामीण लोगों के लिए न्याय शामिल है। अम्बेडकर इस बात की वकालत करते हैं कि महिलाओं के सहयोग के बिना एकता अर्थहीन है, शिक्षित महिलाओं के बिना शिक्षा निष्फल है, और महिलाओं की ताकत के बिना आंदोलन अधूरा है। अम्बेडकर का मानना था कि हिंदू संहिता विधेयक का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र को संहिताबद्ध करना और महिलाओं को समान अधिकार सुनिश्चित करना है।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने भारतीय महिलाओं की भयानक स्थिति को जानते हुए, उन्हें विभिन्न सामाजिक और धार्मिक बाधाओं से मुक्त करने के लिए अपनी पूरी कोशिश की। अम्बेडकर का मानना था कि महिलाएं एक कठोर, जाति-आधारित और दमनकारी सामाजिक संरचना की शिकार थीं।[5] उन्होंने भारत में महिलाओं की स्थिति को ऊपर उठाने के लिए कई सुधारात्मक कदम उठाए हैं।

ऐतिहासिक संदर्भ

भारत में, स्वदेशी कानूनी परंपरा ऐतिहासिक रूप से क्षेत्रीय दायरे के बजाय व्यक्तिगत रही है, जिसमें विभिन्न धार्मिक समुदाय अपनी प्रणालियों का पालन करते हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों ने अलग-अलग कानून संहिताओं का पालन किया, दोनों को ईश्वरीय रूप से प्रेरित और धर्म के भीतर गहराई से अंतर्निहित माना जाता है, जबकि प्रथागत प्रथाओं द्वारा भी पूरक माना जाता है। प्रारंभ में, अंग्रेजों ने भारतीयों और यूरोपीय दोनों के लिए लागू एक समान क्षेत्रीय कानून स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन यह प्रयास असफल साबित हुआ। नतीजतन, 1780 के घोषणात्मक अधिनियम ने हिंदुओं के लिए हिंदू कानून और

रीति-रिवाजों और मुसलमानों के लिए इस्लामी कानून को लागू करना अनिवार्य कर दिया। हालाँकि औपनिवेशिक अधिकारी आम तौर पर धार्मिक कानूनी प्रणालियों का सम्मान करते थे, लेकिन उन्होंने कभी-कभी वैधानिक उपायों के माध्यम से शास्त्रों और कुरान के प्रावधानों को संशोधित किया। हिंदू कानून को संहिताबद्ध करने के विचार को औपचारिक रूप से 1832 में स्वीकार किया गया था, जिससे हिंदू और मुस्लिम दोनों कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए एक शाही आयोग की नियुक्ति हुई। लॉर्ड मैकाले को यह जिम्मेदारी सौंपी गई थी, और दो दशकों से अधिक के काम के बाद, भारतीय दंड संहिता लागू की गई थी। हालांकि, नागरिक कानून काफी हद तक अपरिवर्तित भारतीय महिलाओं ने अंग्रेजों के शासनकाल में ही अपने अधिकारों की मांग करनी शुरू की थी। तत्कालीन सरकारों ने महिलाओं के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए कानून बनाये।

बाद के वर्षों में, भारतीय महिलाएं अपनी सामाजिक और कानूनी स्थिति पर लगाई गई सीमाओं से तेजी से असंतुष्ट होती गईं, और वे हिंदू कानून के अस्पष्ट और अक्सर विरोधाभासी प्रावधानों को संशोधित और संहिताबद्ध करने के प्रयासों के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में उभरीं। केंद्रीय विधायिका द्वारा अधिनियमित 1937 के हिंदू महिला संपत्ति अधिकार अधिनियम ने इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया, क्योंकि इसने पहली बार हिंदू विधवाओं को अपने पति की संपत्ति में हिस्सेदारी का दावा करने और संपत्ति के विभाजन की मांग करने का कानूनी अधिकार दिया।

कानून के संहिताकरण से पहले, हिंदू उत्तराधिकार को विशेष रूप से दो स्कूलों, मिताक्षर और दयाभाग द्वारा संभाला जाता था। मिताक्षरा स्कूल बंगाल के बाकी प्रांतों में प्रचलित था, इसने हिंदू महिलाओं को उत्तराधिकार के अधिकार से पूरी तरह से वंचित कर दिया था, जबकि बंगाल प्रांतों में विशेष रूप से प्रचलित दयाभागा स्कूल ने हिंदू महिलाओं को भरण-पोषण का अधिकार दिया था। उत्तराधिकार के अधिकार से छुटकारा पाने के लिए धर्म के तथाकथित रक्षक ने कई रणनीतियों का सुझाव दिया और उन्हें लागू किया, सबसे अमानवीय और अतार्किक सती प्रणाली उनमें से एक थी। मनुस्मृति ने महिलाओं पर कुछ प्रतिबंध लगाए और पुरुष पर निर्भर करते हुए कहा, ''उसके पिता बचपन में उसकी रक्षा करते हैं, उसका पति युवावस्था में उसकी रक्षा करता है, और उसके बेटे बुढ़ापे में उसकी रक्षा करते हैं महिला स्वतंत्रता कभी नहीं चाहती।''[6] इसलिए इससे नाराज होकर डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने महाड में मनुस्मृति को अमानवीय साबित करते हुए उसमें आग लगा दी थी।

भारतीय महिलाओं को राजनीतिक, सामाजिक और संवैधानिक रूप से एक समान व्यक्ति मानने के लिए डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने हिंदू संहिता विधेयक पर लगातार काम किया। उन्होंने हिंदू संहिता कानून बनाया, जो हिंदू सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह से बदल देने की दिशा में था। विधेयक ने पुरुषों और महिलाओं से संबंधित विभिन्न कानूनों को संहिताबद्ध करने की मांग की। अम्बेडकर के शब्दों में, ''ये विधेयक जिसका उद्देश्य उन नियमों को संहिताबद्ध करना है जो उच्च न्यायालयों और प्रिवी कौंसिल के असंख्य निर्णयों में बिखरे हुए हैं, जो एक आम आदमी के लिए चक्रा देनेवाला घालमेल बन जाता है तथा लगातार मुकदमेबाजी को जन्म देता है, सात विभिन्न मुद्दों से सम्बंधित कानून को संहिताबद्ध करने का प्रयास किया है।''[7]

इसने उत्तराधिकार के क्रम को बदलने की मांग की और भरण-पोषण, विवाह, अंतरजातीय विवाह, तलाक, गोद लेने, नाबालिगों और उनकी देखभाल पर नए कानून बनाए।

हिंदू कोड बिल 11 अप्रैल, 1947 को संविधान सभा में पेश किया गया था और 9 अप्रैल, 1948 को इसे प्रवर समिति को भेज दिया गया था। चार साल के विचार-विमर्श के बाद भी, यह बिल अनिर्णीत रहा। उनके अपने शब्दों में, ''उन्होंने बिना इस्तेमाल और बिना ख्याति के ही अपनी जान दे दी।''[8] स्वतंत्र भारतीय संसद में किसी भी एक बिल पर यह संभवत: सबसे लंबी बहस थी। कांग्रेस हिंदू कोड बिल पर स्पष्टीकरण देने में अनिच्छुक थी, और इसी कारण, अम्बेडकर ने 27 सितंबर, 1951 को मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। बाबा साहब अम्बेडकर के इस्तीफे के चार साल बाद हिन्दू कोड बिल के कुछ खंडों को भागों में बाँटकर कई कानूनों का रूप दिया गया।

हिंदू संहिता विधेयक के प्रमुख प्रावधान

1950 में, जब मंत्रिमंडल का गठन हुआ, अम्बेडकर ने कानून मंत्री के रूप में हिंदू संहिता विधेयक का मसौदा तैयार करना शुरू किया। अम्बेडकर ने व्यक्तिगत नियमों को संशोधित करके और महिलाओं को अधिक अधिकार देकर हिंदू कानून को आधुनिक बनाने और संहिताबद्ध करने का प्रयास किया।

भारत के पहले कानून मंत्री और संविधान सभा की मसौदा समिति के प्रमुख के रूप में, उनका मानना था कि सदियों पुरानी गुलामी की बेड़ियों से महिलाओं को मुक्त करने के लिए मनु के हिंदू सामाजिक नियमों में संशोधन करना सही था।[9] अम्बेडकर का मानना था कि सामाजिक परिवर्तन के लिए कानूनी सुधार आवश्यक थे, क्योंकि कानून अंतर्निहित असमानताओं को चुनौती दे सकते हैं और महिलाओं को सशक्त बना सकते हैं।[10] अम्बेडकर ने कानून का मसौदा तैयार करने से पहले महत्वपूर्ण ग्रंथों और श्लोकों का अनुवाद करने के लिए संस्कृत शिक्षाविदों को नियुक्त करके यह सुनिश्चित किया कि सुधार हिंदू परंपरा पर आधारित हों। डॉ. अम्बेडकर ने कहा, ''मैं एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर सदन का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। महान राजनीतिक दार्शनिक बर्क, जिन्होंने फ्रांसीसी क्रांति के खिलाफ अपनी पुस्तक लिखी थी, ने कहा कि जो लोग संरक्षण करना चाहते हैं, उन्हें मरम्मत के लिए तैयार रहना चाहिए। मैं इस सदन से केवल इतना ही कह रहा हूं: यदि आप हिंदू व्यवस्था, हिंदू संस्कृति और हिंदू समाज को बनाए रखना चाहते हैं, तो जहां मरम्मत की आवश्यकता है, वहां मरम्मत करने में संकोच न करें। यह विधेयक हिंदू व्यवस्था के उन हिस्सों की मरम्मत के अलावा और कुछ नहीं कहता है जो जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं।''[11]

विधेयक के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं :

हिंदू संहिता विधेयक ने विरासत, उत्तराधिकार, महिलाओं के अधिकारों, विवाह और भरण-पोषण में ऐतिहासिक सुधार पेश किए। इसका केंद्रीय उद्देश्य हिंदू व्यक्तिगत कानून का आधुनिकीकरण करना और लिंग और जाति आधारित असमानताओं को दूर करना था।

उत्तराधिकार में, विधेयक ने पारंपरिक मिताक्षर प्रणाली को प्रतिस्थापित किया, जो दयाभाग सिद्धांत के साथ संपत्ति को पिता, पुत्र, पोते और परपोते के संयुक्त परिवार (सह-सदस्य) से संबंधित मानता था, जहां संपत्ति उत्तराधिकारी का व्यक्तिगत और पूर्ण अधिकार बन जाती है। मिताक्षरा के तहत, उत्तराधिकार उत्तरजीविता का अनुसरण करता था और मृतक के उत्तराधिकारियों को बाहर कर देता था, जबकि दयाभागा ने उपहार या वसीयत द्वारा स्थानांतरण की अनुमति देते हुए उत्तराधिकारी में पूर्ण अधिकार निहित किए। दयाभाग को पूरे भारत में सार्वभौमिक बनाकर, विधेयक ने व्यक्तियों को विरासत में मिली संपत्ति पर अधिक अधिकार दिया।

दूसरा सामान्य परिवर्तन उत्तराधिकार के क्रम में था। मिताक्षरा कान्गेट्स की तुलना में अग्नेट (पुरुष वंश) को प्राथमिकता देते थे, लेकिन दयाभागा ने लिंग की परवाह किए बिना रक्त संबंधों को प्राथमिकता दी। विधेयक ने दयाभाग के उत्तराधिकार के व्यापक आधार को अपनाया।

इन सामान्य सुधारों के अलावा, विधेयक में चार महत्वपूर्ण बदलाव किए गए। सबसे पहले, विधवाओं, बेटियों और पूर्व मृत बेटों की विधवाओं को विरासत में बेटों के बराबर रखा गया था, हालांकि एक बेटी का हिस्सा बेटे के आधे पर तय किया गया था। यह महिलाओं के लिए एकमात्र नई पात्रता थी, क्योंकि अन्य महिला उत्तराधिकारियों को पहले ही हिंदू महिला संपत्ति अधिकार अधिनियम, 1937 द्वारा मान्यता दी जा चुकी थी। दूसरा, महिला उत्तराधिकारियों की संख्या में काफी विस्तार किया गया। तीसरा, भेदभावपूर्ण शर्तों-जैसे कि क्या एक महिला विवाहित थी, नि:संतान थी, या अमीर थी-को समाप्त कर दिया गया था; महिलाएं अब विशुद्ध रूप से उत्तराधिकारी होने के कारण विरासत में मिली हैं। चौथा, माताओं को उत्तराधिकार में पिताओं पर वरीयता दी गई, जो पहले की प्रथा को उलट देती थी।

इस विधेयक ने महिलाओं की संपत्ति में भी सुधार किया। स्ट्रिधन, जिसमें पहले अलग-अलग नियमों के साथ कई श्रेणियां थीं, को उत्तराधिकार के एक नियम के साथ एक ही वर्ग में समेकित किया गया था। बेटों को उत्तराधिकार में स्त्रीधन प्राप्त करने की अनुमति थी, हालांकि बेटियों का हिस्सा केवल आधा था। इस प्रावधान ने योजना को संतुलित किया: जहां बेटियों को पिता से विरासत में मिले बेटों का आधा हिस्सा मिला, वहीं बेटियों को माताओं से विरासत में मिले बेटों का आधा हिस्सा मिला। महिलाओं की संपत्ति के संबंध में, जो पहले जीवन हित तक सीमित थी, विधेयक ने महिलाओं को एक पूर्ण संपत्ति प्रदान की और प्रत्यावर्ती अधिकारों को समाप्त कर दिया।

दहेज से संबंधित एक अन्य महत्वपूर्ण नवाचार। विधेयक ने दहेज संपत्ति को महिला के पक्ष में एक ट्रस्ट के रूप में घोषित किया, जो 18 वर्ष की होने पर उसके लिए सुलभ थी। न तो उनका पति और न ही उनका परिवार इस संपत्ति को नियंत्रित या बर्बाद कर सकता था, इस प्रकार महिलाओं को अधिक सुरक्षा प्रदान करता था।

रखरखाव पर, विधेयक ने दोहराया कि मृतक के आश्रित संपत्ति के उत्तराधिकारी उत्तराधिकारियों से समर्थन का दावा

कर सकते हैं। इसमें विवादास्पद रूप से योग्य आश्रितों के बीच एक रखैल शामिल थी। यह पत्नियों को अलग भरण-पोषण का अधिकार भी देता है यदि पति क्रूर था, उसे छोड़ चुका था, एक घृणित बीमारी से पीड़ित था, एक रखैल रखता था, धर्म परिवर्तित करता था, या अन्य उचित परिस्थितियों में।

अंत में, विधेयक में काफी हद तक वैधता की समान शर्तों के साथ संस्कार और नागरिक विवाह दोनों को मान्यता दी गई। सिविल विवाह के लिए पंजीकरण की आवश्यकता होती है, जबकि धार्मिक विवाह वैकल्पिक रूप से पंजीकृत किए जा सकते हैं। सबसे मौलिक परिवर्तन यह था कि कठोर हिंदू परंपराओं को तोड़ते हुए, जाति या उप-जाति के बावजूद विवाह को वैध बनाया गया था।

हिंदू संहिता विधेयक को मजबूत विरोध का सामना करना पड़ा, विशेष रूप से उन लोगों से जो महिलाओं की पूरी संपत्ति, उत्तराधिकार और गोद लेने के अधिकारों का विरोध करते थे, इस डर से कि उनके पारिवारिक संपत्ति पर प्रभाव पड़ सकता है। व्यापक विरोध और सैकड़ों प्रस्तावित संशोधनों के बावजूद, यह विधेयक 1951 में संसद में रुका रहा। आम चुनाव से पहले संसदीय कामकाज को बाधित करने और कांग्रेस पार्टी के भीतर विभाजन के जोखिम से बचने के लिए, प्रधानमंत्री नेहरू ने इसके पारित होने को स्थगित कर दिया, यह आश्वासन देते हुए कि सरकार भविष्य में इसे लागू करने के लिए प्रतिबद्ध है। विरोध के चलते बिल उस समय पास नहीं हो सका। बाद में अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल समेत अन्य मुद्दों को लेकर कानून मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया।

उनकी अधीरता समझ में आती थी, फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह पूछा जा सकता है कि क्या थोड़ा अतिरिक्त समय सुधार की आवश्यकता के साथ जनमत को मिलाने में मदद कर सकता था। मैकाले के भारतीय दंड संहिता के मसौदे को कानून में लागू होने में पच्चीस साल लग गए थे, जो एक आवश्यक उपाय था। हिंदू संहिता विधेयक कहीं अधिक विवादास्पद प्रस्ताव था, और हिंदू न्यायविदों ने खुद को भाग्यशाली माना होगा यदि यह कानून बन जाता और एक या दो साल के भीतर सार्वजनिक स्वीकृति प्राप्त कर लेता।[12]

बाबा साहब अम्बेडकर के इस्तीफे के चार साल बाद हिन्दू कोड बिल के कुछ खंडों को भागों में बाँटकर कई कानूनों का रूप दिया गया :

⋆ हिंदू विवाह अधिनियम, 1955

⋆ हिंदू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम 1956

⋆ हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956

⋆ हिंदू अल्पसंख्यक और संरक्षकता अधिनियम, 1956

हिन्दू कोड बिल - आलोचना व विरोध

हिन्दू कोड बिल और डॉ अम्बेडकर दोनों को ही कट्टर पंथियों का भयंकर विरोध सहना पड़ा। डॉ अम्बेडकर को कई बार व्यक्तिगत अपमान झेलना पड़ा। उनके घर पर पत्थर बरसाए गए और संसद में भी उनका बहिष्कार किया गया। इस अवधि के दौरान संविधान सभा की बहसों में भी स्त्री-विरोधी टिप्पणियां की गईं। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने तर्क दिया कि उनकी पत्नी कभी भी तलाक के खंड का समर्थन नहीं करेंगी और यह केवल 'अति-शिक्षित' महिलाएं थीं जिन्होंने विधेयक का समर्थन किया था।[13]

इस विधेयक का 'हिंदू महासभा' जैसे उच्च जाति समूहों और सदन के सदस्यों ने बहुत विरोध किया और अधिकांश सदस्यों ने आरोप लगाया कि यह विधेयक हिंदू समाज की नींव को नष्ट कर देगा, जिस पर यह बनाया गया है, विशेष रूप से विवाह और वंश की पवित्रता। हिंदू संयुक्त परिवार प्रणाली। हिंदू महासभा ने तर्क दिया, ''चूंकि हिंदू महासभा धार्मिक मामलों में विधायी हस्तक्षेप के खिलाफ है, इसलिए हिंदू संहिता विधेयक जैसे उपायों का विरोध किया जाएगा।'' जनसंघ ने कहा, ''पार्टी का मानना है कि सामाजिक सुधार ऊपर से थोपे जाने के रूप में नहीं होना चाहिए। इसे समाज के भीतर से काम करना चाहिए। इसलिए हिंदू संहिता विधेयक में परिकल्पित कोई भी दूरगामी परिवर्तन तब तक नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उनके लिए एक मजबूत लोकप्रिय मांग न हो और मतदाताओं से उनके बारे में एक स्पष्ट निर्णय प्राप्त न हो जाए।''[14]

इस विधेयक ने ब्राह्मणवादी स्थिति को खतरे में डाल दिया, जिसने जाति व्यवस्था से अपनी ताकत हासिल की-एक क्रूर, पदानुक्रमित और कठोर सामाजिक आचार संहिता। हिंदू महासभा, धार्मिक नेताओं और कांग्रेस के सदस्यों जैसे राजनीतिक दलों सहित विभिन्न वर्गों ने विधेयक का विरोध किया। राष्ट्रपति ने विधेयक को रोकने की धमकी दी, हिंदू साधुओं ने संसद की घेराबंदी कर दी, और व्यापारिक घरानों और भूमि मालिकों ने चुनावों में समर्थन वापस लेने की चेतावनी दी।15

हिंदू संहिता विधेयक के विरोधियों द्वारा उठाए गए मुख्य आक्षेप थे:[16]

- ⋆ इसने हिंदू धार्मिक कानून में हस्तक्षेप किया, जिससे इसकी पवित्रता कम हो गई।
- ⋆ इसने समाज द्वारा लंबे समय तक पालन किए जाने वाले रीति-रिवाजों और परंपराओं को बाधित कर दिया।
- ⋆ यह विरासत के अधिकारों पर अंतहीन विवाद पैदा कर सकता है।
- ⋆ इसने संयुक्त परिवार प्रणाली की स्थिरता को खतरे में डाल दिया।
- ⋆ महिलाओं को कानूनी समानता की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि हिंदू रीति-रिवाज पहले से ही उन्हें कुछ पारिवारिक भूमिकाओं में श्रेष्ठता प्रदान करते थे।
- ⋆ एक विवाह का नियम एक पुरुष को पुत्र पैदा करने के अवसर से वंचित कर सकता है-जिसे मोक्ष के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है यदि पत्नी बंजर थी।
- ⋆ तलाक के लिए आधार निर्दिष्ट करने से पश्चिम में कथित स्थितियों के समान बार-बार विवाह और तलाक को बढ़ावा मिल सकता है।
- ⋆ तलाक के लिए अदालती प्रक्रियाओं की आवश्यकता को आदिवासी और निचली जाति के समुदायों के लिए आर्थिक रूप से बोझ के रूप में देखा गया, जिनकी पारंपरिक प्रथाएं सरल और सस्ती थीं।

हिंदू संहिता विधेयक : प्रासंगिकता

हिंदू संहिता विधेयक, हालांकि कभी भी एक एकीकृत संहिता के रूप में पारित नहीं हुआ, हिंदू विवाह अधिनियम (1955), हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (1956, संशोधित 2005), हिंदू गोद लेने और रखरखाव अधिनियम (1956) और हिंदू अल्पसंख्यक और अभिभावक अधिनियम (1956) के माध्यम से भावना में जीवित है। इन कानूनों ने मिलकर हिंदू व्यक्तिगत कानून में क्रांति ला दी, विशेष रूप से विवाह, विरासत, गोद लेने और महिलाओं के संपत्ति अधिकारों में।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम में 2005 के संशोधन ने बेटियों को पैतृक संपत्ति में समान सह-अधिकार देकर अंबेडकर के दृष्टिकोण को पूरा किया। यह विरासत में लैंगिक समानता की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम था। अदालतें आज महिलाओं के अधिकारों का विस्तार करना जारी रखती हैं, उदाहरण के लिए, विनीता शर्मा बनाम राकेश शर्मा (2020)[17] ने पुष्टि की कि बेटियों को जन्म से समान अधिकार हैं, भले ही पिता 2005 में जीवित थे।

विवाह, तलाक, गोद लेने और भरण-पोषण पर विधेयक के सुधार हिंदू समाज में महिलाओं के कानूनी सशक्तिकरण की रीढ़ बने हुए हैं। तलाक को वैध बनाकर और भरण-पोषण प्रदान करके, अधिनियमों ने महिलाओं को वैवाहिक संबंधों में एजेंसी प्रदान की, जो पारंपरिक हिंदू कानून के तहत अकल्पनीय था।

अम्बेडकर की शुरुआती चेतावनियों के बावजूद दहेज निषेध अधिनियम (1961) के बावजूद दहेज एक सामाजिक बुराई के रूप में बना हुआ है। संरक्षक कानून अभी भी पिता को प्राथमिकता देते हैं, व्यवहार में माताओं की पूर्ण समानता को सीमित करते हैं। कार्यान्वयन अंतराल का मतलब है कि महिलाओं को अक्सर संपत्ति के अधिकारों का दावा करने में बाधाओं का सामना करना पड़ता है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक प्रतिरोध के कारण।

संक्षेप में, हिंदू संहिता विधेयक एक परिवर्तनकारी कानूनी और सामाजिक सुधार था। दयाभाग के सिद्धांतों को सार्वभौमिक बनाकर, महिलाओं के विरासत के अधिकारों को मान्यता देकर, उनकी संपत्ति और दहेज को सुरक्षित करके, भरण-पोषण और विवाह कानूनों में सुधार करके और जातिगत प्रतिबंधों को समाप्त करके, इसने हिंदू व्यक्तिगत कानून के भीतर समानता और न्याय पैदा करने और परिवार और समाज दोनों में महिलाओं को सशक्त बनाने का प्रयास किया।

★एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय
★★एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. Ambedkar, B.R. 2003g. Dr. Babasaheb Ambedkar: Writing and Speeches, Vol.17, Part 3 (Compiled and edited by Vasant Mool). New Delhi: Dr. Ambedkar Foundation, Government of India.
2. Excelsior D. Ambedkar on Women. Daily Excelsior, 2017 April 13. Available from https://www.dailyexcelsior.com/ambedkar-on-women
3. SRM. Emancipation of Women, Ambedkar,

2017
4. Ambedkar, B.R. 2003b. Dr. Babasaheb Ambedkar: Writing and Speeches, Vol.3(Compiled and edited by Vasant Mool). New Delhi: Dr. Ambedkar Foundation, Government of India.
5. Arumugam R. Ambedkar's notion of social justice: A different perspective. International Journal of Scientific and Engineering Research. 2011; 2:1-5.
6. Dr. Babasaheb Ambedkar Writings and Speeches Vol. 17 2003
7. Narendra Jadhav,2013, Ambedkar Speaks: 301 Seminal Speeches, Vol.2, Delhi: Konark Publishers, 356-361.
8. Elancheran, S. (2018). Dr Ambedkar's vision of equality through the Hindu Code Bill, Ambedkar King Study Circle, USA, retrieved from https://akscusa.org/2018/04/24/dr ambedkars-vision-of-equality-through-hindu-code-bill/
9. Mandal B. Dr. B.R. Ambedkar: a champion of women's rights and empowerment. Contemporary Voice of Dalit. 2011;4:79-90. DOI: 10.1177/0974354520110108.
10. Ambedkar BR. Dr. Babasaheb Ambedkar: writings and speeches. 1st ed. Dr. Ambedkar Foundation, Ministry of Social Justice & Empowerment, 2019.
11. Singariya. Dr. B.R. Ambedkar and women empowerment in India. Quest Journals Journal of Research in Humanities and Social Science. 2014;1:01- 04.
12. B. E. H. F. "Social Reform in India: The Hindu Code Bill." *The World Today*, vol. 8, no. 3, 1952, pp. 123–132.
13. Constituent Assembly Debates, Vol. IV
14. Banningan, John A. "The Hindu Code Bill." Far Eastern Survey, vol. 21, no. 17, 1952, pp. 173–176. JSTOR, www.jstor.org/stable/3024109. Accessed 2Oct. 2020.
15. Rege, Sharmila. "Against the Madness of Manu: B.R. Ambedkar's Writings on Brahmanical Patriarchy". Navyana Publishing Pvt. Ltd. 2013
16. Banningan, John A. op.cit. p. 175-76
17. Chakravorty, Sanchaali and Ramakrishnan, Pranav, Case analysis: Rakesh Sharma v. Vineeta Sharma (2020) 9 SCC 1 (June 7, 2023). Available: SSRN: https://ssrn.com/abstract=4471378 or http://dx.doi.org/10.2139/ssrn.4471378

DELMUL/2016/69323

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

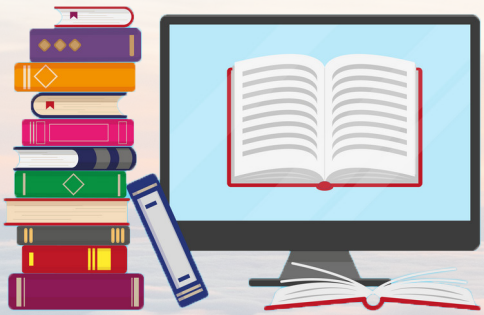

About Us

Arts & Commerce
Indology & Manuscripts
Law & Constitutions Medical
& Engineering Philosophy &
Spirituality Science & Social Sciences
Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar
Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards
Distribution Social Contribution
Typing Support Designing
Support Technical
Support Head
Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014 एक नज़र, सब पर

Branches

We recently
started our publication
branches
in five major cities of different
states of India i.e. Nazafgarh (Delhi),
Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) &
Udham Singh Nagar (Uttarakhand),
however, Head office
is situated
at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100,
Email : vaaksudhapublication@gmail.com, website : info@vaaksudhapublication.in